प्रकाशक
नारायणदत्त सहगल एण्ड सन्ज,
दिल्ली।

प्रथम संस्करण सन् १६६१

मूल्य छः रुपया पचास नये पैसे

मुद्रक
हरि हर प्रेस,
चावड़ी बाजार, दिल्ली।

BHARATIYA PRADESH AUR UN KE NIVASI Rs 6 50

उन्होंने अपनी राय मे हिन्दुस्तान को फतह किया, लेकिन आखिर मे हिन्दुस्तान ने उन लोगों को फ़तह कर लिया—इन मानो में केह उनको अपने अन्दर जज्ब कर लिया, पूरी तरह अपना लिया। आज हिन्दुस्तान मे आप और हम जितने भी लोग रहते हैं, ये सब उन सैंकडो कौमो के मेल-जोल का नतीजा हैं, जो हजारो बरसों मे यहाँ आईं। हिन्दुस्तान के करोड़ों आदमियो की यह क़ौम इस तरह बनी।

·· हम लोग भारत-माता के बच्चे हैं, चाहे हमारा धर्म कोई हो, चाहे हमारा प्रान्त कोई हो, हमारी भाषा कोई हो। जो भारत में रहते हैं, जो भारत मे पैदा हुए हैं, जिनकी जन्म-भूमि भारत है, वे सब भारत के हैं, चाहे उनकी कोई जाति हो, और कोई धर्म हो, वे सब भारतीय हैं।

···हमारा हिन्दुस्तान भी एक छोटी दुनिया है। इसमे कितनी अनेकता है, इसकी सब बातें हमें समझनी हैं। इतने बडे भारत मे हम तभी रह सकते हैं, जब हम एक दूसरे को समझें, एक दूसरे को बरदाश्त करें। न समझें, तो भी बरदाश्त करें। अगर हम एक दूसरे को बरदाश्त नही करेंगे, तो फिरइतने बडे मुल्क में लडाई होगी। लडाई न होगी, तो खींचा-तानी होगी। और इसमे हर एक का नुकसान होगा।

···हमारा समाज भारतीय समाज है, जिसमे सब लोग हैं। इसलिए पहला सवाल हमारे सामने है एक दूसरे को अपनाने का; उत्तर, दक्षिण और पूर्व पश्चिम को अपनाने का। यह आज की बात नहीं है, हजारों वर्षों से यह प्रथा चली आ रही है। एक दूसरे का आदर करना; इज्जत करना उनके धर्म की, उनके रहन-सहन के तरीकों की—यह हजारों वर्षों से हिन्दुस्तान की कहानी रही है। अशोक के जमाने से पत्थर पर लिखी हुई हैं यह सब बातें। क्या हम दो हजार वर्ष की परम्परा को छोड दें? इसको भूल जाएं, और छोटी-छोटी बातों पर झगडे करें? कभी भाषा के नाम पर, कभी धर्म के नाम पर, और कभी जाति के नाम पर? जाति-भेद, भाषा-भेद, धर्म-भेद या इसी प्रकार के दूसरे भेद प्रजातन्त्र में नहीं रह सकते।

···· हमारे हिन्दुस्तान की क़ौम, जो हिमालिया से लेकर कन्याकुमारी तक

फैली हुई है, उसमें एकता हो, उसमें ऊँचाई हो, वह बड़े दिल और दिमाग़ की हो, उसमें आपस में सहयोग हो, और वह खुशहाल बने, इसकी हम कोशिश करते हैं।

…जो चीज़ हमें लड़ाती है, अलग करती है, उसको छोड़ना है। हिन्दुस्तान में आज सबसे पहली बात है आपस में एकता और अनुशासन। हाथ-पैरों का अनुशासन नहीं, दिलों और दिमागों का अनुशासन—दिमाग़ी एकता और मानसिक एकता। यह सबसे बड़ा सवाल है। जो चीज़ इसके रास्ते में आती है, वह ग़लत है, चाहे वह धर्म का जामा पहने हो, या कोई और पोशाक पहने हो। ऐसी चीज़ों को हटाना है।

… मुझे ज़रा भी संदेह नहीं कि भारतीय गणराज्य सदृढ़ आधारों पर अवस्थित है, और हमें यह कल्पना भी नहीं करनी चाहिए कि यह ग़लत रुझान भी, जो हम इस समय देख रहे हैं, हमारी एकता की नींव को ढा देंगे, या कोई और बात हो जाएगी। हमारे लोगों में सामान्य उद्देश्यों के लिए मिलकर काम करने की योग्यता है। और मुझे विश्वास है कि हम अपनी सब समस्याओं को धीरे-धीरे हल कर लेंगे।

एकता की इस लड़ाई में हम निश्चय ही सफल होंगे।

भारत की उन महान विभूतियों को,
जिनके जीवन और कर्म से
भारतीय एकता की अजस्र धारा
प्रवहमान है।

संगठन

			पृष्ठ
प्रथम खंड			
	पूर्वी वर्ग		
		असमी	१७
		बंगाली	३८
		बिहारी	६८
		उड़िया	९२
द्वितीय खंड			
	दक्षिणी वर्ग		
		तमिल	११७
		मलयाली	१४०
		आन्ध्र	१६२
		कन्नडी	१८५
तृतीय खंड			
	पश्चिमी वर्ग		
		महाराष्ट्री	२०७
		गुजराती	२२९
		राजस्थानी	२५४
		पंजाबी	२८७
चतुर्थ खंड			
		कश्मीर	३२१
		हिन्दी-प्रदेश	३५१

लेखकीय

भारत की एकता का प्रश्न आज अपने सम्पूर्ण तात्कालिक महत्व के साथ हमारे सामने उपस्थित हुआ है। यह स्वय मे एक चुनौती है—इस देश के जाग्रत कर्णधारों के लिए, विचारकों, लेखकों और कलाकारों के लिए, और सब से बढ कर उन चवालीस करोड इन्सानो के लिए, जिन से मिलकर यह कौम बनी है।

एकता का प्रश्न अपने प्राथमिक चरण मे पारस्परिक सम्पर्कों का प्रश्न है। सम्पर्कों के अभाव से ही एक दूसरे के सम्बन्ध म अनेक मिथ्या धारणाओं, भ्रान्तियो और अधविश्वासो का उत्पत्ति होती है। सब सकीर्णवाद मूलत इन्ही पर आधारित हैं। प्रातीयता हो या साम्प्रदायिकता, भाषावाद हो या जातिवाद, जन साधारण के स्तर पर उसका मूलाधार कोरी अज्ञानता ही होती है। विशेष हितो वाले स्वार्थी तत्व तो केवल इस अज्ञानता का अनुचित लाभ ही उठाते हैं।

इसलिए आज सबसे पहली आवश्यकता है पारस्परिक सम्पर्क बढाने की—एक दूसरे को जानने, पहचानने और समझने की, और सबसे बढकर मिल कर चलने मे सब लोगों का जो सामान्य हित है, उसका अनुभव करने की। सीधे शब्दो म, यथार्थ जानकारी और तटस्थ ज्ञान की आवश्यकता है। जानकारी के बिना समझ पैदा नहीं हो सकती, और समझ के बिना एकता की भावना सुदृढ़ नहीं हो सकती।

प्रस्तुत पुस्तक का ध्येय केवल भावुकता से अपील करना नहीं है, यद्यपि भावुकता का भी जीवन म एक निश्चित महत्व है। भावपूर्ण अपीलें हमारे यहाँ प्राय नित्य ही की जाती हैं। कितनी सत्य निष्ठा के साथ की जाती है

यह सम्भवतः परिस्थितियों पर निर्भर करता है, क्योंकि अक्सर देखा गया है कि जो लोग आए दिन भाषा-वाद, साम्प्रदायिकता और जात-पांत आदि की निन्दा करते हैं, वही निर्वाचन के समय ठीक उन्ही आधारो पर वोटो की भिक्षा मांगते हैं। शायद इसीलिए इन अपीलो का कोई विशेष प्रभाव जनता पर होता नही। बात यह है कि एकता, चाहे वह किसी भी प्रकार की हो, शून्य मे नही हुआ करती ; और न वह लोगों के मस्तिष्क में स्वत. ही उत्पन्न हो जाती है। एकता के लिए कोई आधार होना चाहिए, कोई व्यापक आधारभूत विचार-धारा होनी चाहिए, और सबसे बढकर किसी ऐसे सुनिश्चित लक्ष्य का अनुभव होना चाहिए, जिसकी प्राप्ति मे अधिकाधिक लोगो का सामान्य हित निहित हो—और इसके लिए भी सब से पहली आवश्यकता है वास्तविकता को जानने की। वास्तविकता को जाने बिना हम अपने लक्ष्य को पहचान नहीं सकते।

प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा मे एक छोटा सा कदम है।

पुस्तक की विषय-वस्तु इसके नाम से ही प्रकट है। आज भारत के लगभग सभी सदस्य राज्य एक-एक भाषा को लेकर निर्मित हैं। जिसका अर्थ यह है कि देश के प्रत्येक प्रमुख भाषिक समूह के अपना अलग स्वायत्त-राज्य मिल गया है। इन भाषिक समूहो को अपने अलग-अलग सांस्कृतिक नाम हैं। कही प्रदेश से भाषा और लोगो का नाम पडा है, और कहीं लोगो से भाषा और प्रदेश का। कहीं-कही भाषा, देश और लोगों के नाम भिन्न-भिन्न हैं। इन सब कारणो से, एक नियम के रूप में, प्रत्येक भाषिक प्रदेश का वृत लिखते हुए सम्बन्धित जनता के सास्कृतिक जन-नाम का ही प्रयोग किया गया है, न कि प्रदेश-नाम का। इससे भारतीय राष्ट्रीयता के वास्तविक स्वरूप को समझने मे भी कुछ अधिक सुविधा होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

भारत के विभिन्न भाषिक समूह तथा उनके अन्तर्गत आने वाले संगठित सामाजिक वर्ग अपने अलग-अलग नामों के साथ एक-दूसरे से बहुत कुछ भिन्न हैं। प्रत्येक की एक प्राचीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, एक विशिष्ट सांस्कृतिक रूप-रेखा, कला-कौशल की परम्पराएँ, कुछ अलग से रीति रिवाज, अच्छे-बुरे आचार-विचार और आंतरिक सामाजिक व्यवस्थाएँ तथा भावात्मक सम्पत्ति और

चारित्रिक विशेषताएँ हैं। इन विभिन्नताओं की उपेक्षा करना अथवा इन्हें हीन और सर्वथा त्याज्य समझना भारी भूल ही नहीं, निपट मूर्खता भी है। ये विविधताएँ वास्तव में हमारे देश का गौरव और हमारे लिए गर्व की वस्तु हैं। उर्दू कवि के शब्दों में—

गुलहाय रंग-रंग से है रौनक़े चमन।

परन्तु इसके साथ ही समस्त देश में हिमालय से कन्याकुमारी तक जीवन और चिंतन की धाराएँ कुछ इस तरह मिली-जुली और परस्पर गुम्फित हैं कि एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। अलग करें, तो प्रत्येक की कहानी अधूरी रह जाती है। जिन सब बातों से यह कहानी पूर्ण होती है, वही वास्तव में हमारी चिरंतन एकता का व्यापक आधार हैं। उस आधारभूत सामान्य सम्पत्ति का परिचय प्राप्त करना तथा भारत की प्रकट अनेकता में उसकी मूल एकता के दर्शन करना ही इस पुस्तक का ध्येय है।

पुस्तक में दी गई यथार्थ जानकारी के मुख्य स्रोत तीन हैं—भारतीय इतिहास, कला-संस्कृति, भाषा साहित्य और धर्म व समाज सम्बन्धी प्रामाणिक पुस्तकें, उत्तम श्रेणी के पत्र-पत्रिकाओं में विद्वानों द्वारा लिखित सांस्कृतिक लेख, तथा केन्द्रीय व राज्य सरकारों के लोक-जीवन सम्बन्धी प्रकाशन। सम्मतियाँ लेखक की अपनी हैं, अथवा जिनकी हैं, उनके नाम उद्धरित हुए हैं।

विषय-सामग्री के निरीक्षण में जिन स्थानीय प्रादेशिक संस्थाओं और व्यक्तियों से सहायता मिली, उन सब का मैं हार्दिक धन्यवाद करता हूँ। पत्र-पत्रिकाओं में, जिन से विविध विषयों पर उपयोगी सामग्री उपलब्ध हुई, 'सरिता-कैरवन,' नवभारत टाइम्स और 'हिन्दुस्तान साप्ताहिक', दिल्ली , 'त्रिपथगा,' लखनऊ, 'धर्म-युग' और 'भारती' बम्बई तथा 'ज्ञानोदय' और 'विशाल-भारत' कलकत्ता के नाम उल्लेखनीय हैं।

'सरिता-कैरवन,' नई दिल्ली के संचालक व सम्पादक श्री विश्वनाथ का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ, जिन की सहृदयता और उदारता से मुझे बहुत सी संग्रहित जानकारी तक पहुँचने की सुविधा प्राप्त हुई। उन के प्रति मैं वास्तव में बहुत ही कृतज्ञ हूँ।

अंत में एक निवेदन करूँगा।

भारत के सब भाषा-भाषी लोगों का एक पुस्तक में सूत्र रूप से परिचय देने का यह सम्भवतः किसी भी भाषा में पहला प्रयास है। इसलिए अनेक कमियाँ और त्रुटियाँ अनिवार्य है। फिर लेखक को इस विषय में किसी विशेष अधिकार का दावा भी नहीं है। एक विद्यार्थी और पर्यवेक्षक के नाते जो कुछ अपनी अल्प बुद्धि से देखा, पढ़ा या अनुभव किया, उसे यहाँ यथासम्भव सरल और सुबोध रीति से भाषाबद्ध कर दिया है। हो सकता है कि हर प्रकार की सावधानी बरतने के बावजूद कहीं-कहीं कोई अशुद्धता, असंगति या भ्रांत धारणा प्रविष्ट कर गई हो। ऐसे स्थलों के लिए मेरे व्यक्तिगत ज्ञान और अनुभव की कमी अथवा अध्ययन की त्रुटि ही दायी है, जिस के सुधार के लिए मैं सर्वदा तत्पर रहूंगा।

इसलिए सुयोग्य पाठकों से मुझे पूरी आशा है कि वे जहाँ मेरी भूलों का संशोधन कराना चाहेंगे, वहाँ मेरी भावना और परिश्रम का भी उचित मूल्यांकन करेंगे।

वसंत कुमार चट्टोपाध्याय

३२३६, कूचा ताराचन्द
दरियागंज, दिल्ली-६

थम खंड

पूर्वी वर्ग

- असमी
- बंगाली
- बिहारी
- उड़िया

असमी

भारत संघ के पूर्वांचल में बिल्कुल छोर पर स्थित असम राज्य के निवासियों का नाम है असमी या असमिया । परन्तु साधारण बोल-चाल में प्रदेश को 'आसाम' और लोगों को 'आसामी' भी कहा जाता है । 'आसाम' या 'असम' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में मौलिक मतभेद है । कुछ विद्वान् इसे संस्कृत का 'असम' शब्द मानते हैं, जिसका अर्थ है अतुल्य, अद्वितीय । धारणा है कि इस प्रदेश के अनुपम प्राकृतिक सौंदर्य के कारण ही इसका यह नाम पड़ा । 'असम' का अर्थ 'ऊँची-नीची पहाड़ी भूमि' भी हो सकता है । और इन अर्थों में भी यह नाम उपयुक्त ही है, क्योंकि असम का लगभग दो तिहाई भाग पर्वतीय और विषम है । परन्तु कुछ अन्य विद्वानों के मतानुसार यह शब्द वास्तव में बर्मी नाम 'अहोम' का एक परिवर्तित रूप है । और 'अहोम' उस बर्मी-शान राज-वंश का नाम था, जिसने मध्ययुग से आधुनिक काल के प्रारम्भ तक आसाम के बड़े भाग पर राज्य किया । यह दूसरा मत ही यथार्थ के अधिक निकट जान पड़ता है, क्योंकि आसाम का वर्तमान नाम अहोम राज्य के अंतिम काल से ही प्रचलित हुआ । उसके पूर्व के इतिहास और साहित्य में इस प्रदेश का 'असम' नाम कहीं नहीं मिलता ।

इतिहास

पौराणिक कथाओं में आसाम का उल्लेख 'प्राग्ज्योतिष' के नाम से आया है । तब इस की राजधानी का नाम था 'प्राग्ज्योतिषपुर', जिसका अर्थ 'पूर्व की ओर की ज्योति का नगर' है । परन्तु इस नामकरण का एक सरल

कारण यह भी हो सकता है कि उस काल मे यह प्रदेश वस्तुतः ज्योतिष-विद्या, गणित और नक्षत्र-विज्ञान का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। गौहाटी के समीप नवग्रहों का मंदिर आज भी विद्यमान है। कालीदास ने अपने 'रघुवंश' मे इस प्रदेश का नाम 'नीललोहित' लिखा है, क्योंकि यहाँ की पहाड़ियाँ नीली दिखाई पड़ती हैं और यहाँ लाल रंग की उत्ताती नदी बहती है, यह नदी है ब्रह्मपुत्र। आज भी आसाम के उत्तर-पूर्व मे बिल्कुल छोर के सीमांत क्षेत्र का नाम 'लोहित' है। ब्रह्मपुत्र महानदी तिब्बत से उतर कर इसी क्षेत्र मे से प्रवाहित होती है।

इस प्रदेश का एक प्रसिद्ध नाम 'कामरूप' भी है, जिसका शाब्दिक अर्थ है सुन्दर। प्राग्ज्योतिष और कामरूप—ये दोनो नाम 'कालिका पुराण,' 'योगिनी तंत्र,' भागवत, रामायण और महाभारत आदि ग्रंथो मे मिलते हैं। 'कामरूप' तो इस प्रदेश का ऐतिहासिक नाम ही है। और इस नामके साथ भारतीय लोक-कथाओ मे अनेक रोचक और अलौकिक बातें सम्बद्ध हैं। आज यह नाम आसाम के एक जिले का है।

इस प्रदेश का कामरूप नाम पडने की पौराणिक कथा इस प्रकार है कि कामदेव ने भगवान् शिव की तपस्या भंग करने का दुःसाहस किया था, जिस से क्रोधित हो शिव ने उसे अपने तीसरे नेत्र द्वारा भस्म कर दिया। शरीर विहीन हो जाने पर कामदेव ने एक दीर्घ काल तक शिवजी की आराधना की, जिससे प्रसन्न हो कर भगवान् ने उसे पुनः रूप प्रदान किया। ये घटनाएं जिस देश मे घटी, उसका नाम 'काम' (देव) और 'रूप' के संयोजन से कामरूप बना।

पुराणों के अनुसार आसाम का प्राचीनतम अनार्य शासक नरकासुर था, जो श्रीकृष्ण के हाथों मारा गया था। वर्तमान गौहाटी, जो उस काल मे प्राग्-ज्योतिषपुर' कहलाती थी, उस की राजधानी थी। गौहाटी के समीप नीलाचल पर्वत पर स्थित कामाख्या का प्रसिद्ध तांत्रिक मंदिर भी उसी का बनवाया हुआ बतलाया जाता है। उसका पुत्र भगदत्त दुर्योधन की ओर से कुरुक्षेत्र की रण-भूमि में लड़ने गया था, और पांडु-पुत्र वीर अर्जुन के हाथों मारा गया था। महाभारत के अनुसार भगदत्त की सेना म हजारो हाथी तथा यक्ष (चीनी) और किरात (मंगोली ?) जातियों के योद्धा थे। इससे प्रकट होता है कि उस समय

मंगोली जाति के लोग आसाम मे बस चुके थे। सम्भवतः उसी समय से यहाँ आर्यों का आगमन आरम्भ हुआ।

ऐतिहासिक काल मे आसाम का कुछ हाल चीनी यात्री ह्वएन्-सियांग के यात्रा-वृत्त मे मिलता है। ह्वएन्-सियांग ने ६४० ई० मे इस प्रदेश का भ्रमण किया था। तब इसका नाम कामरूप और राजा का नाम भास्कर वर्मण था। ह्वएन्-सियांगने कामरूप का जो वर्णन दिया है, वह इस प्रकार है—कामरूप देश १८०० मील के वृत्त मे फैला हुआ है। केवल राजधानी की परिधि ५ मील से अधिक है। भूमि उपजाऊ है और यहाँ नियमित्त रूप से खेती होती है। देश-वासी कुछ कालापन लिए हुए पीले रग के और ठिगने कद के हैं। इन की मुखा-कृति बडी भयानक और हाथ-पाँव खूब मजबूत हैं। ये शत्रु के विरुद्ध बडे लड़ाकू और खूँखार हैं, परन्तु मित्रो और अतिथियो के साथ बडी नम्रता और निष्ठा का व्यवहार करते हैं। शासक कुमार भास्कर वर्मण ब्रह्मण हैं। वह स्वय विद्वान तथा विद्वानों के गुणग्राहक हैं। दूर-दूर से विद्यार्थीगण उनकी राजधानी मे एकत्र होते हैं। राज्य के दक्षिण-पूर्व मे समस्त क्षेत्र जगली है, जहाँ हाथियों के गल्ले घूमते-फिरते हैं। इस देश मे सब भारी कामो के लिए तथा युद्ध में हाथियो का ही प्रयोग किया जाता है। लगभग २०० मील दक्षिण मे 'समतात' (पूर्वी बगाल) का देश है।' आसाम की परिस्थितियाँ आज भी प्राय. ऐसी ही हैं।

कामरूप का राजा भास्कर वर्मण उत्तरी भारत के अंतिम हिन्दू सम्राट हर्ष-वर्धन का समकालीन था। तब से लेकर तेरहवी शती के प्रारम्भ तक आसाम के विभिन्न भागो पर आदिवासी सरदारो का आधिपत्य रहा। इनमे कई प्रसिद्ध राजे हुए, जैसे राजा प्रलम्भ का वशधर बाल वर्मण और ग्यारहवी शती मे हुआ शक्तिशाली राजा रत्नपाल। पाल राजे 'बोडो' (मगोली) जाति के थे और आर्यों के सम्पर्कमे आने से हिन्दू हो गए थे। वैसे ये सब राजे स्वय को आसाम के आदिकालीन पौराणिक शासक नरकासुर का वशज बतलाते थे, और धर्म से शिवपूजक थे। ग्यारहवी और बारहवी शतियो मे आसाम का कुछ भाग बगाल के पाल और सेन वशो के भी अधीन रहा। बाद मे देववश के राजा पृथु ने

बख्तियार खिलजी और ग्यासुद्दीन बलबन के ग्रासाम पर किए ग्राक्रमणों को विफल किया।

तेरहवीं शती के प्रारम्भ से ग्रासाम के इतिहास ने एक नया और गौरवमय मोड़ लिया। १२२८ ई० के लगभग पूर्वी बर्मा के 'ग्रहोम' सरदारो ने ग्रासाम पर ग्राक्रमण कर यहाँ ग्रपना छत्रपति राज्य स्थापित किया। उनके वंशज उत्तरी ग्रासाम पर लगभग ६०० वर्ष तक कुशलतापूर्वक राज्य करते रहे। उनके राज्यकाल में यह प्रदेश राजनीतिक और सांस्कृतिक उन्नति तथा समृद्धि के शिखर पर पहुँचा। ग्रासाम का वर्तमान नाम उसी राजवश के नाम पर पड़ा है।

ग्रहोम राजाग्रो के समय से ही ग्रासाम का क्रमबद्ध इतिहास शुरू होता है। उन्ही के युग मे उन ऐतिहासिक वृत्तों ग्रथवा ग्रभिलेखो का सबसे ग्रधिक विकास हुग्रा, जिन्हें ग्रसमी साहित्य मे 'बुरंजी' के नाम से ग्रभिहित किया जाता है। ग्रहोम राजे ग्रासाम को 'कोमुग डुनचुन धाम' ग्रर्थात 'सुनहले बाग़ों वाला देश' कहा करते थे। इससे उनका ग्रभिप्राय सम्भवतः पकी हुई धान के खेतों से था, जो ब्रह्मपुत्र की घाटी मे सर्वत्र लहलहाते थे।

ग्रासाम के कुछ भागों मे 'कचारी' ग्रौर 'कूच' राजाग्रो का भी राज्य था। ग्रहोम की तरह कचारी ग्रौर कूच गण भी मगोली नस्ल से थे, ग्रौर ग्रार्य पडितों के सम्पर्क में ग्राने से हिन्दू हो गए थे। कूच राजाग्रों का पुराना राज्य कूच-विहार ग्रब पश्चिमी बगाल का एक ज़िला है।

मध्य युग से ग्राधुनिक काल के प्रारम्भ तक का ग्रसमी इतिहास ग्रहोम, कचारी ग्रौर कूच राजाग्रों के पारस्परिक युद्धों तथा ग्रहोम राज्य पर बगाल के पठान ग्रौर मुग़ल शासकों के निरंतर ग्राक्रमणों का इतिहास है। इस दीर्घ काल खंड मे ग्रासाम पर मुसलमानों ने १८ ग्राक्रमण किए। परन्तु ग्रसमी योद्धाग्रों ने उन्हें हर बार परास्त कर भगा दिया। एक समय में इस प्रदेश का कुछ भाग कामतापुर भी कहलाता था। 'ग्राईने-ग्रकबरी' मे लिखा है कि यहाँ के राजा नरनारायण के पास एक हज़ार हाथी ग्रौर एक लाख पैदल सेना थी।

शाहजहान के राज्य-काल मे ग्रहोम सेना डोंगियो का बेड़ा बनाकर ब्रह्मपुत्र

नदी के रास्ते गंगा के मुहाने तक मार किया करती थी। औरंगजेब के समय में कामरूप आसाम को जीतने के लिए कई अभियान भेजे गए। परन्तु तत्कालीन अहोम राजा चक्रध्वजसिंह के सुयोग्य सेनापति ललित बरफूकन ने मुगल सेना को हर बार आसाम से मार भगाया। बंगाल के सूबेदार मीर जुम्ला ने एक बार अहोम राजधानी पर अधिकार भी कर लिया था, परन्तु उसे शीघ्र ही विवश होकर वहाँ से अपनी सेना हटानी पड़ी। और उसी वापसी के दौरान में भीषण वर्षा और तूफान में उसकी मृत्यु हुई। मुसलमान इतिहासकारों ने इन लड़ाइयों का वर्णन करते हुए अहोम राजाओं की प्रचंड सैन्यशक्ति का प्रशंसा के साथ उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—'अहोम' राज्य के सैनिक अत्यंत कुशल और वीर योद्धा हैं। वे अपने सम्मुख बड़ी से बड़ी शक्ति का भी कुछ महत्व नहीं मानते।' उस काल का एक स्मृति-चिन्ह टेक्म् नामक स्थान पर आज भी विद्यमान है। यह एक बड़ी तोप है, जिस पर औरंगजेब द्वारा लिखवाया गया पहला लेख फ़ारसी भाषा में इस प्रकार है—'कामरूप की विजय के लिए ढाली गई।' उसके नीचे अहोम राजा ने संस्कृत में लिखवाया है—'रण-क्षेत्र में मुसलमानों से छीनी गई। अंतत १६८१ ई० में अहोम राजा गदाधर सिंह ने मुगलों को आसाम से बिल्कुल भगा दिया। इस प्रकार आसाम पर कभी भी मुसलमानी आधिपत्य न हो सका। और उन कई शताब्दियों में जबकि प्राय सारे भारत पर मुसलमानी साम्राज्य की विजय पताका फहरा रही थी, आसाम ने अपनी स्वतन्त्रता बनाए रखी। आज के असमियों को अपने इस इतिहास का अत्यधिक गर्व है, जो उचित ही है।

आसाम में अहोम राज्य की अवनति और ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना की कहानी कम या अधिक वैसी ही परिस्थितियों के इर्द गिर्द घूमती है, जैसी कि भारत में अन्यत्र उत्पन्न हुई, और जिनके परिणामस्वरूप एक के बाद दूसरा भारतीय राज्य परतंत्र होता गया। शासकों का भोग-विलास में लीन होना, नीति और कर्त्तव्य की अवहेलना, आपसी कलह, दरबारी षड्यंत्र और गृह-युद्ध तथा बर्मियों के आक्रमण और उनके विरुद्ध अहोम राजाओं की अंग्रेजों से सहायता की प्रार्थना—इन सब कारणों ने मिल कर १८२३ ई० तक आसाम की स्वत-

त्रता का अन्त कर दिया। कुछ वर्ष बाद १८३२ ई० में अंग्रेजी सरकार ने अंतिम अहोम राजा पुरधर सिंह को बिल्कुल ही पदच्युत कर सारे आसाम को पूर्ण रूप से अपने अधिकार में ले लिया। तब से लेकर अब तक का इतिहास भारत के सामान्य इतिहास का अंग है। इस लिए यहाँ उसकी पुनरावृत्ति की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। १९४७ ई० में स्वतन्त्रता प्राप्ति पर बगाल के दूसरे विभाजन के साथ आसाम का जिला सिलहट उससे काट कर पूर्वी पाकिस्तान को दे दिया गया। तभी से आसाम का वर्तमान रूप चला आ रहा है। अभी हाल में उसके पूर्वी सीमावर्ती पहाडी क्षेत्रों में रहने वाले नागा लोगों के लिए पृथक 'नागालैंड' स्वायत्त राज्य की स्थापना की घोषणा की गई है।

देश और जाति

आसाम दो बडी-बडी नदी-घाटियों का देश है। उत्तर में ब्रह्मपुत्र की घाटी है और दक्षिण-पश्चिम में सुरमा की। अधिकतर आबादी और खेती इन्हीं दो घाटियों में केन्द्रित है। उत्तरी और पूर्वी किनारों के साथ साथ गिरि-शृंखलाएँ चली गई हैं, और शेष क्षेत्र में नीची पहाड़ियां, जंगल, दलदल और घास के मैदान हैं। नदी नाले, जोहड और झीलें सर्वत्र हैं तथा चारों ओर वनस्पति का प्राचुर्य है। विस्तृत क्षेत्र जंगली सरकंडों से आवृत हैं, जो कहीं-कहीं बीस-बीस फुट तक ऊँचे गए हैं। इनमें विभिन्न प्रकार के जंगली जीव-जन्तु विचरण करते हैं। अभी हाल तक आसाम में इतने अधिक हाथी थे कि हाथी पकड़ने के सरकारी 'खेडा' विभाग द्वारा ४०० हाथी प्रतिवर्ष पकडे जाते थे। हाथी और गेंडे को तो यहाँ की राज्य-सरकार ने अपना राज-चिन्ह निर्धारित किया है।

आसाम का जल-वायु शीतल और सुखद है। केवल दो ही मौसम हैं—बरसात और सर्दियाँ, गर्मियाँ नहीं होतीं। बाढ़ और भूकम्प से अवश्य बहुत क्षति होती है। प्रति वर्ष बरसात में ब्रह्मपुत्र नदी असमियों की सहन शक्ति की परीक्षा लेती है। परन्तु इन्हीं बाढ़ों की सिंचाई से यहाँ धान, पटसन और अन्य फ़सलें प्रचुर परिमाण में होती हैं। भूकम्प से इस प्रदेश में अनेकों बार विनाश हो चुका है। १८९७ के भूकम्प में गौहाटी नगर का पूर्ण रूप से विध्वंस हुआ

था। यहाँ पिछला भूकम्प १९५० ई० मे ठीक स्वतन्त्रता-दिवस को हुआ, जिससे नदियो का प्रवाह रुक गया और पहाड अपने स्थान से हट गए। विशेषज्ञो के अनुसार उस प्रलयकारी भूकम्प की विध्वसक शक्ति दस लाख अणुबमो के बराबर थी। अकाल भी यहाँ कई बार पडा। १८८१ ई० मे भयानक बाढ़ के बाद भारी अकाल पडा था, जिससे इस प्रदेश की तत्कालीन जन-सख्या का एक-तिहाई भाग काल-कवलित हो गया था। कुछ भी हो, यहाँ के प्राकृतिक साधन प्रचुर है। यह कोयला और अन्य खनिज का भडार है। चाय, पेट्रोलियम् और इमारती लकडी इसके तीन मुख्य धन-स्रोत हैं। यह बात उल्लेखनीय है कि सारे भारत के चाय-बगानो का करीब आधा हिस्सा आसाम मे है। और पेट्रोल के उद्योग मे तो देश भर मे अब तक केवल आसाम ही गणनीय है।

आसाम को 'कौमों का अजायब-घर' कहा जाता है। यद्यपि यह बात एक प्रकार से सारे ही भारत पर लागू होती है, परन्तु आसाम मे इसका एक विशेष महत्व है। कारण यहाँ विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण से जिस मिली-जुली असमी जाति का विकास हुआ है, वह अपने शारीरिक गठन, रग-रूप और मुखाकृति की दृष्टि से सामान्य भारतीयों से बहुत कुछ भिन्न है। औसत असमी को उसके पीले अथवा कालापन लिए हुए पीले रग, ठिगने कद और मगोलाकार नाक-नक्शेसे भारतीयो के किसी भी जन समूह मे अलग पहचाना जा सकता है।

विद्वानो का मत है कि आसाम के प्राचीनतम निवासी आस्ट्रेलियायी जाति के लोग रहे होंगे। इस जाति को भारतीय इतिहास मे नाग जाति भी कहा गया है, और इसकी अन्य शाखाएँ मलय, इन्डोनेशिया और आस्ट्रेलिया के आदिवासियो के रूप मे मिलती हैं। बाद मे भारतीय द्राविड जाति के लोग यहाँ आए होगे। फिर उत्तर-पूर्व से तिब्बती-बर्मी, उत्तर से मगोली और पश्चिम से आर्य, इस क्रम से, आसाम मे प्रविष्ट हुए। यदि तिब्बती-बर्मी को मगोली जाति की ही एक शाखा माना जाए, तो वर्तमान असमी जनता की उत्पत्ति आस्ट्रे-लियायी, द्राविड, मगोलाइड् और आर्य इन चार जातियो के समन्वय से माननी चाहिए। इस प्रकार चार विभिन्न दिशाओ से आने वाली चार विभिन्न भाषा-भाषी जातियो के सहवास और सम्मिश्रण से आज के असमियो का विशेष रग-

रूप, नाक-नक्शा, रहन-सहन, धर्म और संस्कृति कला और कौशल तथा भाषा और भावनाओं का विकास हुआ है।

हिन्द-चीनी मंगोलाकार जाति की दो बड़ी शाखाएँ मानी जाती हैं। एक में मध्य आसाम के प्रमुख खसिया गण और उत्तर-पूर्वी सीमांत क्षेत्र के लड़ाकू कबीलों, जैसे सुबनसिरी, दाफला, मिरी, अबोर और मिश्मी, तथा पूर्वी सीमांत क्षेत्र के कबीलों, जैसे खाम्पती, सिंहपो, लुशाई और नागा गणों की गणना की जाती है। दूसरी शाखा में सियामी और बर्मी मंगोली हैं। आसाम में बसने वाले अधिकतर मंगोली गण आर्यों के सम्पर्क में आने से धीरे-धीरे हिन्दू हो गए। उन्होंने आर्यों की भाषा के साथ-साथ उनके नाम भी ग्रहण किए, जैसा कि बाद के अहोम राजाओं के क्षत्रिय नामों से प्रकट है। अहोम राजा सुंचेंगफ़ा ने १३५५ ई० में विधिवत यज्ञ करके हिन्दू धर्म स्वीकार किया, और अगले कुछ वर्षों में प्रायः सभी अहोम सरदारों ने उसका अनुसरण किया। ये राजे और सामंत राजपूतों की तरह हिन्दू सनातन धर्म के कट्टर अनुयायी और संरक्षक सिद्ध हुए। अठारहवीं शती के प्रारम्भ में हुआ अहोम राजा रुद्रसिंह कट्टरपंथी हिन्दू था। उसके बाद राजा शिवसिंह के शासन-काल में हिन्दू ब्रह्मण धर्म को राज्य का राज धर्म ही घोषित कर दिया गया।

धर्म और समाज

धर्म और संस्कृति की दृष्टि से आसाम के लोग हिन्दू-प्रधान हैं। परन्तु इन में हिन्दू धर्म की सभी परिपाटियाँ और रीति रिवाज तथा वर्ण-व्यवस्था के बंधन इतने सुस्पष्ट और सुदृढ़ नहीं हैं, जितने कि भारत मुख्य-भूमि में हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि आसाम में आर्यों का आगमन उस आदिकाल में ही आरम्भ हो चुका था, जब स्वयं उनमें जाति-पाँति की व्यवस्था अभी विकसित नहीं हो पाई थी। इसके अलावा आसाम में समुन्नत अनार्य जातियों की उपस्थिति तथा शक्तिशाली अनार्य राजाओं की दीर्घकालीन सत्ता से भी यहाँ जाति-पाँति के भेदभाव अधिक गहरे और कठोर नहीं बन पाए। उदाहरण के लिए आसाम की विशिष्ट हिन्दू जाति 'कलिता' का उल्लेख किया जा सकता

है, जो समाज-शास्त्रियों के मतानुसार उस समय के हिन्दुओं की स्मृति दिलाती है, जब उनमें जाति-पाँति की व्यवस्था अभी अस्तित्व में ही नहीं आई थी। ये लोग आसाम के परम्परागत चले आ रहे सामंत, शासक और सेना-नायक हैं, और अब स्वयं को क्षत्रियों में गिनते हैं। इसी प्रकार डोम आदि तथाकथित निकृष्ट जातियाँ, जो भारत मुख्य-भूमि में गंदगी उठाने का काम करती आई हैं, आसाम में मछेरों का काम करती हैं, और सवर्णों में गिनी जाती हैं।

एक सीधे वर्गीकरण के अनुसार आसाम में 'असमी' और 'पुल्तानी' ये दो 'समाज' माने जाते हैं। विशुद्ध असमियों में सामान्यतः ब्राह्मण, कलिता और कायस्थ आदि सवर्ण हिन्दुओं की गणना की जाती है। ये लोग स्वयं को भारत मुख्य-भूमि से आने वाले आर्यों के वंशज बतलाते हैं, और आसाम का वर्तमान सम्भ्रांत वर्ग हैं। पुल्तानियों में शेष सब लोग आ जाते हैं। यह बात भी उल्लेखनीय है कि अहोम राजवंश ने यद्यपि आसाम के बड़े भाग पर शतियों तक राज्य किया, परन्तु आर्य ब्राह्मण उन्हें एक प्रकार से अछूत ही समझते रहे। ब्राह्मण लोग उनके राज्य में विभिन्न राजकीय पदों पर नियुक्त होते थे, परन्तु स्वयं राजा के हाथ से पानी नहीं पीते थे। कुछ भी हो, बाद के अहोम राजाओं के नामों से प्रकट है कि वे स्वयं को क्षत्रिय मनवाना चाहते थे, और सम्भवतः ब्राह्मणों ने उनका यह दावा स्वीकार कर लिया था।

असमियों का लोक-धर्म वैष्णव मत है। गाँव-गाँव में इस सम्प्रदाय के केन्द्र हैं, जिन्हें 'नाम-घर' कहते हैं। लोग प्रति सांय भजन-कीर्तन आदि के लिए इन नामघरों में एकत्र होते हैं। इनके अध्यक्ष गोसाईं (गोस्वामी) कहलाते हैं। असमी जन-जीवन में गोसाइयों का बड़ा प्रभाव रहा है। और यद्यपि आज आधुनिक शिक्षा और राजनीतिक अधिकारों के कारण लोगों के विचारों में बड़ा परिवर्तन हो गया है फिर भी ग्रामीण जनता में गोसाइयों की प्रतिष्ठा बनी हुई है। गोसाईं अधिकतर ब्राह्मण हैं, परन्तु आसाम में जाति-पाँति की अनिश्चितता के कारण कुछ कलिता और कायस्थ लोग भी गोसाईं कहलाते हैं।

असमियों के आराध्य देवों में श्रीकृष्ण तो खैर वैष्णव धर्म के प्राण ही हैं; उनके अलावा शिव की अर्धांगिनी के रूप में शक्ति और काली की

पूजा भी खूब प्रचलित है। गौहाटी के निकट कामाख्या का मंदिर शक्ति पूजा के प्रतीक-स्वरूप समस्त भारत में प्रसिद्ध हैं। और प्राय: सभी प्रदेशों के सनातन धर्मी हिन्दू इस मन्दिर को एक पवित्र तीर्थ-स्थान मान कर देवी के दर्शनों के लिए यहाँ एकत्र होते हैं। किसी काल में यह सारा प्रदेश तान्त्रिक पद्धतियों का गढ़ था, और नर-बलि भी यहाँ होती थी। बाद में वैष्णव-धर्म के प्रचार से शाक्त-धर्म का वह पुराना वीभत्स रूप कम होता गया। मुसलमानों के आगमन से इस्लाम धर्म भी फैला। और उसके प्रभाव से संत परम्परा का सूत्रपात हुआ। संतों में श्री शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित महापुरुषिया धर्म असमियों की एक विशेष धार्मिक विचार धारा है। यह नव-वैष्णव सम्प्रदाए बंगाल के ब्राह्मो समाज और पंजाब के आर्य समाज की तरह मूर्ति-पूजा और जाति-पांति भेद-भाव का विरोधी है। इससे सम्बंधित 'सत्र' कहलाने वाले मठों ने असमी जन-जीवन को बहुत प्रभावित किया है।

आदिवासी साधारणत प्रकृति-पूजक कहलाते हैं। वे नाना प्रकार की शुभ और अशुभ प्रेतात्माओं में आस्था रखते हैं। मैदानी क्षेत्रों के आदिवासियों पर ब्राह्मण धर्म का प्रभाव है। परन्तु सीमावर्ती पहाड़ी क्षेत्रों में विदेशी ईसाई मिशनरियों के प्रयत्नों से ईसाई धर्म का बहुत प्रचार हो गया है। इससे विशेष कर नागा क्षेत्र में कुछ जटिल राजनैतिक और सुरक्षा-सम्बंधी समस्यायें उत्पन्न हुई हैं। सब जानते हैं कि नागा लोगों के एक वर्ग ने किस प्रकार कुछ अग्रेजी पढ़े हुए ईसाई नेताओं के नेतृत्व में 'स्वतन्त्र नागास्तान' के नाम पर सरकार और राष्ट्र के विरुद्ध हथियार तक उठा रखे हैं, और अपने अधिकृत क्षेत्र में वर्षों से उपद्रव मचाए हुए हैं।

नागा

नागा लोग भारत-चीनी मंगोलाकार जाति की सब से महत्वपूर्ण शाखा हैं। ब्रह्मपुत्र घाटी और उत्तरी बर्मा के बीच का पहाड़ी सीमांत प्रदेश इन लोगों का देश है। इसके दो भाग हैं: नागा पहाड़ियों का जिला और त्यूएनसांग। हाल ही में इन दो क्षेत्रों को मिलाकर 'नागालैंड' के नाम से पृथक स्वायत्त-

राज्य स्थापित करने की घोषणा की गई है। कोहिमा उस क्षेत्र का मुख्य नगर है।

नागा का अर्थ कुछ लोग नग्न या नगा बतलाते हैं। यानी ये लोग चूकि प्राय. नगे रहते हैं, इसलिए इनका यह नाम पडा। भारत में एक साधु-सम्प्रदाय विशेष इसी कारण 'नागा' कहलाता है। परन्तु असम के मैदानी लोग सभी पहाडी जन-जातियो को 'नागा' कहते हैं। कभी इनका सम्बन्ध भारत की प्राचीन नाग जाति से भी जोडा जाता है, जो आर्यों के आगमन के पूर्व सारे उत्तर-भारत मे वास करती थी।

असमी नगाओ की पाँच मुख्य शाखाएँ हैं—अगामी, आओ, लहोता, सेमा और रेंगमा। फिर इनकी सोलह उपशाखायें हैं। ये सब कबीले एक दूसरे से अलग-अलग रहते हैं और बहुधा आपस मे लडते रहते हैं। इनके सम्बन्ध मे यह बात भी उल्लेखनीय है कि अभी कुछ काल पूर्व तक ये लोग नर-मुडों का शिकार करते थे। नागाओ के कुछ परिवार अब बहुत सुसस्कृत और धनवान् हो गए हैं। परन्तु आम नागा आज भी उजड्ड और जगली ही हैं।

भाषा और साहित्य

असमियो की भाषा असमी है, जिसे 'असमिया' कहते हैं। पर तु असमिया सारे आसाम की भाषा नही है। दक्षिणी आसाम म सुरमा के घाटी के लोगो की भाषा बगला है। ये लोग बगालसे ही आकर यहाँ बसे हैं। इसलिए ये आज भी स्वय को बगाली ही कहते हैं। इस कारण इनके और असमियो के बीच वैमनस्य बना रहता है।

शुद्ध असमी भाषा केवल उत्तरी आसाम मे ब्रह्मपुत्र की घाटी तक सीमित है। पहाडियो पर चाय बगानो मे बिहारी मजदूरो और जगह-जगह मारवाडी व्यापारियो की उपस्थिति के कारण हिन्दी भी चलती है। इन तीन भाषाओ के अलावा आदिवासी जन-जातियो की अपनी अलग-अलग बोलियाँ हैं, जिनकी सख्या सौ से ऊपर जाती है। इनमे बोडो, कछारी, खसिया, मिकिर, मीजू, मिरी और नागा बोलियाँ तथा गारो, मणिपुरी और लुशाई आदि मुख्य हैं। इन आदि-वासी बोलियो के सम्बन्ध मे मजे की बात यह है कि पास-पास रहने वाले कबीले

भी एक दूसरे की बोली नहीं समझते । विभिन्न गणों के ग्रादिवासियों को जब ग्रापस मे बात-चीत करनी होती है, तो वे टूटी-फूटी ग्रसमिया से ही काम चलाते हैं । परन्तु ये लोग ग्रब ग्रपने लिए ग्रग्रेजी या हिन्दी की मांग करने लगे हैं । इस प्रकार ग्रासाम की भाषिक समस्या काफी जटिल हो गई है ।

ग्रसमी भाषा उत्तर-भारतीय ग्रार्य भाषा-परिवार की पूर्व की ग्रोर की बिल्कुल छोर की भाषा है । यह पूर्वी भारत की ग्रन्य तीन भाषाग्रो—बगला, बिहारी ग्रौर उडिया—की तरह मागधी ग्रपभ्रंश से निकली है । शब्द-रूप, वाक्य-रचना ग्रौर उच्चारण की दृष्टि से यह बगला के ग्रनुरूप है । शब्द ग्रधिकतर तद्-भव हैं, परन्तु उच्च साहित्यिक स्तर पर तत्सम शब्दों का भी खूब प्रयोग होता है । तिब्बती-बर्मी का भी काफी प्रभाव है । वर्ण-माला सस्कृत पर ग्राधारित है , केवल एक-दो ग्रक्षरों का ग्रतर है । लिपि वही है, जो बगला मे चलती है ।

साहित्य की दृष्टि से ग्रसमी का ग्रमूल्य कोष वे ऐतिहासिक वृत्त या ग्रभिलेख हैं, जिन्हें 'बुरंजी' के नाम से ग्रभिहित किया जाता है । इस साहित्य का सबसे ग्रधिक विकास ग्रहोम राजाग्रो के ग्राश्रय मे हुग्रा था । ग्रहोम राज-दरबारों के मुख्यत गद्य मे लिखे इन ऐतिहासिक ग्रभिलेखों के विषयमें सर जार्ज ग्रियर्सन का कथन है—'ग्रसमी लोग ग्रपने राष्ट्रीय साहित्य के प्रति गर्व ग्रनुभव करते हैं । यह गर्व उचित ही है । ज्ञान ग्रौर ग्रध्ययन की एक ऐसी शाखा मे वे सर्वाधिक सफल हुए हैं, जिसमे भारत सामान्यत बहुत पिछडा हुग्रा है । बुरंजियों की ऐतिहासिक रचनाएं ग्रगणित हैं, ग्रौर बहुत बडी बडी हैं । ग्रसमी नागरिक के लिए इन बुरंजियों का ज्ञान एक ग्रावश्यक ग्रौर ग्रनिवार्य गुण माना जाता है ।' इस ऐतिहासिक साहित्य के ग्रतिरिक्त ग्रहोम राज दरबारो के ग्राश्रय म वैद्यक, ज्योतिष, गणित, नृत्य ग्रौर स्थापत्य के विषयो म भी गद्य ग्रौर पद्य म ग्रनेक ग्र थ लिखे गए । इस दृष्टि से ग्रहोम राज्य काल की ग्रन्तिम दो शताब्दियां ग्रसमी साहित्य ग्रौर सस्कृति के विकास का स्वर्ण-युग मानी जाती हैं ।

ग्रसमी साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास पन्द्रहवीं शती म शकरदेव द्वारा प्रवर्तित नव-वैष्णव ग्रान्दोलन के उदय से शुरु होता है । तब से लेकर ग्राधुनिक

युग के प्रारम्भ तक असमी मे बहुत सा धार्मिक साहित्य रचा गया। इसमे रामायण, महाभारत और भागवत के अनुवाद, उनके आधार पर व्याख्यान आदि, वैष्णव सिद्धांतो के भाष्य और टीकाएँ तथा भाव-गीत और नाटक आदि की गणना की जाती है।

अन्य भारतीय भाषाओ की तरह असमी का आधुनिक साहित्य भी उन्नीसवी शती के पूर्वार्द्ध मे ईसाई मिशनरियो द्वारा छापेखाने की स्थापना से शुरू हुआ। कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुछ तरुण असमी छात्रो ने उसे देशीय रूप प्रदान किया। उनकी रचनाएँ स्वभावत अग्रेजी और बगला के रोमाटिक साहित्य से प्रभावित थी। इस प्रकार असमी ने शुरू ही से बगला का अनुकरण किया। उन्नीसवी शती के प्राय सभी असमी साहित्यकार, जिनमे हितेश्वर बड़बरुआ विशेष प्रसिद्ध हुए, एक ओर अग्रेजी के महान कवियो और दूसरी ओर मधुसूदन दत्त, बकिमचन्द्र चैटर्जी से, और वर्तमान शती के प्रारम्भ मे महाकवि ठाकुर और शरत् से प्रेरणा ग्रहण करते थे। असमी साहित्य पर बगला के अत्यधिक प्रभाव का एक उदाहरण आसाम का रग मच है। आसाम मे यद्यपि 'अकिया-नाट' नाम के अपने लोक-नाटक शतियो से चले आ रहे हैं, परन्तु आधुनिक रग-मच पर अभी हाल तक बगला लेखको की रचनाएँ ही प्रस्तुत की जाती थी।

वर्तमान शती के पूर्वार्द्ध म जिन अनेक साहित्यकारो ने असमी साहित्य और देश-व्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन को योगदान दिया, उनमे कमलाकान्त भट्टाचार्य, नीलमणि फूकन, अविकागिरि राय चौधरी, कवयित्री नलिनीबाला देवी, नाटककार पद्मनाथ गोहाई बरुआ और चन्द्रकान्त फूकन, उपन्यासकार रजनीकान्त बरदलै और कहानीकार लक्ष्मीनाथ शर्मा विशेष प्रसिद्ध हैं।

असमी साहित्य अपने प्रारम्भिक बगला प्रभाव के बावजूद मूल रूप से स्थानीय और देशीय विषयो को लेकर ही विकसित हुआ है। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि असमी उत्तर-भारतीय भाषाओं मे सम्भवत' एक मात्र भाषा है, जिसम आदिवासियों के जीवन पर उच्चकोटि के नाटक, उपन्यास, कविताएँ, निबन्ध और कहानियाँ लिखी गई हैं। असमी साहित्य म आदिवा-

सियो के प्रति जो अपनत्व और आंचलिक प्रकृति का जैसा सजीव चित्रण मिलता है, वैसा उड़िया के अतिरिक्त और किसी भी उत्तरी भाषा के साहित्य में दृष्टिगत नहीं होता। इसमें आधुनिक असमी साहित्य की लोकतन्त्रात्मक प्रवृत्तियों का संकेत मिलता है।

आज का असमी साहित्य किसी भी अन्य भारतीय भाषा के साहित्य से पिछड़ा हुआ नहीं है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से कितनी ही असमी रचनाएं हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवादित हुई हैं। कई असमी कृतियों पर सरकार की ओर से पुरस्कार भी दिये गए हैं। जैसे यतीन्द्रनाथ दुआरा कृत 'वनफूल', जिसे स्वतन्त्र भारत मे प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ असमी रचना के नाते केन्द्रीय साहित्य अकादेमी की ओर से पुरस्कृत किया गया।

असमिया के आधुनिक लेखकों मे कवि ज्योतिप्रसाद अग्रवाल, उपन्यासकार राधिका मोहन गोस्वामी और प्रफुल्लदत्त गोस्वामी तथा कथाकारों में अब्दुल मलिक, जोगेश दास और वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य के नाम उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक निबन्ध के क्षेत्र में सूर्यकुमार भुइयां और विरिंचिकुमार बरुआ विशेष प्रसिद्ध हैं।

त्योहार, गीत और नृत्य

असमी अपने त्योहारों को 'बिहु' कहते हैं। इनमे 'बहाग' या वैशाख बिहु असमियों का सबसे बड़ा त्योहार है। यह उत्तर-भारत की वैशाखी के सदृश अप्रैल के मध्य में फसल कटने पर मनाया जाता है। इन्हीं दिनो में गोरु (गाए) बिहु और रोंगली बिहु के अवसरों पर ढोर डंगर नहलाए और सजाए जाते हैं। बिहु का क्रम जनवरी में ही शुरू हो जाता है, जब भोगली बिहु के उपलक्ष्य मे हर गांव म पिंडाल लगता है, और युवक-युवतियां रात-रात भर नाच-गान मे मग्न रहती हैं। अगले दिन सवेरे पिंडालों को आग लगाई जाती है और भैंसों की लड़ाई का तमाशा होता है। इनके अलावा दो और बिहु 'माघ बिहु' और 'काटी बिहु' हैं।

देशीय धर्म-नेताओं शंकरदेव और माधवदेव की बरसियां भी बड़े उत्साह

ग्रौर श्रद्धा के साथ मनाई जाती हैं। दोलयात्रा के रूप मे होली, भूलन ग्रौर रथयात्रा भी विशेष त्यौहार हैं। इन सब अवसरो पर लोग अपने गीतो ग्रौर नाचो से दिल बहलाते हैं। इन गीतो को 'बिहु गीत' ग्रौर नाचो को 'बिहु नृत्य' कहते हैं। असमी लोक गीतो मे शादी के गीत, वर गीत, वन गीत आदि कई किस्में हैं। इनके साथ मादल ग्रौर ढोल वजाए जाते हैं। प्रत्येक जाति का अपना अलग नाच ग्रौर गान है। ग्रादिवासियो का तो नित्य जीवन ही गीत ग्रौर नृत्य से ग्रोतप्रोत है।

असम मे लोक-नृत्य का विपुल ग्रौर समृद्ध भडार है। पाच सौ वर्ष पूर्व श्री शकरदेव द्वारा स्थापित वैष्णव मठो ग्रौर सत्रो मे कीर्तन नृत्य की अटूट परम्परा चली आ रही है। ये सत्रीय नृत्य भगवान कृष्ण की ग्राराधना के लिए है। इन मे केलिगोपाल' अथवा कृष्ण-लीला नामक नृत्यमे श्रीकृष्ण के जीवन की भाँकियाँ दिखाई जाती हैं। श्री कृष्ण द्वारा बकासुर ग्रौर शखासुर दैत्यो के सहार के बाद 'महारास नृत्य' प्रारम्भ होता है, जिस मे विष्णु के दसो अवतार दर्शाए जाते हैं। यह असमी लोगो का सर्वप्रिय धार्मिक नृत्य-नाटक है।

मंदानी लोगो मे, जो स्वय को विशुद्ध असमिया कहते हैं, 'भावना' ग्रौर 'पुतला' नाम के लोक-नृत्य हैं। शिलाग के ग्रास-पास खशिया गण के नाच विशेष कलात्मकता लिए हुए हैं। इनके नाचो मे अग-सचालन से ताल की सगति देखने योग्य होती है। इनके 'नगक्रम' नाच, जिसमें बकरे की बलि देने के बाद तलवार लेकर नाचते हैं, अद्भुत लोमहर्षक ग्रौर उत्साह-प्रद होता है।

परन्तु सबसे ज्यादा वलशाली ग्रौर उत्तेजना-युक्त नृत्य हैं नागा लोगो के। प्रत्येक नागा कबीले के अपने अलग नृत्य हैं। इनके वीर रस युक्त युद्ध-नृत्य ग्राज भी अपने मूल रूपम चले ग्रा रहे हैं। नागा नर्तक जब अपने विशेष वस्त्राभूषण ग्रौर सिर पर लम्बे परो अथवा सींगो के मुकुट पहन कर भालो के साथ नृत्य करते हैं, तो वस्तुतः अत्यत प्रभावी दृश्य उपस्थित हो जाता है। वादन के रूप में भैसे के सीग का बना हुआ बाजा बजाया जाता है, जिसे असमी भाषा मे 'महार सीगेर पेपा' कहते हैं। 'जेमी' नागाओ के कुछ नाचो मे पशु-पक्षियो की चाल का अनुकरण किया जाता है। ये लोग अपने नाचो को 'लिम्' कहते हैं,

ग्रौर युवक-युवतियाँ ग्रलग-ग्रलग पंक्तियों में ग्रामने-सामने खड़े होकर नाचते हैं।

'बोडो' लोग मैदानी जन-जातियों में बहुसंख्यक हैं। ये लोग मुख्यतः कृषक हैं ग्रौर खेती से सम्बन्धित त्योहारों के ग्रवसरों पर कई तरह के नाच करते हैं। इन का 'हावाजनाई' नृत्य ब्याह-शादी के बाद होता है, ग्रौर 'बैशाख' ग्रौर 'बिहु' इन्हीं नामों के त्योहारों पर। इनका 'नट-पूजा नृत्य,' जिसमें दोनों हाथों में तलवार लेकर नाचते हैं, शिव को जगाने के लिए होता है।

मणिपुरी

नाट्य-कला के क्षेत्र में भारत को ग्रासाम की सबसे बड़ी देन है मणिपुरी। यह भारत की चार शास्त्रीय नृत्य-शैलियों में से एक है। जैसा कि इसके नाम से प्रकट है, यह ग्रासाम के मणिपुर प्रदेश की देन है। मणिपुर पहले एक ग्रलग देसी राज्य था, ग्रौर ग्रब भी प्रशासन की दृष्टि से केन्द्र के ग्रधीन एक पृथक इकाई है। यह मुख्यतः नर्त्तकों की भूमि है। यहाँ के नर-नारी, बाल-वृद्ध-युवा सब नृत्य करना जानते हैं। महिलाग्रों के लिए तो नृत्य-कौशल एक ग्रनिवार्य गुण माना जाता है। यहाँ ग्रनेक प्रकार के नृत्य हैं, ग्रौर इनमें जिस नृत्य को शास्त्रीय ग्रर्थों में 'मणिपुरी' की संज्ञा दी जाती है, वह यहाँ का रास-नृत्य ग्रथवा कृष्ण-लीला है। यह मणिपुर के सुन्दर लोक-नृत्यों से विकसित हुग्रा है।

एक लोक-कथा के ग्रनुसार शिव ग्रौर पार्वती ने एक लीला रची थी, जिसे नाचने के लिए उपयुक्त स्थान की खोज में वे यहाँ ग्रा निकले। उस समय यह घाटी जलमग्न थी। ग्रतः भगवान शिव ने ग्रपने त्रिशूल द्वारा पहाड़ को काट कर इसे जल-मुक्त किया। वही स्थान ग्रब मणिपुर है, ग्रौर शिव ग्रौर पार्वती ने यहाँ जो नृत्य किया, वही यहाँ का प्रसिद्ध 'लायहरोबा' नृत्य है। यह साधारणतः ग्राम देवताग्रों के नाम पर होता है, ग्रौर इसमें कभी कभी सारा गाँव भाग लेता है। यह मणिपुर का सबसे प्राचीन नृत्य-रूप है ग्रौर 'मणिपुरी' के सब प्रकार इसी से निकले हैं।

मणिपुरी नृत्य के कुछ रूपों का सम्बन्ध कीर्तन से है, जैसे 'पग चलन' (तेज चाल) ग्रौर 'करताल चलन' (तालियों के साथ) ग्रादि। बाल कृष्ण के

सग ग्वालो का 'रासाल नृत्य' और होली के अवसर पर उछल-कूद वाला 'थावाल चगवी' (चाँदनी मे कूदना) भी उल्लेखनीय हैं। इन नाचों मे बिना किसी भेद-भाव के सब लोग भाग ले सकते हैं।

परन्तु एक शास्त्रीय शैली विशेष के रूप मे जिस मणिपुरी नृत्य ने अखिल भारतीय मान्यता प्राप्त की है, वह राधा-कृष्ण सम्बन्धी शृ गार-रस-युक्त रास-लीला है। कहते हैं कि १७०० के लगभग मणिपुर के राजा जयसिंह ने, जो बाद मे भाग्यचन्द्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ, स्वप्न म इस नृत्य-रूप को देखा और इसके सगीत को सुना था। उसने अपनी कुशल पुत्री द्वारा इसका प्रयोग कराया, और तभी से इसका वर्तमान रूप चला आ रहा है।

रास-लीला के कई प्रकार हैं, जैसे वसत-रास, कुज-रास, 'महारास', नित्य-रास और 'दिव-रास' आदि। सब मे राधा और कृष्ण मुख्य पात्र होते हैं। 'रत्न-रास' मे आठ गोपियाँ कृष्ण के सग नाचती हैं, और 'अष्ट गोपी अष्ट श्याम रास' मे आठ गोपियो के साथ आठ ही कृष्ण होते हैं।

मणिपुरी रास लीला का सबसे मनोरजक और आकर्षक पक्ष पात्रों की पोशाक है। राधा और गोपियाँ घाघरे जैसा एक गोल वस्त्र पहनती हैं, जिसे यहाँ की भाषा मे 'फाणिक' कहते हैं। इसमे तह नही पडती। इसके ऊपर कभी-कभी मलमल का छोटा घाघरा और कमरबन्द, फिर चोली और सिर पर मुकुट और झीनी ओढनी रहती है। कृष्ण साधारणत पीताम्बर होते हैं। इस प्रकार वेश-विन्यास और रगो का मेल अत्यन्त सुन्दर बन पडता है, और नृत्य भी बहुत ही भावमय, आकर्षक और आनन्द-प्रद होता है। शातिनिकेतन मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जिस नवीन बगला नृत्य-कला का पोषण किया, उसका उद्गम और स्रोत यही मणिपुरी नृत्य है। महाकवि ने इस ऋण को सदा साभार स्वीकार किया।

मणिपुर अपनी सुन्दर नृत्य शैली के लिए ही प्रसिद्ध है, ऐसी बात नहीं है। यहाँ के लोग भी अपनी एक अलग विशिष्टता रखते हैं। ये स्वय को 'मेंथेई' कहते हैं, और मुखाकृति व शारीरिक गठन की दृष्टि से अन्य पहाडी अधमियों की तरह मगोलाकार नस्ल से दीखते हैं। परन्तु इनका अपना एक सामाजिक

ढांचा है, जो शेष भारत के ढांचे से बहुत कुछ भिन्न है, यद्यपि धर्म की दृष्टि से ये मुख्यतः हिन्दू हैं। इनके यहाँ स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा है। जिस प्रकार यहाँ की सुन्दरियाँ नृत्य में अपना कौशल दिखाती हैं, उसी प्रकार यहाँ के युवक घुड़सवारी और पोलो के खेल में अपना सानी नहीं रखते। पोलो इस प्रदेश का अपना खेल है, कहीं बाहर से नहीं आया। भेड़ों और मुर्गों की लड़ाइयाँ, नावों की दौड़ें और तीरअंदाजी के मुकाबले सभी असमियों की प्रिय क्रीड़ाएँ हैं। बंगालियों की तरह असमी युवक भी फुटबाल के खेल में बड़े दक्ष खिलाडी सिद्ध होते हैं।

वस्त्र और भोजन

असमियों का वस्त्र बहुत सादा होता है। मैदानी क्षेत्रों में पुरुष केवल धोती बांधते हैं, और सर्दियों में कंधों पर चादर ले लेते हैं। उच्चवर्गीय लोग प्रायः रेशमी चादर का प्रयोग करते हैं, जो आसाम के स्वदेशी रेशम् 'मोगा' (मूंगा) और 'एंडी' के धागे से हथकरघे पर बुनी जाती है। स्त्रियाँ जरा ऊँचा घाघरा, वक्षस्थल पर रूमाल (सीनाबन्द) तथा सिर और कंधों पर शाल इस्तेमाल करती हैं। इन तीन वस्त्रों को क्रमानुसार 'मखेल', 'रिह' और 'चद्दर' कहते हैं। यह असमी नारी की देशीय पोशाक है। परन्तु शहरों में अधिकतर बंगाली ढंग की साडी का ही प्रयोग किया जाता है। चोली का रिवाज बहुत कम है; बहुधा सीनाबन्द भी नहीं होता। आसाम की एक प्रतिनिधि वस्तु बाँस की फिरचों का बना हुआ एक विशेष प्रकार का नोकीला टोप है, जिसे 'झापी' कहते हैं। यह दो से चार फुट तक व्यास की होती है, और किसानों को खेतों में काम करते हुए धूप और वर्षा से बचाती है। *एक बार गांधी जी ने नई दिल्ली के बिड़ला भवन में* इस प्रकार का हैट पहन कर फोटो खिंचवाया था।

असमियों का भोजन पूर्वी भारत के सामान्य भोजन जैसा ही है। वही दाल-भात, मछली और शाकादि इनके मनभाते खाद्य हैं। परन्तु आसाम में चूँकि झीलें बहुत हैं, इसलिए खाने योग्य पक्षी और मुर्गाबी आदि प्रचुर संख्या में मिलती हैं। घरों में भी बतखें और मुर्गियाँ पालने का आम रिवाज है। इससे असमियों के भोजन में पक्षियों का माँस अपेक्षया अधिक रहता है। निम्न जातियों

के हिन्दू और आदिवासी सूअर और भैंस का मांस खूब खाते हैं, और पहाड़ी कबीलों मे जंगली कुत्ते का मांस बहुत स्वादिष्ट समझा जाता है। चाय-पान एक जातीय आदत है। प्रत्येक गांव मे चायखाना लोगो के मिलने-जुलने और बात-चीत करने का केन्द्र होता है।

हथकरघा और असमी नारी

आसाम की खास घरेलू दस्तकारी है हथकरघा। यहाँ यह वस्तुतः घर-घर की दस्तकारी है, और चायके बाद दूसरा बडा उद्योग है। अन्य प्रदेशो मे हाथ से कपडा बुनने का काम केवल जुलाहो तक सीमित है। परन्तु आसाम के देहात म तो प्राय. सभी लोग बिना किसी वर्ग-भेद के बडे उत्साह और गर्व के साथ इस काम को करते हैं। प्रत्येक घर मे कई-कई करघे होते हैं, और घर की स्त्रियां छोटे-छोटे सरल करघों पर तरह-तरह के सुन्दर नमूनों वाले वस्त्र, चद्दर और शाल बुनती रहती हैं। इनके इस परम्परागत चले आ रहे हस्तशिल्प के सम्बध मे गाँधी जी ने एक बार कहा था—'असमी स्त्रियां जन्म से ही बुनकर होती हैं; वे अपने करघों पर परियो की कहानियाँ बुन सकती हैं।'

असमी युवती रंग-रूप और नख-शिख की दृष्टि से तो कुछ अधिक सुन्दर नहीं होती, परन्तु उसके सुरूप वेश, उत्तम स्वास्थ्य और स्वतन्त्र हाव-भाव के कारण उसके व्यक्तित्व मे एक विशेष आकर्षण रहता है। अन्य पहाडी औरतों की तरह असमी नारी के चरित्र के सम्बन्ध में भी अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं, जिन मे यदि आधी भी सत्य हो, तो असमी समाज का अस्तित्व ही संकट मे पड़ जाए। वास्तविकता यह है कि असमी नारी अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र है। ब्याह-शादी के विषयों मे उसे बहुत काफी ढील दी जाती है। लडके लडकियाँ बहुधा स्वयं ही अपना ब्याह रचा लेते हैं और माता-पिता को स्वीकृति देते ही बनती हैं। परन्तु यह तो सभी पहाडी प्रदेशो की एक स्वाभाविक सी बात है। इसके लिए असमी नारी को चरित्र-हीनता अथवा नैतिक दुर्बलता का दोष देना न्यायोचित नही हो सकता।

असमी चरित्र

असमी जनता के निर्माण मे, जैसा कि पीछे बताया गया, प्रधान तत्व पहि-

चमी चीन की मंगोली जाति का है। परन्तु वे नसल की दृष्टि से जितने मंगोल रूप हैं, उतने ही सास्कृतिक दृष्टि से भारतीय भी हैं। वास्तव मे श्रासाम एक छोटे पैमाने पर सम्पूर्ण भारत के धर्म, सभ्यता और राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु इसके साथ ही यह एक दु.खद सत्य है कि वर्तमान भारत में 'भारतीय अपनत्व' की सब से कम भावना सम्भवतः असमियो मे है। इसके कई कारण हैं। एक दीर्घकाल तक बंगाली अधिकारियो और मारवाड़ी व्यापारियो द्वारा शासित और शोषित रहने के कारण वे अन्य भारतीयों को स्वभावतः संदेह और शंका की दृष्टि से देखते हैं। आसाम मे गए हुए अन्य भारतीयों ने उनका सदैव तिरस्कार ही किया है। इसके अलावा आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में अपेक्षया पिछड जाने से वे अभी तक अखिल भारतीय स्तर पर कोई उल्लेखनीय स्थान प्राप्त नही कर सके। इन सब कारणों से उनमे कई प्रकार के संकीर्ण विचारो ने जन्म लिया है, जो चतुर नेताओ के हाथ मे किसी भी समय महान विपत्ति का कारण बन सकते हैं।

सामान्य रूप से आसाम के लोग सरल स्वभाव और मैत्री-पूर्ण होते है। इस प्रदेश की नर्म मिट्टी की तरह यहाँ के लोगो के स्वभाव मे भी एक विशेष मृदुता और कोमलता रहती है।परन्तु यदि उन्हें उकसाया जाए अथवा उनका अपमान किया जाए, तो वे भयंकर उपद्रवी सिद्ध हो सकते हैं। क्रोधावेश में वे जो भी कर जाएँ, थोडा है। शत्रु के प्रति उनका व्यवहार नितात क्रूर होता है। यह विशेषता प्रायः सभी पहाड़ी लोगो मे पाई जाती है।

औसत असमी हँसमुख, साहसी, धैर्यवान, संतोषी और धर्म निष्ठ होता है। बड़ी से बड़ी विपत्ति में भी वह जीवन और सृष्टि के महान उद्देश्यों मे आस्था नहीं खोता। उसे प्रायः प्रति वर्ष वर्षा, बाढ़ और भूकम्प आदि प्राकृतिक प्रकोप सहन करने पड़ते हैं। परन्तु इन दु.खों के बावजूद उसे अपने प्रदेश से जैसा प्रेम है, वह वास्तव मे अद्‌भुत ही है। यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि असमी अपने प्रदेश से बहुत कम बाहर निकला है। आसाम के बाहर उनकी संख्या मुश्किल से एक लाख होगी, और इनमें भी अधिकतर केवल बंगाल तक गए हैं। इसमें कुछ तो उनकी परघुस प्रवृत्ति का हाथ है, और कुछ प्रादेशिक

जातिवाद का । प्रत्येक असमी चाहे वह कोई सुशिक्षित व्यक्ति हो अथवा ग्रामीण कृषक, अपने प्रदेश के गौरवमय अतीत पर अत्यधिक गर्व करता है। यह गर्व उचित ही है, पर इसके कारण कभी कभी राष्ट्र-विरोधी तत्वों को प्रोत्साहन मिलता है।

असमी लोगों का स्वाधीनता प्रेम सदैव बना रहा है। पहाड़ों में रहने वाली जन जातियों ने ब्रिटिश शक्ति का हमेशा बड़ी दृढ़ता और साहस के साथ मुकाबला किया। कहते हैं कि आसाम के पहाड़ी कबीलों को दबाने के लिए अंग्रेजों को जितने अभियान भेजने पड़े, उतने तो पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत के लड़ाकू पठानों के विरुद्ध भी नहीं भेजे गए। आसाम के ये कबीले वर्तमान स्वतंत्र भारत में भी अपनी पृथक स्वतंत्रता को बनाये रखने का दृढ़ संकल्प लिए हुए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आसाम के लोग आधुनिक सभ्यता के क्षेत्र में जितने पिछड़े हुए हैं, उतने ही स्वाभिमानी, सत्यनिष्ठ और श्रमशील भी हैं। और यद्यपि शारीरिक दृष्टि से वे कुछ ज्यादा प्रभावी नहीं होते, परन्तु उनके जीवन में एक विशेष कलात्मकता, एक अकृत्रिम सौंदर्य और सरल आकर्षण होता है। अपने इन अनेक गुणों के साथ आसाम के लोग भारतीय संघ-राष्ट्र का एक आदरणीय अंग हैं। उनका समुचित सम्मान अभी हो नहीं पाया है।

बंगाली

पुराणों के अनुसार चन्द्रवशी राजा बाली के पाँच पुत्र थे—अग, वग, कलिंग पुन्ड्र, और सुम्ह । पाँचों ने एक एक राज्य की स्थापना की, अ ग राज्य वर्तमान विहार के पूर्वी भाग मे भागलपुर, क्षेत्रम था, और कलिंग राज्य वर्तमान उडीसा में । शेष तीनो राज्य वर्तमान बगाल में थे । इनम 'वग' या 'वाग' पद्मा नदी के दक्षिण मे भागीरथी और ब्रह्मपुत्र की प्राचीन धाराओ के बीच म स्थित था ।

बारहवीं शती ईस्वी म, जब प्राय सारे बगाल पर सेन वश के राजा बलाल सेन का राज्य था, तब 'वग' केवल भागीरथी के मुहाने पर की विरल भूमि को ही कहते थे, और पश्चिमी क्षेत्र का नाम 'राढ़' पड गया था । यही शब्द अप-भ्र श में 'लाल' हो गया, जिसके साथ 'वग' के सयोजन से वगलाल' या 'वगाल' शब्द बना । मुसलमानो ने इसे 'वगाल' या 'बगाला' कहा, और अ ग्रेजो ने 'बेंगाल' की सज्ञा दी । किन्तु स्वय वगाली अपने प्रात को आज भी 'वग प्रदेश' ही कहते हैं । कुछ भी हो, इसम सदेह नहीं कि 'बगाल' शब्द प्राचीन 'वग' से ही बना है ।

आजका वगाल केवल पश्चिमी वगाल है, जो भारत सघ म केरल को छोड़ कर सबसे छोटा राज्य है । इसी राज्य के २।। करोड निवासियों तथा पूर्वी पाकिस्तान से विस्थापित होकर आने वाले हिन्दू शरणार्थियों का नाम है 'बगाली' । ये एक पृथक और स्पष्ट सांस्कृतिक इकाई हैं, और अपनी विशेष मुखा-कृति, वेशभूषा और चाल-ढाल स किसी भी जन समूह में बड़ी आसानी के साथ

पहचाने जा सकते हैं। ये एक जागृत, सुसंस्कृत और बौद्धिक रूप से सुविकसित समुदाय हैं तथा भारत संघ-राष्ट्र में अपना एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आधुनिक भारत के निर्माण में इनका अद्वितीय योग रहा है।

इतिहास

विद्वानों का मत है कि बंगाल के प्राचीनतम निवासी आस्ट्रेलियाई जाति के लोग रहे होंगे। वे लोग आस्ट्रेलियाई भाषाएँ बोलते थे, जिनके अवशेष बंगाल की आदिवासी बोलियों में आज भी मिलते हैं। इन आदिवासियों में कोल, पुलिंद, पुंड्र, सुम्ह और निशाद आदि गणों के नाम पुराणों में आते हैं।

आर्यों के आगमन से बहुत पहले उत्तर-पूर्व से भारत-चीनी मंगोली गणों के आक्रमण आरम्भ हो चुके थे। इन गणों का केन्द्र पूर्वी तिब्बत या समीपवर्ती चीनी क्षेत्र में था। इन में कुछ गणों की बोलियाँ तिब्बती-बर्मी भाषा-परिवार से सम्बन्ध रखती थीं। उन्हीं तिब्बती बर्मी बोलने वाली मंगोली जातियों से उत्तर बंगाल के आदि-कालीन 'पोडो' और पूर्वी बंगाल के चाडालों का विकास हुआ, ऐसा विद्वानों का मत है।

जिस समय बंगाल में उत्तर-पूर्व से मंगोली रूप जातियों का आगमन और प्रवास जारी था, तब तक पश्चिम से आर्य भी बिहार तक बढ़ आए थे, और समस्त उत्तर-भारत में आर्यों के अनेक शक्तिशाली राज्य स्थापित हो चुके थे। उन में मगध राज्य सर्वाधिक समुन्नत और सुदृढ़ था। बंगाल में आर्यों का आगमन इसी राज्य से हुआ। इस कारण बंगाल के प्रथम आर्य प्रवासियों को तत्कालीन संस्कृत साहित्य में 'वंग-मागधी' के नाम से अभिहित किया गया है। ये विशुद्ध आर्य न होंगे, बल्कि बिहार और उत्तर-भारत में स्थानीय द्रविड़ जातियों में लगभग एक हज़ार वर्षों तक घुलने मिलने के बाद यहाँ आए होंगे।

अति प्राचीन काल में ही मगध के आर्य ऋषियों का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ था। सांख्य दर्शन के रचयिता कपिल मुनि का आश्रम सुन्दरवन में एक द्वीप पर स्थित था। यह प्रसिद्ध है कि कपिल मुनि के परामर्श से ही राजा भगीरथ ने गंगा को स्वर्ग से भूमि पर लाकर सागर तक ले जाने की व्यवस्था की थी।

यूनानी इतिहासकारों ने जिन लोगो को 'गगारिदाई' की सज्ञा दी है, वे सम्भवत इसी प्रदेश के आर्य-मिश्रित निवासी थे। तब ये लोग सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य की प्रजा थे। आगे चलकर स्वय इन्हो ने कई प्रसिद्ध राजवशो को जन्म दिया। गुप्त युग मे यह प्रदेश सम्राट समुद्रगुप्त के विशाल साम्राज्य का अग बना। उस काल मे यहाँ युद्ध के लिए हाथियो और डोंगियो के बेडो का अत्यधिक प्रयोग होता था।

इस भूभाग के पुराने निवासियो के सम्बध म 'रघुवश' मे आया है कि ये लोग नावो मे रहते हैं और खाने के लिए धान उत्पन्न करते हैं। इससे प्रकट है कि कवि कालिदास इस देश की भौगोलिक परिस्थितियों तथा लोगो के जीवन से भली भाँति परिचित थे। उस समय यह प्रदेश एक उत्तम सस्कृति—सम्भवत मंगोली और आस्ट्रिक सस्कृतियो के समन्वय से बनी सस्कृति—का केन्द्र रहा होगा। तब यहाँ के लोग 'कैवर्त्त' (केवट-मल्लाह) कहलाते थे। ये लोग सदा से नौका खेने की कला मे सिद्धहस्त रहे हैं। बगाल म आज भी नौकाओ का बहुत अधिक व्यवहार होता है।

बगाल मे दीर्घकाल तक अनार्य—सम्भवत मगोली—राजाओ के शक्तिशाली राज्य बने रहे हैं। सातवीं शती ईस्वी मे जब चीनी यात्री ह्रुएन-सांग भारत का भ्रमण कर रहा था, तब बगाल का अनार्य राज्य शक्ति और समृद्धि के शिखर पर था। प्राग्ज्योतिष के दक्षिण म पु ड्र या पुंड्रवर्धन का राज्य था, जहाँ पोड गण के मगोलाकार लोग आबाद थे। यह गण तीसरी शती ईसा पूर्व म भी मौजूद था, और अशोक के भाई ने बोद्ध भिक्षु के वेश म उनके यहाँ शरण ली थी। भागीरथी के पश्चिम मे 'कर्णस्वर्ण' का देश था, जिसके राजा शशांक ने सातवीं शती ईस्वी म मगध पर चढ़ाई कर बोधी वृक्ष को काट डाला था। सुम्ह का राज्य समुद्रतट के पश्चिमी भाग म स्थित था, और ताम्रलिप्ति (तामलूक) यहाँ की प्रसिद्ध बदरगाह थी। प्राचीन बगाल के इन राज्यों के शासक और निवासी 'कैवर्त्त' कहलाते थे, क्यों कि जैसा कि 'रघुवश म आया है, 'वे लोग नावों म रहते थे।'

नवी शती ईस्वी मे अग राज्य का पाल वश बहुत शक्तिशाली हो उठा। उसने धीरे-धीरे सारे उत्तरी बगाल पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इस वश के एक प्रसिद्ध राजा महिपाल के सम्बध मे उत्तरी बगाल के लोगो मे आज भी अगणित लोक-कथाए प्रचलित हैं। पु ड्रवर्धन के राजाओ की तरह पाल राजे भी बौद्ध धर्मावलम्बी थे, और सम्भवतः मगोली जाति के थे। उन्होंने ७५० ई० से ११५० ई० तक चार सौ वर्ष अग पर और इस बीच लगभग दो सौ वर्ष उत्तरी बगाल पर राज्य किया। उनके राज्य-काल मे बिहार और बगाल मे बौद्ध धर्म, कला और सस्कृति की अभूतपूर्व उन्नति हुई, यद्यपि वे स्वय ब्राह्मण धर्म के विरोधी नहीं थे।

पाल राज्य-काल को बगाल के प्राचीन इतिहास का सब से गौरवपूर्ण युग माना जाता है। उस काल मे उत्तर-भारत के स्वामित्व और केन्द्रीय सत्ता के लिए बगाल-बिहार के पालों, कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहारों और दक्षिण के राष्ट्रकूटो के बीच युद्ध चलते थे। उसी युग मे बगाल के कलाकार दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशो मे गए, और बगाल के बौद्ध श्रमणो ने तिब्बत मे बौद्ध-धर्म का प्रचार किया।

ग्यारहवी शती के मध्य मे सेन वश के राजा विजयसेन ने पालों को बगाल मुख्य-भूमि से निकाल दिया। सेनो के सम्बध मे यह दतकथा है कि वे कर्नाटक से आए थे। बगाल मे आज दुर्गा-पूजा का जो रूप प्रचलित है, वह उन्ही का स्थापित किया हुआ बतलाया जाता है। सेन वश बगाल का अतिम हिन्दू राजवश था, और ब्राह्मण धर्म का कट्टर अनुयायी था। उसके राज्य-काल मे बौद्ध-धर्म को सक्रिय रूप से हतोत्साहित किया गया, जिसके फलस्वरूप बौद्धों मे बदले की भावना पैदा हुई।

सेन वश का सबसे प्रसिद्ध राजा बलालसेन था। उसने तत्कालीन बगाली समाज की जाति-पाँति व्यवस्था को पुनर्गठित किया, और तीनो मुख्य जातियो—ब्राह्मण, वैद्य और कायस्थ—मे 'कुलीन' (खानदानी) की प्रथा प्रचलित की। बगाल को क्षेत्रीय आधार पर चार भागो मे विभाजित करने का श्रेय भी

इसी राजा को प्राप्त है। ये चार क्षेत्र इस प्रकार हैं : राढ़—भागीरथी के पश्चिम में कर्णसुवर्ण का क्षेत्र; वारेन्द्र—उत्तरी बंगाल में पुंड्रवर्धन का क्षेत्र; वागदी —दक्षिणी बंगाल का समुद्रतटवर्ती-जंगली क्षेत्र, और वांगाल—पूर्वी बंगाल। बंगालके ये चारों भाग आज भी इन्हीं नामों से अभिहित किए जाते हैं, और इनके स्थायी निवासियों को क्रमानुसार 'राढ़ी,' 'वारेन्द्र,' 'वागदी' और 'वांगाल' कहा जाता है। पश्चिमी बंगाल के लोग स्वयं को 'बांगाली' और पूर्वी-बंगालियों को 'वांगाल' कहते हैं।

पाल और सेन राजाओं के युग में बंगाल ने सांस्कृतिक दृष्टि से जितनी उन्नति की, उतनी ही राजनैतिक और सैनिक दृष्टि से उसकी अवनति हुई। यहां तक कि ११९९ ई० में, जब बल्लालसेन के पुत्र लक्ष्मणसेन का राज्य था, तब दिल्ली-विजेता मुहम्मद ग़ोरी के तुर्क सेनापति बख्तियार खिलजी ने केवल १२ घुड़सवारों के साथ आक्रमण कर बंगाल की स्वतन्त्रता का अंत कर दिया। बूढ़ा राजा लक्ष्मणसेन उड़ीसा की ओर भाग गया, और इस प्रकार बिना किसीविशेष रक्तपात के राजधानी नवद्वीप पर मुसलमानी अधिकार हो गया।

बंगाल पर मुसलमानी अधिकार हो जाने से एक हिन्दू राजवंश का ही अंत नहीं हुआ, बल्कि धर्म, संस्कृति, कला और सभ्यता का एक पूरा युग ही समाप्त हो गया। अगणित मंदिर, मठ और पुस्तकालय खंडहरों में परिणत हुए। बौद्धों ने, जो ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान से पीड़ित थे, आक्रमणकारियों का एक प्रकार से स्वागत ही किया। और वे भारी संख्या में मुसलमान हुए। बंगाल में आज भी मुसलमानों को 'नेड़े' (गंजे) कहा जाता है। यह शब्द पहले बौद्धों के लिए प्रयुक्त होता था, क्योंकि वे सिर-घुटे होते थे। दूसरी ओर कितने ही बंगाली ब्राह्मण विद्वान और कलाकार नेपाल की घाटी में जा बसे, जहाँ गौड़ कला और विद्या आज भी प्रतिष्ठित है।

मुसलमानी विजय के बाद से तुग़लक वंश के अंत तक यह प्रदेश किसी न किसी रूप में दिल्ली साम्राज्य के अधीन रहा। उसके बाद यहाँ के मुसलमान शासक स्वतंत्र बादशाहों की हैसियत से राज्य करने लगे। उनके युग में, जो

बंगाल के इतिहास मे हुसैनशाही युग कहलाता है, बगाल ने फिर एक बार गौड के नाम से भारत-व्यापी प्रसिद्धि प्राप्त की। इस प्रदेश मे मुस्लिम स्थापत्य के ऐतिहासिक नमूने अधिकतर इसी काल के हैं। गौड नगर मे बिखरे ध्वसावशेषो का देखने पर सहज ही मे अनुभव होता है कि उस काल मे यह शहर कितना भव्य, सुन्दर और विशाल रहा होगा।

बाबर ने जिस समय भारत पर आक्रमण किया, तब बगाल मे प्रसिद्ध वैष्णव सत चैतन्य महाप्रभु का समतावादी भक्ति-प्रचार चल रहा था। उनके अनुयायियो मे बहुत से मुसलमान भी थे, और इस प्रकार हुसैनशाही बादशाहो के संरक्षण मे बगाल मे एक सयुक्त राष्ट्र अस्तित्व मे आ रहा था। इस सारे काल-खड मे, शेरशाह के अल्पकालीन आधिपत्यके अपवाद सहित, बंगालके मुसलमान बादशाह स्वतत्र ही रहे। अतत. १५७५ ई० मे अकबर के सेनापति मानसिंह ने दाऊदखाँ को हरा कर बगाल को मुगल साम्राज्य मे सम्मिलित किया। चन्द वर्ष बाद १५६० ई० मे मानसिंह स्वयं यहाँ का हाकिम नियुक्त होकर आया। बगाल के सामत वर्ग में राजपूती तत्व का सम्मिश्रण उसी के आगमन से हुआ था। तब से औरगजेब की मृत्यु के बाद तक बगाल मुगल साम्राज्य का एक सूबा रहा।

औरगजेब के अयोग्य उत्तराधिकारियो की दुर्बलता का लाभ उठाते हुए अलीवर्दीखाँ नामक एक साहसी अफगान, जिसे बगाल के मुगल सूबेदार ने अपना मत्री और विहार का उपशासक नियुक्त किया था, बगाल, बिहार और उडीसा का स्वतन्त्र नवाब बन बैठा। उसका पुत्र सिराजुद्दौला इतिहास मे सबसे प्रसि: है। उसके समय तक बगाल मे घुसे हुए अग्रेज और फासीसी व्यापारियो अपने कदम खूब जमा लिये थे। सिराज को शीघ्र ही अग्रेजो से सघर्ष करना पडा। परन्तु मीरजाफर जैसे कपटी सम्बन्धियों और स्वार्थी सेनानायकों के विश्वासघात के फलस्वरूप वह १७५७ के प्रसिद्ध पलासी-संग्राम मे अग्रेज कमान्डर क्लाइव के हाथो पराजित हुआ। और बगाल की स्वतन्त्रता का फिर एक बार अत हो गया। सिराज के बाद मीरजाफर, मीरकासिम और नजामुद्दौला आदि बगाल के कई नवाब हुए, परन्तु वे सब यथार्थ मे अग्रेजो के कठ-

पुतली थे। अततः इन नवाबों की सत्ता केवल मुर्शिदाबाद के महल तक सीमित रह गई, और बगाल का समृद्ध प्रदेश उत्तर-भारत मे अंग्रेजी साम्राज्य का सबसे बडा और सुदृढ़ गढ़ बना। वास्तव मे भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य का शीघ्र-कालिक विस्तार यही से प्रारम्भ हुआ, और बगाल मे ब्रिटिश शक्ति का मुख्य केन्द्र—कलकत्ता—आगे चलकर एक दीर्घ काल तक परतत्र भारत की राजधानी बना रहा। इन दोनो बातो का आधुनिक बगाली समाज का रूप निर्धारित करने मे महत्वपूर्ण हाथ रहा है, जिसकी चर्चा यथास्थान की जाएगी।

क्रातिकारी आन्दोलन की जन्म-भूमि

भारत मे क्रातिकारी आन्दोलन का सूत्रपात यद्यपि महाराष्ट्र से हुआ था, परन्तु उसका सर्वप्रथम सुसगठित रूप बगाल ने ही प्रस्तुत किया। बगाल में इस विचार धारा के जन्म-दाता थे श्री अरविन्द घोष। १६०४ ई० मे बग-विभाजन के निर्णय की घोषणा के साथ ही ये विचार सक्रिय हो उठे, और विभाजन-विरोधी जन आन्दोल के साथ-साथ हिंसात्मक विद्रोह का प्रचार भी शुरू हो गया। तभी से बगाल में सैंकडो युवक बम बनाने के गुप्त कार्य मे सलग्न हो गए।

१६०७ ई० मे श्री अरविन्द के भाई बीरेन्द्र कुमार घोष द्वारा स्थापित 'अनुशीलन समाज' के नाम पर क्रियात्मक सगठन कार्य प्रारम्भ हुआ, और शीघ्र ही बगाल भर में क्रातिकारियो के ५०० से अधिक सशस्त्र दल बन गए। इन के नेताओं मे पुलिन बिहारी बोस विशेष प्रसिद्ध हैं।

अक्तूबर १६०७ ई० में गवर्नर की ट्रेन को उडाने के षडयन्त्र से आतकवाद का श्री गणेश हुआ, परन्तु पहला प्रहार अप्रैल १६०८ म किया गया, जब खुदिराम बोस और प्रफुल्ल चाकी नामक दो युवको ने एक अत्याचारी जज किंग्जफोर्ड का वध करने के लिए मुजफ्फरपुर (बिहार) जाकर बम चलाया। चाकी ने स्वय को गोली मारकर और खुदीराम ने फांसी चढ़कर वीरगति पाई। कन्हैयालाल दत्त, सतीन्द्रनाथ बोस, इन्द्रभूषण डे और उल्लासकर दत्त आदि कितने ही साथियो को एन्डमान की काल-कोठरियो म आजीवन कष्ट भोगने

पड़े। परन्तु इस भीषण दमन के बावजूद बगाल मे यह आन्दोलन अबाध गति से चलता रहा।

१९०७ से १९११ तक का इतिहास अगणित षड़यत्रो और अभियोगो के विवरण से भरा पड़ा है। इस अवधि मे यह विचार-धारा अन्य प्रदेशो, विशेष-कर सयुक्त प्रात और पजाब मे फैली, और जगह-जगह क्रातिकारियों के दल सगठित हुए। इन लोगो ने विदेशो से हथियार उपलब्ध करने की चेष्टायें भी कीं। रासबिहारी बोस जैसे नेताओं ने उसी जमाने मे विदेशो मे आश्रय ग्रहण किया।

इसी बीच प्रथम महायुद्ध के बाद भारत मे गाँधी युग का प्रारम्भ हुआ, और क्रातिकारी आन्दोलन कुछ वर्षों के लिए शिथिल पड गया। परन्तु १९२४ मे सम्भवत. गाधी नीति की विफलता से निराश होकर क्रातिकारियों ने अपनी गतिविधिया पुनः आरम्भ कर दीं। कई वर्षों तक आन्दोलन का अधिक जोर बगाल से बाहर रहा। परन्तु सभी दलों मे बगाली युवक प्रमुख रहे।

आखिर अप्रैल १९३० मे वह अविस्मरणीय घटना घटी, जो भारत के इतिहास मे 'चिटागाँव अर्मरी रेड' के नाम से प्रसिद्ध है। सूर्यसेन के नेतृत्व मे १५० युवकों के एक सगठित सैनिक दल ने चाटगाव मे कुछ देर के लिए ब्रिटिश शासन का अत कर दिया। परन्तु उन्हें शीघ्र ही साम्राज्य की पूरी शक्ति से जूझना पड़ा, और जलालाबाद की पहाडी पर पराजय प्राप्त हुई। उसके बाद फिर वही फाँसियो और आजीवन कारावास का भयानक चक्र चला, और धीरे-धीरे १९३५ तक क्रांतिकारियो का कोई विशेष सगठन शेष न रह गया। बहुत से पुराने क्रातिकारी, जो उस समय अपनी सजाएँ काट कर जेलो से रिहा हुए, काग्रेस मे शामिल हो गए।

१९४२ के 'भारत छोडो' आन्दोलन मे बगाल की यह परम्परा फिर एक बार सक्रिय हो उठी। और विदेशी शासको के विरुद्ध कई आतकवादी घटनाएँ घटी। इसी परम्परा का अतिम विकसित और संगठित रूप थी। नेताजी सुभाष बोस की आजाद हिन्द फौज। वास्तव मे भारत को स्वतत्रता दिलाने का श्रेय यदि किसी एक तत्व को दिया जा सकता है, तो वह आजाद हिन्द फौज ही

थी। आज बंगाल में नेताजी का प्रभाव बहुत अधिक है। बंगालियों के निकट तो वह देवता-स्वरूप पूज्य हैं। बंगाली समाज, विशेषकर युवक समुदाय पर, क्रांतिकारी विचार-धारा की गहरी छाप आज भी लक्षित होती है। इस समय समस्त भारत में बंगाल ही एक ऐसा प्रदेश है, जहां इस प्रवृत्ति के उग्ररूप धारण करने की सम्भावना बराबर बनी हुई है।

धर्म और संस्कृति

प्राचीन बंगाल एक दीर्घ काल तक आर्य वैदिक धर्म और संस्कृतिकी परिधि से बाहर रहा था। शुरू में वहाँ जाने वालों को 'भ्रष्ट और पतित' समझा जाता था। आर्यों के आगमन के पूर्व वहाँ के कोल, पुलिंद, सुम्ह और निषाद आदि जातियाँ अपना जो प्रकृति-धर्म और सभ्यता रखती थीं, उसके चिन्ह बंगाल के जन-जीवन में आज भी विद्यमान हैं, जैसे धरती पूजा, नाग पूजा, मनसा पूजा, काली पूजा और अनार्य वन-देवी की पूजा आदि।

बंगाल के लोग जब आर्यों के सम्पर्क में आए, तब आर्य धर्म अपने सरल वैदिक रूप से विकसित होकर जटिल पौराणिक रूप धारण कर चुका था। यही कारण है कि बंगाल का हिन्दू धर्म वैदिक न होकर पौराणिक है; और इसमें भी आर्य देवी-देवताओं की अपेक्षा अनार्य, अर्थात् स्थानीय, ग्राम और गृह-देवताओं के प्रति श्रद्धा ही अधिक है। बंगाल में सबसे ज्यादा अनार्य देवी-देवताओं की पूजा होती है। काली-पूजा इस धार्मिक समन्वय का एक उत्तम उदाहरण है।

बंगाल में जन-साधारण और उन के देवी देवताओं के बीच बहुत ही निकट और घनिष्ट सम्बन्ध रहता है, मानो लोग चौबीसों घंटे अपने आराध्य देवों की संगत में ही रहते हों। आत्मीयता की भावना इतनी बढ़ी हुई है कि ईश्वर को भी प्रायः माँ के रूप में ही देखा जाता है। यह बंगालियों की एक विशिष्ट धार्मिक प्रवृत्ति है, जो इतनी ही स्पष्टता के साथ और कहीं भी दृष्टि-गत नहीं होती। इसके साथ ही सारे भारत में सम्भवतः बंगाल ही एक मात्र प्रदेश है, जहां लोगों के घर और देवताओं के मन्दिर आकृति की दृष्टि से

बिल्कुल एक से बनाए जाते हैं। अतर केवल इतना रहता है कि जहाँ ग्रामीण जनता के घर बाँस, गारे और फूस के होते हैं, वहाँ देव-मन्दिर प्रायः पक्की ईंटों के अथवा पत्थर के बनाए जाते हैं। बगाल मे ऊँचे-ऊँचे कलश वाले भव्य-शाली मदिर बनाने की रिवाज अतीत मे बहुत कम रहा है।

धार्मिक विचारो के अतिरिक्त बगालियो के रीति-रिवाजो मे भी अनार्य तान्त्रिक मत, ब्राह्मण मत, शैव मत, वैष्णव मत और बौद्ध धर्म की पद्धतियाँ मिली-जुली सी मिलती हैं। अन्य प्रदेशो की अपेक्षा बगाल के हिन्दू धर्म मे बौद्ध विचारोंका समावेश भी कुछ अधिक ही हुआ है। वास्तवमे हिन्दू धर्म की समन्वयात्मक प्रवृत्ति का सबसे अच्छा परिचय बगाल मे ही मिलता है। धार्मिक सम्प्रदायवाद अथवा धर्म के नाम पर सामाजिक कलह यहाँ कभी भी जड़ नहीं पकड सके। चैतन्य महाप्रभु से लेकर स्वामी विवेकानन्द तक बगाल के सभी धर्म-नेताओं ने सर्व-धर्म समन्वय का ही नारा बुलन्द किया है। विवेकानन्द तो, जिन्हें 'आधुनिक बगाल का निर्माता' कहा जाता है, इतने धार्मिक नेता भी नहीं थे, जितने कि समाज सुधारक और क्रातिकारी थे। वह फुटबाल खेलने को गीता पढ़ने से ज्यादा जरूरी बतलाते थे, और हिन्दू मात्र की गौ-भक्ति का उपहास करते थे।

बगाल मे धार्मिक सहिष्णुता की परम्परायें बहुत पुरानी हैं। यहाँ तक कि मुसलमान विजेताओ को भी कुछ आरम्भिक अधिकताओ के बाद यही मार्ग अपनाना पडा। सेन राजधानी नवद्वीप, जिसे पाश्चात्य विद्वान 'मध्ययुगीन बगाल का आक्सफोर्ड' कहते हैं, पठान राज्य-काल मे फिर एक बार ब्राह्मण धर्म, शिक्षा और सस्कृति का केन्द्र बना। स्वय चैतन्य ने हुसैनशाही राजवश के सरक्षण मे ही अपने वैष्णव मत का प्रचार किया।

उन्नीसवी शती मे बगाली सस्कृति का जो आश्चर्यजनक पुनरुत्थान देखने मे आया, वह भी उसके इसी विशेष गुण का परिचायक था। बगालियो ने बडी सरलता के साथ अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव स्वीकार किया, परन्तु उसके साथ ही अपनी मूल प्रकृति को भी पूर्णत बनाए रखा। उन्नीसवी शती के दोनो बड़े समाज-सुधारक—राजा राममोहन राय और पडित ईश्वर

चन्द्र विद्यासागर—रूढ़िग्रस्त ब्राह्मण परिवारों में पैदा हुए, परन्तु ब्राह्मण धर्म की रूढ़ियों और प्रतिक्रियावाद के विरुद्ध सबसे प्रबल और सफल संघर्ष भी उन्होंने किया। संक्षेप में बंगाली संस्कृति के इस विशेष गुण की परिभाषा यों की जा सकती है कि 'यह अपनी मूल प्रकृति पर कायम रहते हुए नई बातों को सहज में स्वीकार कर लेने की एक अद्‌भुत क्षमता का नाम है।

समाज व्यवस्था

सभी प्रदेशों की हिन्दू जनता की तरह बंगाली समाज में भी जाति-पाँति की रूढ़ियाँ प्रचलित हैं, परन्तु जातियाँ न उतनी स्पष्ट और सुसंगठित हैं, और न उस प्रकार विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों का प्रतिनिधित्व करती हैं, जैसा कि अन्यत्र, विशेषकर मध्य देश में, दिखाई देता है। बंगाल में जातियाँ बहुत कुछ मिली-जुली सी हैं, और बहुधा उन्हें अलग-अलग पहचानना भी कठिन हो जाता है। इस गड़बड़ी का प्रधान कारण सम्भवतः यह है कि बंगाल में साधारणतः 'ब्राह्मणत्व' को कभी भी वैसा महत्व प्राप्त नहीं हो सका, जैसा कि मध्य देश अथवा दक्षिण भारत में हुआ है। यह बात उल्लेखनीय है कि बंगाल में सभी ब्राह्मणों को 'पंडित' नहीं कहते, जैसा कि उत्तर भारत में रिवाज है, बल्कि केवल संस्कृत विद्वानों को ही यह सम्मान दिया जाता है।

वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत बंगाली समाज में साधारणतः चार बड़ी जातियाँ गिनी जाती हैं : ब्राह्मण, वैद्य, कायस्थ और अन्य शूद्र। ब्राह्मणों के 'पंच गोत्र' प्रसिद्ध हैं, और क्षेत्रीय आधार पर उनके दो बड़े सामाजिक समूह संगठित हैं : 'राढ़ी' और 'वारेन्द्र'। राढ़ी ब्राह्मणों में 'कान्यकुब्ज' कहलाने वाले पाँच वंश विशेष प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि सेन राजा बल्लालसेन ने इनके पूर्वजों को कन्नौज से विशेष रूप से आमन्त्रित कर बंगाल में बसाया था, तथा उन्हें 'उपाध्याय' और 'आचार्य' आदि की उपाधियों से अलंकृत किया था। उन्हीं के वंशज आज अपने वंश-नामों के अंग्रेजी रूपों के अनुसार 'चटर्जी' मुकर्जी' आदि कहलाते हैं। 'वैद्यों के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। अंग्रेज भारत-शास्त्रियों के मतानुसार ये लोग आर्यों के आगमन के समय बंगाल की पुरोहित जाति थे, जिन से

ब्राह्मणों ने शादी-ब्याह के सम्बन्ध स्थापित किए। धारणा यह है कि ये लोग वास्तव में 'वैद्य' अर्थात् चिकित्सक ही थे। कहीं इन्हें शूद्र नारी से उत्पन्न ब्राह्मण की संतान बतलाया जाता है, और कहीं वैश्यों के साथ समान स्तर पर रखा जाता है। कुछ भी हो, इन्हें बंगाल की विशिष्ट जाति समझना चाहिए। बंगाली समाज-व्यवस्था में इन्हें ब्राह्मणों के बाद स्थान दिया जाता है।

बंगाल के कायस्थ, कायस्थों की अखिल भारतीय परम्परा के अनुसार, सदैव ही एक शिक्षित, समुन्नत और प्रगतिशील वर्ग रहे हैं। और यद्यपि यहां की वर्ण-व्यवस्था में इन्हें सामान्यतः शूद्रों में गिना जाता है, परन्तु ब्राह्मण लोग चेष्टा करने पर भी इन से कोई स्पष्ट भेदभाव नहीं रख सके। सच तो यह है कि कायस्थों के धन से ही ब्राह्मणों की जीविका चलती रही है। और इसी लिए इन्हें बंगाली समाज, प्रशासन और राजनीति में सदैव ही बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त रहा है। कितनी ही सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक संस्थाओं के कर्ता-धर्ता कायस्थ हैं। बहुत से कायस्थों ने तो यज्ञोपवीत तक धारण कर लिया है। यह बात भी उल्लेखनीय है कि बंगाली कायस्थों के उपजाति नाम कायस्थों के परम्परागत जाति-नामों से भिन्न है, जिस से यह धारणा बनती है कि इन का विकास सम्भवतः पृथक रूप से हुआ है।

निचले शूद्रों में सम्पूर्ण श्रमिक कृषक वर्ग, विभिन्न कारीगर, शिल्पी और सेवक जातियां आ जाती हैं। इन में 'कैवर्त्त' (केवट मल्लाह) प्रधान हैं। ये लोग, जैसा कि पीछे बताया गया, किसी काल में बंगाल की प्रमुख जाति और भूस्वामी थे। वर्तमान बंगाल की अधिकतर देहाती जन संख्या इन्हीं से निर्मित है। अब किसानों को 'हाली कैवर्त्त' और मछेरों को 'माझी कैवर्त्त' कहते हैं। आधुनिक शिक्षा, व्यवसाय और उद्योग धंधों की बदौलत इन लोगों के कुछ परिवार अब काफी धनवान और सुसंस्कृत हो गए हैं।

बंगाल में कुछ वैश्य जातियां भी मिलती हैं, जिन्हें यहां 'बेने' (बनिया) कहते हैं। परन्तु बंगाली समाज में ये लोग कुछ अधिक प्रतिष्ठित नहीं हैं, और संख्या की दृष्टि से ही कोई विशेष प्रभाव रखते हैं। कहीं-कहीं तो इन्हें शूद्रों में ही गिन लिया जाता है। जो वंशागत रूप से दुकानदारी नहीं करते वे स्वयं को

वैद्यो मे गिनते हैं।

बगाल मे क्षत्रिय नाम की कोई स्थानीय जाति नही है। पुराने ग्रथो मे 'झल्ल' 'मल्ल' आदि क्षत्रिय नाम अवश्य आते हैं, परन्तु प्राचीन काल मे क्षत्रियों के भारी सख्या मे यहाँ बसने या अपना आधिपत्य स्थापित करने का कोई सकेत नही मिलता। वर्तमान बगाल मे जो लोग स्वय को क्षत्रिय कहते हैं, वे दरअसल मुग़ल काल में मानसिंह के साथ आने वाले राजपूत सामतो के वशज हैं। ये लोग प्राय: 'सिंह' नाम धरते हैं, और यही इनकी पहचान है। ये बंगाल के मुग़ल और ब्रिटिश कालीन सामत वर्ग का मुख्य अंग रहे हैं, और आज भी 'बड़े लोगों' मे गिने जाते हैं।

त्योहार

बगाली अपने त्योहारो को 'पूजा' कहते हैं। दुर्गा-पूजा (विजय दशमी) उन का राष्ट्रीय उत्सव है, जो दस दिन तक मनाया जाता है। इस अवसर पर उत्तर-भारत के दशहरे क तरह राम-लीला अथवा रावण आदि के पुतले जलाने की प्रथा नही है। बगाल मे दुर्गा की पूजा शेर पर सवार दस हाथो वाली महिषासुर मर्दनी के रूप में होती है। उसके दाएँ-बाएँ लक्ष्मी और सरस्वती तथा गणेश और कार्तिकेय रहते हैं। नीचे धरती पर बर्छे से छिदा हुआ महिषासुर पड़ा रहता है। बगाल मे देवी को 'महामाया' भी कहते हैं।

एक प्रकार से बगाली समाज की सारी अर्थ-व्यवस्था इसी महोत्सव के इर्द-गिर्द घूमती है। महीनो पहले से इसकी तैयारी शुरू हो जाती है। यह प्रत्येक परिवार के लिए खर्च का सब से बड़ा अवसर, तथा पडितो, कारीगरो और दुकानदारो के लिए कमाई का खास मौका होता है। नए कपड़ों की खरीदारी से लेकर घर की मुरम्मत तक के सब काम इन्हीं दिनो मे सम्पन्न होते हैं। अतिम चार दिनो म पूजा के साथ-साथ विभिन्न सांस्कृतिक कार्य-क्रमों का आयोजन रहता है, जैसे 'यात्रा' (बगाल का लोक-नाट्य) नाटक, सिनेमा, नृत्य और सगीत, वक्तृताएँ और खेल-कूद की प्रतियोगिताएँ आदि। विजय-दशमी की शाम को देवी की शोभा-यात्रा चलती है, जिस के बाद मूर्ति को किसी नदी मे विसर्जित

कर दिया जाता है। दुर्गापूजा बगालियो के सामूहिक जीवन का एक ऐसा अभिन्न अग है कि जहाँ भी दस-बीस बगाली परिवार रहते हो, वहाँ वे कम से कम इस पूजा का आयोजन तो जरूर ही करते हैं।

दुर्गोत्सव के अलावा लक्ष्मी-पूजा, सरस्वती-पूजा, शिव पूजा, कृष्ण-पूजा, चरक-पूजा, धर्मठाकुर-पूजा, गणेश-पूजा, जगन्नाथ-पूजा (रथ-यात्रा), दोल-यात्रा और काली-पूजा बगाल के मुख्य त्योहार हैं। अतिम दो पूजाओ के साथ क्रमानुसार होली और दीवाली मनाई जाती है। इन सब अवसरो पर बगाल की एक सुन्दर लोक-कला का प्रदर्शन किया जाता है, जिसे 'अाल्पना' कहते हैं। चावल की पीठी मे रंग, हल्दी आदि मिलाकर उँगली या तिनके से फर्श और स्तभो पर बडी सुन्दर चित्रकारी की जाती है। यह चित्र-कला अब अनेक रूपो मे भारत के अन्य प्रदेशो मे भी प्रचलित है। 'चौकपूरना' आदि इसी के नमूने हैं।

बगाल के लोग अपने त्योहारो को पचायती ढग से मानते हैं। इसीलिए इन्हें 'बारोआरी' (सामुदायिक) पूजा कहा जाता है। इनके लिए जन-साधारण मे चन्दा वसूली एक नियम सा है। इन अवसरो पर जिस सास्कृतिक समानता का परिचय मिलता है, यह केवल हिन्दू सम्प्रदायो तक ही सीमित नही है, बल्कि हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच भी जन साधारण के स्तर पर ऐसी ही एकरूपता विद्यमान रही है। यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि बगाल मे 'पतुआ' कहलाने वाले मुसलमान मूर्ति-निर्माता न केवल हिन्दू देवी-देवताओ की प्रतिमाएँ ही बनाते हैं, बल्कि उनके प्रति एक प्रकार की धार्मिक श्रद्धा भी रखते हैं। अवश्य अब विभाजन के बाद से पूर्वी बगाल के मुसलमान, पाकिस्तानी राजनीति के प्रभावार्तगत, अपनी बहुत सी पुरानी हिन्दू परम्पराओं को त्याग चुके हैं, परन्तु जातीय और सास्कृतिक दृष्टि से बगाल के लोगो का विभाजन करना बहुत मुश्किल है। इसमे भविष्य के लिए क्या सदेश छिपा है, यह तो भविष्य ही बतलाएगा।

सगीत

बगाली सगीत अपने विचित्र माधुर्य के लिए विश्व-विख्यात है। वास्तव मे

तथाकथित 'बंगाल का जादू' यदि कुछ है, तो उसका संगीत ही है। कहते हैं बंगाली-गायिकाओं की आवाज भी अपेक्षया अधिक सुरीली होती है। शायद बंगाल की हरी भरी नर्म भूमि और कोमलवात वातावरण में ही कोई ऐसी बात है, जिससे यहाँ के गायकों के गले में इतनी मिठास आ गई है।

बंगाल में प्रचलित शास्त्रीय संगीत तो वही है, जो उत्तर-भारतीय (हिंदुस्तानी) शास्त्रीय संगीत कहलाता है, परन्तु इस क्षेत्र में भी बंगाली कलाकारों ने एक रोचक विधा विकसित की है, जिसे वे 'राग-प्रधान' कहते हैं। मोटे तौर पर बंगला गीत को शास्त्रीय राग-रागिनियों के स्वरों में गाने का नाम ही 'राग-प्रधान' है। यह उस्तादी गायन की अपेक्षा अधिक सरल, स्पष्ट और आनन्द-दायक होता है।

बंगाल का अपना विशिष्ट संगीत रूप 'कीर्तन' है। इसका प्रारम्भ सम्भवतः १४वीं शती के शुरू में हुआ था, और चैतन्य महाप्रभु ने इसे अपने वैष्णव-मत-प्रचार के एक प्रभावी साधन के रूप में विकसित किया था। इस प्रकार यह शुरू ही से कृष्ण-भक्ति प्रधान संगीत चला आ रहा है, यद्यपि यह कोई अनिवार्य नियम नहीं है। कीर्तन को आप बंगाल का अपना देशीय शास्त्रीय संगीत कह सकते हैं। यह सुनने में जितना मधुर होता है, उतना ही इसका गायन कठिन है। इसके अनुकरण में अब बहुत से हिन्दी कीर्तन भी बन गए हैं। यह भजन गाने की सबसे सुन्दर और सुविकसित शैली है।

लोक-संगीत के क्षेत्र में बंगाल के पास बहुत समृद्ध भंडार है। इसमें सबसे पहले पूर्वी बंगाल के मल्लाहों की 'भटियाली' का नाम लिया जाना चाहिए, जिसे बंगाल का सर्वश्रेष्ठ लोक-संगीत माना जाता है। एक और लोक-संगीत 'बाउल' के नाम से प्रसिद्ध है। 'बाउल' शब्द 'बावला' अर्थात् पागल से निकला है, जो दरअसल इस संगीत को गाने वाले रहस्यवादी घुमक्कड़ साधुओं का नाम है। ये साधुई गीत साधारणतः एक विशेष प्रकार के एकतारे के साथ गाए जाते हैं, जिसके तुंबे में से ताल देने के लिए विचित्र ध्वनि उत्पन्न की जाती है।

बंगाली बड़े भावुक और अनुभवशील लोग हैं। उनके स्वभाव में एक विशेष मृदुता रहती है, और जैसा कि पीछे बताया गया, ईश्वर को माँ के रूप में

देखना इनकी एक प्रिय प्रवृत्ति है। इसी से 'दयाम-संगीत' और 'काली-कीर्तन' का जन्म हुआ है। ये कीर्तन के ही प्रकार हैं। इनमें धार्मिक भावावेश अपने अंतिम चरण पर पहुँच जाता है।

भगवान शिव को जगाने के लिए 'गम्भीर गीत' गाए जाते हैं। इनमें शिवजी से कई प्रकार की शिकायतें की जाती है, अथवा उनका मजाक उड़ाया जाता है। कभी-कभी उनकी कथित दुर्दशा का चित्रण कर उन पर दया भी व्यक्त की जाती है। आधुनिक काल में राजनैतिक और सामाजिक उद्देश्यों के लिए इस लोक-संगीत का बहुत ही सफल प्रयोग हुआ है। एक और शैली 'पांचाली' कहलाती है, जो साधारणतः राधा-कृष्ण और शिव-पार्वती की प्रेम-कथाओं को गाकर सुनाने का नाम है। साथ-साथ गद्य में व्याख्या चलती रहती है।

परन्तु इन सब से बढ कर संगीत में बंगाल को जो अपूर्व देन है, वह अपने जन्म-दाता कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाम पर 'रवीन्द्र संगीत' कहलाती है। सुयोग्य विद्वानों ने इसे बंगाली संस्कृति की 'अमूल्य निधि तथा आधुनिक बंगाली संगीत का उत्कृष्टतम रूप' कहा है। जिस बंगाली संगीत पर सारा भारत मुग्ध है, वह रवीन्द्र संगीत ही है। यह बात स्मरणीय है कि स्वतन्त्र भारत का राष्ट्रीय गीत—जन गण मन—रवीन्द्र संगीत की शैली में ही स्वरबद्ध है। आधुनिक हिन्दी संगीत में भी यह शैली बहुत प्रचलित हो चली है; और फिल्मों में तो इसका प्रायः ही अनुकरण किया जाता है।

प्रसिद्ध विप्लवी जन-कवि क़ाज़ी नज़रुलइस्लाम की बंगला ग़ज़ल और 'वीर-गीत' भी काफी लोक प्रिय हुए हैं। बंगला में मुसलमानी संगीत रूपों को लाने का श्रेय नज़रुलइस्लाम को ही प्राप्त है। परन्तु उनके वीर-गीत हिन्दू राष्ट्रीय भावनाओं को लेकर ही निर्मित हुए हैं। उनका संगीत आज भी गाया जाता है, यद्यपि विभाजन के बाद से पहले जितना लोक प्रिय नहीं रहा।

लोक-नृत्य

बंगाल के कई संगीत-रूपों के साथ उनके नृत्य रूप भी हैं, जैसे कीर्तन-

नृत्य, बाउल-नृत्य और गम्भीर-नृत्य आदि। कीर्तन बंगाल का सबसे प्रचलित और सर्वजनप्रिय नृत्य-रूप है। इसका प्रारम्भ भी चैतन्य से माना जाता है। भक्तजन एक वृत्त मे घूमते हुए मृदग की ध्वनि के साथ हाथ उठा-उठा कर नाचते हैं। कभी-कभी जब कीर्तन मडली इस प्रकार नृत्य करती हुई नगर मे घूमती है, तब इसे 'नगर-कीर्तन' कहते हैं।

बंगाल के लोक-नृत्य अधिकतर धार्मिक हैं। इनमे मैमनसिंह क्षेत्र के नृत्य ही अधिक प्रसिद्ध हैं। ये साधारणतः नकली चेहरे लगाकर किए जाते हैं। महादेव नृत्य, काली नृत्य आदि इसके विशेष प्रकार हैं। बगाल की हिन्दू स्त्रियों मे लोक-नृत्य का रिवाज बहुत दिनों से न होने के बराबर है। परन्तु जैसूर जिले मे, जो अब पूर्वी पाकिस्तान मे है, राजघाट नामक ग्राम की ब्राह्मण महिलाओ का 'व्रत' अथवा 'घट ओलान' नृत्य का नाम अब भी सुनने मे आता है।

लोक-नृत्य के क्षेत्र मे गुरु सदयदत्त का 'व्रताचारी आन्दोलन' बगाल की एक विशेष देन है। उसमे जन-साधारण के परम्परित लोक-नृत्यो को आधुनिक व्यायाम के मिश्रण से राष्ट्रीय अनुशासन का रूप दिया गया है। यह सामूहिक नृत्य-रूप स्कूलो आदि मे खूब प्रचलित है, और यह एक प्रकार की कलात्मक ड्रिल ही है।

बगाल के आदिवासियो के अपने अलग नृत्य हैं। इन मे सथालो के नृत्य विशेष दर्शनीय होते हैं। रवि ठाकुर ने शातिनिकेतन के आस-पास रहने वाले सथालों के कई पुराने नृत्यो का आविष्कार किया था, और उनके आधार पर नए नृत्य-रूप सगठित किए थे। कुछ जातियो मे प्राचीन युद्ध-नृत्यो के अवशेष भी देखने को मिलते हैं। वर्धमान और वीरभूम के बाउरी और डोम आदि पिछड़ी जातियाँ 'रायवेशे' नृत्य करती हैं। इसमे बाण चढ़ाने, भाला फैंकने आदि की विभिन्न युद्ध-क्रियाओ का अनुकरण किया जाता है। इन्हीं लोगों का एक और नृत्य 'काठी' कहलाता है। इसमे हाथों मे छड़ियाँ होती हैं, जिससे इसका यह नाम पड़ा है। पुराने जमाने मे सम्भवतः तलवारें होती होंगी।

बगाल मे अभी तक प्राचीन लोक-नाट्य का एक रूप चला आ रहा है, जिसे 'यात्रा' कहते हैं। इसकी परम्परा चार सौ वर्ष से भी अधिक पुरानी है।

यात्रा दल स्थान-स्थान घूमते हैं और प्राय. बिना पर्दों वाले खुले रंग-मंच पर अभिनय करते हैं। कथानक अधिकतर रामायण, महाभारत अथवा सामान्य इतिहास पर आधारित होते हैं। परन्तु वर्तमान युग में बहुत से आधुनिक विषयों को लेकर भी यात्राएँ रची गई हैं।

शिल्प और कला

शिल्प की दृष्टि से बंगाल की परम्पराएँ बहुत ही सजीव हैं। कुटीर शिल्पों में हथकरघा, हाथीदांत, कांसी के बर्तन, मिट्टी और लकड़ी की मूर्तियाँ और खिलौने, मूंगे, सींग और शोला की वस्तुएँ, तथा बांस और चिटाई का काम उल्लेखनीय है। इन सब कामों में बंगाल की स्वाभाविक कला-प्रियता और शिल्प-साधना का परिचय मिलता है। बंगाल के लोग उपयोगिता के साथ सौंदर्य का सामावेश पसन्द करते हैं। इस लिए यहाँ नित्य व्यवहार की वस्तुओं में भी एक विशेष कलात्मकता और रूप-सृष्टि पर आग्रह रहता है।

वस्त्र-शिल्प में बंगाल का स्थान बहुत पुराने समय से ही गौरवमय रहा है। ढाके की मलमल देश-देशान्तर में प्रसिद्ध थी, और कशीदें के सौंदर्य के लिए जामदानी साड़ियाँ सर्वत्र सराही जाती थी। आज शांतिपुर की सुनेहली किनारी वाली उत्कृष्ट हथकरघा साड़ी का विशेष नाम है। बंगाली महिलाओं की रुचि से बंगाल का हथकरघा उद्योग विदेशी शोषण के युग में भी जीवित रहा, और आज सार्वजनिक समर्थन और राजकीय प्रोत्साहन से यह पुन उन्नत हो रहा है।

मूर्ति कला के क्षेत्र में बंगाल की परम्परा दो हजार वर्ष से भी अधिक पुरानी है। यहाँ आर्यों के आगमन से पहले स्थानीय जातियाँ नाग देवता, काली और महादेव की मिट्टी और लकड़ी की मूर्तियाँ बनाती थीं। पत्थर की मूर्तियों का रिवाज सम्भवत बुद्ध के समय से शुरू हुआ। बौद्धों के अनुकरण में नटराज तथा राधा-गोपाल और वेणु गोपाल के रूप में कृष्ण की पाषाण मूर्तियाँ बनने लगीं। परन्तु परम्परित रूप से बंगाल की विशेषता मिट्टी और लकड़ी की मूर्तियों में ही रही है। विभिन्न रंगों और वस्त्राभूषण की सहायता से प्रतिवर्ष

बनाई जाने वाली दुर्गा-चमुंडा की मिट्टी की मूर्तियाँ दर्शकों को चकित कर देती हैं। मिट्टी के खिलौनों का कुटीर-शिल्प तो वस्तुतः ललितकला के स्तर पर पहुँचा हुआ है। विविध मानवीय अवस्थाओं तथा मनोभावों को व्यक्त करने वाले कृष्णनगर के मिट्टी के खिलौने भारत में अद्वितीय हैं।

स्थापत्य में बंगाल के 'चार चाल' और 'आठ चाल' कहलाने वाले एक मंजिला और दो मंजिला कच्चे मकान एक अलग शैली के द्योतक हैं। देहात में गृह निर्माण का यह प्राचीन रूप आज भी दिखाई देता। उसके अनुसार चार दिवारी के ऊपरी किनारे थोड़ा चापाकार रखे जाते हैं,उस पर चार भागों में बँटी हुई फूस की छत चारों कोनों में नीचे को झुकी रहती है। वास्तव में यह *आस्ट्रेलियायी जाति का अपना विशिष्ट स्थापत्य है* और इसके लक्षण बंगाल से लेकर इन्डोनेशिया के बोरनियो द्वीप तक बराबर मिलते हैं। पहले पक्के मकान भी इसी प्रकार ढालवीं छतों वाले बनाए जाते थे और मन्दिर तो आज भी प्राय ऐसे ही बनाए जाते हैं। दक्षिणेश्वर का प्रसिद्ध मंदिर बंगाल की इस स्थापत्य-शैली का एक उत्कृष्ट नमूना है।

ललितकलाओं के क्षेत्र में बंगाल का विशेष नाम है। आधुनिक चित्रकला में जैमिनिराय से अनेक भारतीय कलाकारों ने प्रेरणा ग्रहण की है। महाकवि ठाकुर ने भी इस क्षेत्र में अपनी अलग कल्पना प्रधान पद्धति विकसित की थी, जो अवश्य बहुत कम लोगों की समझ में आती है। शास्त्रीय संगीत, नृत्य, नाटक और चलचित्र के क्षेत्रों में भी बंगाल का स्थान बहुत ऊँचा है। बंगाली फ़िल्में प्राय उच्च स्तर की होती हैं। सत्यजितराय और विमलराय जैसे फ़िल्म निर्देशक देश को बंगाल ने ही प्रदान किए हैं। नाटक में सम्भवतः बंगाल ही एक मात्र प्रदेश है, जहाँ आधुनिक ढंग का व्यावसायिक रंग-मंच आज भी चल रहा है। नृत्य में भरत नाटयम और अन्य शैलियों के आधार पर आधुनिक नृत्य नाटक का संगठन बंगाल की विशेष देन है। इस क्षेत्र में उदयशंकर का नाम तो विश्वविख्यात ही है।

भाषा और साहित्य

बंगालियों की भाषा बंगला है। परन्तु बंगला केवल वर्तमान बंगाल तक

सीमित नही है। सम्पूर्ण अविभाजित बगाल के अतिरिक्त दक्षिणी आसाम और पूर्वी विहार के कुछ सीमावर्ती क्षेत्रों की भाषा भी वंगला है। यह बात उल्लेखनीय है कि विभाजन के पूर्व देश मे हिन्दी के बाद दूसरा नम्बर वंगला वोलने वालों का था।

वगला एक उत्तम आर्य भाषा है, और यद्यपि इस मे बहुत से स्थानीय अनार्य तत्वो का समावेश हुआ है, परन्तु यह एक विचित्र बात है कि आधुनिक उत्तर-भारतीय आर्य भाषाओ मे वगला ही संस्कृत के सर्वाधिक निकट है।

पूर्वी भारत की अन्य तीन मुख्य भाषाओ—असमिया, उड़िया और विहारी—की तरह वगला भी मागधी अपभ्रंश से निकली हुई मानी जाती है। उस की वोलियो के दो वडे समूह हैः पश्चिमी वगला और पूर्वी वंगला, जिन्हे वगाल मे क्रमानुसार 'बांगला' और 'वागाल' कहा जाता है। दोनों क्षेत्रो मे लेखन और साहित्य का प्रतिमान पश्चिमी वगला को माना जाता है। लिपि देवनागरी का एक परिवर्तित और अधिक सुचारू रूप है।

वगला एक अत्यन्त विकसित, समर्थ और समृद्ध भाषा है। उसमे तत्सम शब्दो की भरमार रहती है। यहाँ तक कि पाडित्यपूर्ण साहित्यिक वंगला और सस्कृत मे कोई अन्तर ही शेष नहीं रहता। सब जानते हैं कि भारत के दोनो राष्ट्रीय गीत—'वदे मातरम्' और 'जन गण मन' रचना की दृष्टि से वगला मे हैं, परन्तु उन की भाषा इतनी सस्कृतमय हो गई कि उन्हे एक प्रकार से सस्कृत गीत ही मान लिया गया है। सम्भवत उनके अखिल भारतीय मान्यता प्राप्त करने के कारणो मे उनका भाषा रूप ही मुख्य है।

वगला की विशेषता उसका उच्चारण है, जिसका शुद्ध अनुकरण अन्य भाषा-भाषियो के लिए कुछ कठिन सिद्ध होता है। वगला मे ह्रस्व स्वरों का उच्चारण भी प्रायः दीर्घ की तरह किया जाता है। इससे वगला का वह विशिष्ट 'लहजा' वनता है, जिसके कारण वह मधुर भी लगती है और कठिन भी।

साहित्य की दृष्टि से आदि वंगला का सब से पुराना नमूना 'चर्या गीतो को माना जाता है, जो नेपाल के सरकारी पुस्तकालय मे उपलब्ध हुए थे। इन

गीतों का समय १००० ई० से १२०० ई० तक अनुमानित है, यद्यपि कुछ विद्वान इन्हें आठवीं शती ईस्वी तक पीछे ले जाने की चेष्टा भी करते रहे हैं । ये चर्या-गीत वास्तव मे महायान बौद्ध धर्म के सांकेतिक उपदेश हैं । और इन्हें सम्भवत. बौद्ध आचार्य बगाल से भागते समय अपने साथ नेपाल ले गए थे । ये मूल मागधी मे हैं ।

प्राचीनतम नमूनों मे जयदेव कृत 'गीतगोविन्द' का उल्लेख किया जा सकता है, जो अब केवल सस्कृत मे उपलब्ध हैं । कुछ विद्वानों का मत है कि यह अपने मूल रूप मे मागधी प्राकृत या प्राचीन वगला मे लिखा गया था । बाद मे पडितों ने इसे थोडा सशोधित कर सरल सस्कृत मे लिख लिया, और यह इसी रूप मे समस्त भारत मे प्रसिद्ध हुआ । जयदेव के कहे जाने वाले गीत आज उडीसा मे अधिक गाए जाते हैं ।

भाषा के वगला रूप का क्रमबद्ध विकास पन्द्रहवीं सोलहवी शती से शुरू होता है, जब चैतन्य के वैष्णव सुधारवाद से प्रेरणा पाकर अनेक कवियों ने राधा कृष्ण सम्बधी भावगीतो की रचना की । इन कवियों मे चडीदास, ज्ञानदास, गोविन्दास और मैथिली कवि विद्यापति के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं । इन वैष्णव सतों द्वारा जिन गेय पदों की रचना हुई, उन्हें 'पदावली' कहते हैं । ये वगला काव्य के उत्कृष्ट नमूने हैं, और इन का वाद के वगला साहित्य और जीवन पर गहरा प्रभाव पडा है । वास्तव म श्री चैतन्य और उनके साथियो ने वगाली जीवन पर अमिट छाप छोडी है । इन वैष्णवो मे चडीदास का स्थान विशेष है। परम्परित रूप से उन्हीं को वगला का सर्वप्रथम कवि माना जाता है । वह १४०० ई० मे पैदा हुए थे । उनकी भाषा आधुनिक वगला से बहुत कुछ भिन्न और मूल मागधी के अनुरूप थी ।

वैष्णवों के वाद कृत्तिवास ने रामायण का और काशीरामदास ने महाभारत का अनुवाद किया । सत्रहवीं शती में मुकुन्दराम चडी ने 'श्रीमत सौदागर' के नाम से दो लम्बी कविताए लिखीं, और अठारहवीं शती के ह्रासोन्मुख युग मे भारतचन्द्र और रामप्रसाद आये । भारतचन्द्र की विद्या सुन्दरी' के साथ ही पुरानी धारा का अत हो गया ।

ग्राधुनिक बंगला का प्रारम्भ उन्नीसवी शती के शुरू मे ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के साथ हुग्रा। यह शती गद्य-साहित्य के विकास की शती थी। हिन्दी ग्रौर उर्दू की तरह बगला गद्य की शुरुग्रात भी कलकत्ते के फोर्ट विलियम कॉलिज से हुई, परन्तु वहाँ कोई उल्लेखनीय साहित्य निर्मित नही हो सका सबसे पहला शक्तिशाली बगला गद्य राजा राममोहनराय के लेखो म मिलता है। वास्तव मे ग्राधुनिक बगला साहित्य का प्रारम्भ ही उनके सुधारवादी लेखो से मानना चाहिए। उनके ग्रलावा उन्नीसवी शती के ग्रन्य तीन साहित्यिक महारथी थे उपन्यासकार बकिमचन्द्र चटर्जी, नाटककार दीनबधु मित्र ग्रौर महाकवि माइकेल मधुसूदन दत्त। उन्नीसवी शती के एक ग्रौर युग-पुरुष थे पडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, जिन्होने शिक्षा के क्षेत्र मे बालक-बालिकाग्रो के लिए ग्रगणित पाठ्य पुस्तकें लिख कर बगाल की ग्रविस्मरणीय सेवा की।

वर्तमान शती के प्रारम्भ मे कवि रविन्द्रनाथ ठाकुर ग्रौर कथाकार शरत-चन्द्र चँटर्जी का उदय हुग्रा। उनकी रचनाग्रो के रूप मे बगला साहित्य ग्रपने परमोच्च विन्दु पर पहुँचा। कवि ठाकुर के प्रादुर्भाव तक यह साहित्य प्रधानत बगाली हिन्दू जातिवाद पर ग्राधारित रहा था। परन्तु ठाकुर ने उसे प्रांत से राष्ट्र ग्रौर राष्ट्र से ग्रतर्राष्ट्रीय मानवतवाद तक विस्तार दिया। इस प्रकार ग्राज का बँगला साहित्य, जो मुख्यत कवि ठाकुर से प्ररणा लेता है, वास्तविक ग्रर्थों मे ग्रतर्राष्ट्रीय साहित्य है। ग्रौर स्तर व विषय की दृष्टि से उसे विश्व के किसी भी साहित्य के सम्मुख रखा जा सकता है। कवि ठाकुर की राष्ट्रीय कविता का एक श्रेष्ठ उदाहरण हमारा राष्ट्रीय गान 'जन गण मन' है, ग्रौर उनकी 'गीताजली,' जिस पर उन्हें १९१३ म नोवल पुरस्कार मिला, तथा उन के नाटक, कहानियाँ ग्रौर दार्शनिक लेख बगला साहित्य की ग्रतर्राष्ट्रीय महानता के परिचायक हैं।

इसी काल मे काजी नजरुलइस्लाम भी एक भावुक कथाकार ग्रौर विप्लवी जन-कवि के रूप मे प्रसिद्ध हुए। उन्होने वीर-काव्य, विप्लवी गीत ग्रौर गजलें लिखी, जिनसे उन्ह शीघ्र ही लोक-प्रियता प्राप्त हुई। यह बड़े दुख का विषय है कि यह प्रतिभाशाली कवि विगत १५-१६ वर्षों से एक ग्रसाध्य मानसिक

रोग से ग्रस्त हो मृत-प्राय सा पड़ा है।

शरत् के बाद बंगला उपन्यासकारों में तीन बैनर्जी प्रसिद्ध हुए: विभूतिभूषण माणिक और ताराशंकर। इन में स्वर्गीय विभूतिभूषण की अमर कथा-कृति 'पथेर पांचाली' फिल्म् रूप में अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुकी है। माणिक की 'पद्मानदीर माझी' और 'पुतुल नाचेर इतिकथा,' तथा ताराशंकर का 'पंच ग्राम' और 'कवि' भी उच्च कोटि के उपन्यास हैं।

माणिक और ताराशंकर को वामपक्षियों के नेताओं में गिना जाता है। आज के बंगला साहित्य में कम्युनिस्ट विचार-धारा वाले वामपक्षी लेखकों का दल बहुत सुदृढ़ और प्रभावशाली है। इनमें 'साहिब बीबी गुलाम' के रचयिता विमल मित्र, शैलजानन्द मुखर्जी, मनोज बोस, सुबोध घोष, नरेन्द्रनाथ मित्र और गोपाल हालदार आदि कितने ही नाम गिनवाए जा सकते हैं। हास्य-रस के लेखकों में विभूतिभूषण मुखर्जी और राजशेखर बोस (परशुराम) बहुत प्रसिद्ध हैं। 'परशुराम' को हाल ही में केन्द्रीय साहित्य अकादेमी का पाँच हजार रुपये का पुरस्कार मिला है।

आज का बंगला साहित्य बहुत ही सजीव और समृद्ध साहित्य है। इसके सम्बंध में केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि भारत की प्रायः सभी आधुनिक भाषाओं के साहित्य का रूप और स्वर निर्धारित करने में इसका विशेष हाथ रहा है। इसके माध्यम से भारतीय जीवन और विचारधारा पर भी बंगाल का बहुत प्रबल प्रभाव पड़ा है।

भोजन और वस्त्र

चावल और मछली बंगालियों के प्रधान खाद्य हैं। चावल का साधारणतः भात बनाया जाता है। यह बंगालियों का मुख्य अन्न है, यहाँ तक कि भोजन के लिए भी 'भात' शब्द का ही प्रयोग होता है। लाई, खीर, चूड़ा आदि अनेक रूपों के अलावा चावल को भिगो-पीस कर नाना प्रकार के पकवान बनाए जाते हैं। चावल, नारियल और गुड़ से कितनी ही तरह की मिठाइयाँ बनाई जाती हैं। मछली भी सैंकड़ों प्रकार की होती हैं, और उसे तरह-तरह से खाया जाता है,

वास्तव मे बगालियो के यहाँ चावल और मछली के पकवान बनाना एक अलग ही कला के स्तर पर पहुँचा हुआ है।

बगाली भोजन में वस्तुएँ तो बहुत होती है, पर वे स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उपयुक्त हो, ऐसी बात नही है। सच तो यह है कि बगाली भोजन से यदि मछली को निकाल दिया जाए, तो कोई भी पौष्टिक वस्तु शेष नही रहती। सब्जियाँ प्राय तल कर खाई जाती है, और दूध दही जो लिया जाता है, वह अत्यत ही अल्प मात्रा में। खाना साधारणत सरसो के तेल में तैयार किया जाता है, घी का उपयोग नाम मात्र को ही है। इसके बावजूद बगाली भोजन पर खर्च बहुत उठता है।

बगाली भोजन के पक्ष मे केवल इतनी बात कही जा सकती है कि वह स्वादिष्ट होता है, विशेषकर बगाली मिठाइयाँ, जो अधिकतर पनीर से बनाई जाती हैं। इनमे रसगुल्ला और 'सदेश' (पनीर की बर्फी) सवश्रेष्ठ हैं। आज भारत म शायद ही कोई ऐसा शहर हो, जहाँ रसगुल्ले की नकल न की जाती हो। परन्तु जो बात बगाल और विशेषकर कलकत्ते के रसगुल्ल मे है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कलकत्ते का रसगुल्ला डिब्बो म बन्द होकर सारी दुनिया म जाता है।

बगाली भोजन जितना जटिल और खर्चीला है, बगाली वस्त्र उतना ही सादा और सस्ता होता है। देहात मे पुरुष केवल घुटनो तक की धोती बाँधते हैं, और पसीना पोछने के लिए कधे पर गमछा रख लेते हैं। शहरो म लोग साधारणत धोती के साथ अग्रजी कमीज पहन लेते हैं। पुराने विचारो के लोग बन्द गले का कोट भी इस्तेमाल करते हैं। धोती के साथ अग्रजी कोट भी चलता है। सर्दियो मे एक हल्की शाल पर्याप्त होती है, क्योकि सर्दी कुछ अधिक नहीं पड़ती। रजाई वगैरह की बहुत कम आवश्यकता होती है। बगाल मे ऊनी कपडा के बिना काम चल सकता है, परन्तु छतरी के बिना नही। प्राय सभी लोगो के पास छतरी जरूर होती है।

बगाली सज्जन अपने धोती बाधन के ढग से अलग पहचाने जा सकते हैं। वे धोती के दूसरे छोर को चुनिया कर झालर के रूप म सामने लटका लेते हैं।

यह 'कोचा' कहलाता है, और यही वास्तव मे बगाली धोती की विशिष्टता है। युवकगण 'कोचा' के एक सिरे को दूसरी लॉग के रूप में फिर पीछे टांग लेते हैं। इस से धोती चुस्त शलवार का रूप धारण कर जाती है। इस ढग से धोती बांधकर बगाली युवक फुटबाल खेलते हैं। किसी जमाने में लठैत और सिपाही लोग इसी प्रकार की धोती बांधते थे।

ढीले आस्तीनों वाला कुर्ता बगालियों का विशेष पहनावा है। परन्तु स्वय बगाल में इसे 'पजाबी' कहते हैं। 'पजाबी' के लिए रेशमी या ऊनी कपड़ा अधिक पसन्द किया जाता है, और इसके साथ रेशमी या ऊनी चादर का प्रयोग एक नियम सा है। धोती, कुर्ता और चादर—बस यही बगालियो का रस्मी देशीय वस्त्र है, और विशेष अवसरों पर हिन्दू-मुसलमान सब इसी वेश में नजर आते हैं।

घरेलू वस्त्र के तौर पर लुगी का भी काफी रिवाज है। मुसलमानो म इसका रिवाज ज्यादा है। यह एक प्रकार से उनका सामान्य वस्त्र है। परन्तु अब पूर्वी बगाल के हिन्दुओ की देखा-देखी और लुगी क सस्तेपन और सुविधा के कारण पश्चिमी बगाल के हिन्दुओ ने भी इस अपना लिया है।

बगाली धोती की तरह बगाली साडी का रूप भी विशिष्ट है। साडी को शरीर के चारो तरफ ढीला छोड दिया जाता है। इस प्रकार साडी बांधने से शरीर की बनावट का कुछ पता नहीं चलता, और बगाली स्त्री कुछ रहस्यमयी सी लगने लगती है। अवश्य यह तरीका कवल घरेलू पहनावे और पुरान विचारो की गृहिणियों तक ही सीमित रह गया है। अब तो पढ़ी लिखी बगाली लडकियाँ न केवल साडी ही आधुनिक ढग से चुस्त बांधन लगी हैं, बल्कि दुनियाँ म निकल कर नौकरियां भी करन लगी हैं। कोई जमाना था जब बगाली हिन्दू स्त्री भी 'पर्दानशी' होती थी, और उसके लिए जूती या स्लीपर तक पहनना निषिद्ध था।

बगाली नारी

भारत म बगाली नारी क सौंदर्य की बडी चर्चा की जाती है। यदि

सौंदर्य से अभिप्राय नाक-नक्शे का समुचित अनुपात है, तो कहना पड़ेगा कि बहुत कम बंगाली स्त्रियाँ सुन्दर होती हैं। बंगाली मुखाकृति साधरणत. मंगोलाकार है, जो सुन्दरता सम्बन्धी भारतीय आर्य धारणाओं से मेल नहीं खाती। परन्तु इस मे सदेह नही कि बंगाली स्त्री के काले लम्बे केशों और गहरी स्वप्निल आँखों तथा नारी-सुलभ कोमल हाव-भाव मे एक विचित्र मोहिनी होती है। बंगाली नारी का शृंगार तो वस्तुत अनुपम होता है। सुन्दर आभूषणों के अलावा जो बात खास तौर से ध्यान को आकृष्ट करती है, वह है बंगाली जूड़ा, जिसे 'खोपा' कहते हैं। लम्बी चोटी गूथ कर एक बड़ी कुंडली या चक्र के रूप मे जूड़ा बनाया जाता है, और उसमें बहुधा फूल लगाये जाते हैं। यह वास्तव मे बहुत ही आकर्षक होता है।

सारी दुनिया मे, और विशेषकर भारत में, रसोईघर पर महिलाओं का एकाधिकार रहता है। परन्तु बंगाल मे यह आधिपत्य सामान्य से कुछ अधिक ही है। बंगाल की मध्यमवर्गीय महिलाओं का सबसे बड़ा काम रसोई बनाना है। प्रात काल से आधी रात तक वे इसी काम मे जुटी रहती हैं। रसोई मे इतना समय लगने का एक कारण तो बंगाली स्त्री की स्वाभाविक मदगति है, परन्तु प्रधान कारण है बंगाली भोजन की विविधता। दोनो समय दसो प्रकार के खाने बनाने जरूरी हैं। पुरुष और युवकगण तो फिर भी बाहर घूम फिर कर इस जटिल भोजन को पचा लेते हैं, परन्तु महिलाओं और प्रौढ़ों के लिए तो यह वस्तुत: घातक सिद्ध होता है। परिणाम यह है कि मध्यमवर्गीय बंगाली स्त्री से ज्यादा अस्वस्थ और रुग्न प्राणी सारी दुनिया मे और कही नहीं मिल सकता। कुवारेपन मे तो वह किसी न किसी तरह अपना आकर्षण बनाए रखती है, परन्तु विवाह के बाद एक दो वर्षों म ही सारी चमक दमक गायब हो जाती है।

बंगाली चरित्र

आज का औसत बंगाली अपनी विचार धारा और मनोवृत्तियों की दृष्टि से उन्नीसवी शती के भारतीय इतिहास का परिणाम है। उस शती के प्रारम्भ से ही बंगाली हिन्दू समाज म अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार शुरू हो गया था और

ब्रिटिश शासन के निचले स्तरो पर बगालियो का एकाधिकार सा स्थापित होने लगा था। कलकत्ता भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी था, और बगाल भी 'बगाल महाप्रांत' था, अर्थात आसाम, बिहार और उडीसा के निकटवर्ती प्रदेश एक प्रकार से उसके अधीन थे। और इस सारे क्षेत्र मे अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त किए हुये बगाली कर्मचारियो का आधिपत्य था। इससे बगालियो और अन्य भारतीयो के बीच, जो अभी अ ग्रेजी शिक्षा और सरकारी नौकरी के सम्पर्क मे नही आए थे, एक मानसिक व्यवधान ने जन्म लिया।

१८५७ ई० के सिपाही विद्रोह तक, जिसे देश-भक्ति की भावना 'भारत का पहला स्वातत्र्य सग्राम कहने पर बाध्य करती है, यह स्थिति बन चुकी थी कि आसाम से लेकर उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रात तक बगाली बाबुओं को ब्रिटिश शासक वर्ग का अ ग समझा जाने लगा था। यही कारण है कि विद्रोह मे जहा अनेक स्थानो पर अ ग्रेज शासको का वध किया गया, वहाँ उनके बगाली कर्मचारियो को भी उत्पीडित किया गया। इससे भी बगाली समाज मे अन्य भारतीयो के प्रति अनेक अधविश्वासो की सृष्टि हुई।

दूसरी ओर उत्तर-भारत मे सबसे पहले अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क म आने से स्वय बगाली हिन्दू भी आधुनिक विचारों के क्षेत्र म अन्य भारतीयो से बहुत आगे निकल गये थे। १८५७ के बाद से बीसवीं शती के प्रारम्भ तक का काल खड बगाली हिन्दू समाज मे अ ग्रेजी शिक्षा के व्यापक प्रचार और उसके प्रभाव से स्वय बंगाली सस्कृति के अभूतपूर्व पुनरुत्थान और जागरण का युग था। राजनीति, धर्म, शिक्षा, समाज-सुधार, कला और साहित्य के क्षत्रो म बगाल के ऐतिहासिक महापुरुषो का उदय इसी काल म हुआ। राजा राममोहन राय, बकिमचन्द्र चटर्जी, माइकेल मधुसूदन दत्त, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, रामकृष्ण परमहस, केशवचन्द्र सेन, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, अरविन्द घोष, स्वामी विवेकानन्द, गिरीशचन्द्र घोष और रवीन्द्रनाथ ठाकुर उन सैकडों देदीप्यमान नामो म स कुछ हैं, जिन पर न केवल बगाल, बल्कि समस्त भारत गर्व करता है। परन्तु बगालियो का गर्व विशेष था, और वे इन

कारण स्वय को अन्य भारतीयों से कुछ श्रेष्ठ और भारत के 'स्वाभाविक बौद्धिक नेता' समझने लगे।

परन्तु इस परिस्थिति का एक तत्कालीन परिणाम यह भी हुआ कि बगालियो ने अपना सारा ध्यान और सारी शक्ति केवल बौद्धिक कार्यों पर लगा दी। व्यापार-वाणिज्य, प्राविधिक प्रशिक्षण और उद्योग-धधो की ओर वे न केवल बहुत कम प्रवृत्त हुए, बल्कि इन कामो, विशेषकर शारीरिक परिश्रम के कामो को वे अपनी मर्यादा से गिरा हुए समझने लगे। परिणामस्वरूप बगाल मे मजदूरी के सब कामो पर पडोसी प्रदेशो के लोगो का, तथा व्यापार और उद्योग धन्धों पर मारवाडियों का आधिपत्य हो गया। ये लोग चूँकि प्रचलित अर्थ मे प्रशिक्षित और बगालियों की दृष्टि मे असभ्य थे, इसलिए जब बगालियों ने उनको नमूना मानकर शेष भारत के सम्बन्ध मे अपनी धारणाएँ बनाईं, तो उनकी निज सम्बन्धी श्रेष्ठ भावना को स्वभावत ही बडा बल मिला।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बगाली चरित्र का मूल तत्व निज सम्बन्धी श्रेष्टता की भावना है, जिसे आप एक प्रकार की अहं ग्रंथि भी कह सकते हैं। यह ग्रन्थि कई प्रकार से अभिव्यक्त होती है, जैसे बगला बोलचाल म अन्य प्रदेशो की जनता के लिए अनेक तिरस्कारपूर्ण शब्दो का प्रयोग, अन्य भारतीय भाषाओ के प्रति उपेक्षा की भावना और राजनैतिक क्षत्र मे वह प्रसिद्ध नारा कि 'आज[1] बगाल जो कुछ सोचता है, कल शेष भारत वही सोचता है,' इत्यादि। औसत बगाली भारतेन्दु, प्रेमचन्द, प्रसाद या निराला के साहित्य का अध्ययन करना उपयोगी नही समझता, क्योंकि उसकी यह अटल पूर्व धारणा है कि ये लोग उसके अपने बकिमचन्द्र, मधुसूदन, शरत् और ठाकुर के समतुल्य कभी नहीं हो सकते। गरज जो धारणा उन्नीसवी शती की परिस्थितियों म बगालियो के मस्तिष्क मे बैठ गई थी, वह किसी न किसी रूप मे आज भी मौजूद है।

---

1 यह वाक्य दरअसल गोखले का है, पर बगालियों ने इसे एक प्रकार से अपना जातीय नारा बना लिया है।

बगाली स्वभाव की सब विशेषताएँ, जैसे प्रवासी बगालियो का स्थानीय लोगो से अलग-थलग रहना, बातचीत मे एक विशेष कृत्रिम मुद्रा बनाए रखना, अधिक बोलना, बहस करना (जिसे कुछ पर्यवेक्षको ने बगालियो की 'राष्ट्रीय क्रीडा' का नाम दिया है); सदैव इस भ्रम मे रहना कि लोग उनसे ईर्ष्या रखते हैं अथवा उन्हे हानि पहुँचाना और नीचा दिखाना चाहते हैं, इत्यादि। ये सब बातें उनकी उसी पुरानी श्रेष्ठ-भावना पर आधारित हैं, जो वर्तमान परिस्थितियों मे सर्वथा असगत और निरर्थक ही नही, बल्कि हास्यास्पद बन कर रह गई है। न बंगाली किसी दृष्टि से अन्य भारतीयो से श्रेष्ठ हैं, और न अन्य भारतीय उनसे किसी प्रकार की ईर्ष्या रखते हैं।

परन्तु जिस प्रकार बगालियो मे अन्य भारतीयो के प्रति एक प्रकार का परत्वभाव पाया जाता है, उसी प्रकार अन्य भारतीयो, विशेषकर उत्तर भारतीयो मे, बगालियों के सम्बन्ध मे अनेक अन्यायपूर्ण बातें प्रचलित हैं। एक विशेष धारणा, जो अवश्य बिल्कुल निराधार नहीं है, बगालियो के डरपोक होने की है। केवल दूसरे लोग ही उन्हें डरपोक समझते हो, ऐसी बात भी नहीं है। स्वयं बगालियो मे 'भीतु बागाली' सम्बन्धी परिहास चलता है। और भले ही वे दूसरो के सामने इस बात को स्वीकार न करें, पर यह तथ्य है कि एक समूह विशेष के रूप मे वे एक लडाकू या वीर जाति कभी नहीं रहे। इसके कुछ प्रकट भौगोलिक और ऐतिहासिक कारण हैं, जिनके सम्बन्ध मे पीछे बहुत कुछ बताया जा चुका है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि बगालियों मे वीरता का पूर्णतः अभाव ही रहा है। स्वतन्त्रता आन्दोलन और विशेषकर क्रातिकारी आतकवाद के दिनो मे कितने ही बगाली युवको ने वीरतापूर्वक अपने प्राणो की बलि दी है। वास्तव मे आज के बगाल को बनाने मे उन्नीसवीं शती के महान समाज-सुधारको और शिक्षा-विशारदो के बाद इन वीर विप्लवियो का योगदान ही सबसे अधिक रहा है। ब्रिटिश शासको ने बगालियों को 'असैनिक जाति' घोषित कर रखा था। परन्तु बगाली युवको ने इस कूटनीति और इससे उत्पन्न होने वाली धारणाओं का खडन करने की निरन्तर चेष्टाएँ की हैं। कुछ भी हो, इस मे सदेह नहीं कि बगाल ने समय-समय पर वीर पुरुषों को जन्म दिया है। और

आज के वैज्ञानिक यान्त्रिक युग में, जब कि युद्ध म निरी शारीरिक साहसिकता कुछ काम नही दे सकती, बंगाली सेनानायको को अपने विशेष गुणो का परिचय देने का बडा अच्छा अवसर मिल रहा है। आज भारत की सशस्त्र वाहिनियों, विशेषकर नौसेना और वायुसेना मे, बगाली सेनानायको की सख्या पर्याप्त है।

अत मे यह बात कहने की है कि आज का औसत बगाली किसी भी अन्य भारतीय की अपेक्षा अपनी परिस्थितियो से कही अधिक असन्तुष्ट है। साथ ही उसे इन परिस्थितियों से निकलने का कोई स्पष्ट मार्ग भी दिखाई नही पड रहा है। आज आप बगाल मे कही चले जाएँ, लोगो को घोर विवाद मे व्यस्त पाएँगे। ६० प्रतिशत हालतो मे यह वाद विवाद कुछ विशेष राजनैतिक विषयों को लेकर चलता है, जैसे बगाली समाज की पतनशीलता और स्वतन्त्रता के बाद का स्वप्न-भग आदि। वास्तव मे आज का बगाली एक शत प्रतिशत 'राजनैतिक जीव' है। और निरतर वार्तालाप और उत्तेजनापूर्ण वाद विवाद द्वारा वह सम्भवत अपने स्थायी असन्तोष की अभिव्यक्ति करता है! कुछ विचारको का मत है कि बगालियो के इस घोर असन्तोष और स्थायी उत्तेजना मे भविष्य के लिए विकट सम्भावनाओ के बीज छिपे है।

बिहारी

बिहार प्रदेश का वर्त्तमान नाम 'विहार' से बना है, जो पटना जिले में स्थित एक प्राचीन नगर है, और आजकल 'बिहार शरीफ' कहलाता है। यह किसी काल में इस प्रदेश की राजधानी रह चुका है। नवीं शती ईस्वी में इस स्थान पर एक बौद्ध विहार की स्थापना हुई थी, जिससे सम्भवतः इसका नाम पड़ा; और *आगे चलकर इसी नाम से सारे प्रदेश को अभिहित किया गया।* यह भी कहा जाता है कि यह प्रदेश चूंकि बौद्ध धर्म की जन्म-भूमि है, और यहाँ अगणित बौद्ध विहारो का निर्माण हुआ है, इसलिए भी इसे 'विहार' अथवा 'विहार' कहा जाता है। इस प्रदेश के निवासियो का अतीत अत्यन्त ही गौरव-पूर्ण है।

इतिहास

अथर्ववेद मे 'व्रात्य' जाति का नाम आता है, जो आर्यों के आगमन से पूर्व वर्त्तमान बिहार के दक्षिणी भाग म वास करती थी। आज के सथाल और अन्य आदिवासी गण सम्भवत उन्ही के वशज हैं। आज भी उत्तरी बिहार मे आर्य तत्व अधिक है और दक्षिण मे कोल-द्रविड तत्व।

कुछ विद्वानो का मत है कि ऋग्वेद मे जिस 'किकट' देश का नाम आया है, वही आगे चलकर आर्य युग मे मगध के नाम से प्रसिद्ध हुआ। रामायण, महाभारत और पुराणों म इस भूभाग के चार प्राचीन आर्य राज्यों के नाम

उल्लेखित हुए हैं। ये चार राज्य थे : विदेह, लिच्छवि, अग और मगध। इनमे मगध राज्य ही मध्ययुग के प्रारम्भ तक विद्यमान रहा। एक प्रकार से न केवल विहार, वल्कि समस्त उत्तरी भारत का प्राचीन इतिहास इसी शक्तिशाली राज्य के उत्थान और पतन का इतिहास है। इस दृष्टि से विहार प्राचीन भारत का केन्द्र था।

विदेह राज्य वर्त्तमान उत्तरी बिहार मे स्थित था। इस क्षेत्र का एक प्राचीन नाम 'तीरभुक्ति' भी था, जो आगे चल कर 'तिरहुत' हो गया। विदेह की राजधानी मिथिला थी। इस कारण ऐतिहासिक युग में यह राज्य मिथिला के नाम से अधिक प्रसिद्ध हुआ। सत्पथ ब्राह्मण के अनुसार बिहार में सब से पहली आर्य बस्ती विदेह माधव और उसके पुरोहित गौतम रघुगुण ने विदेह मे बसाई थी। पौराणिक युग मे इस राज्य के कई नरेश 'जनक' कहलाए। वे इतने शक्तिशाली थे कि पुराणों मे उन्हें सम्राट तक की उपाधि से अलकृत किया गया है। इन मे एक प्रसिद्ध जनक थे सीता के पिता शिरोध्वज।

मिथिला प्राचीन भारत मे आर्य सभ्यता, कला और सस्कृति का प्रधान केन्द्र थी। यहाँ के निवासी समस्त आर्यावर्त्त मे सब से ज्यादा सभ्य और सुसस्कृत माने जाते थे। भारतीय न्याय-शास्त्र के प्रणेता गौतम इसी राज्य मे हुए। नव-द्वीप (बगाल) के प्रसिद्ध दार्शनिक वसुदेव न यहीं के विद्वानों से शिक्षा प्राप्त की। उस युग के सब पडित अपना सम्बन्ध मिथिला से जोड़ते थे। कहा जाता है कि याज्ञवल्क्य और अन्य ऋषियों ने इसी राज्य के आश्रय मे उपनिषदों के महान दर्शन की रचना की थी। कौटिल्य के कथनानुसार विदेह राज्य का अंतिम जनक कराल था।

मिथिला के बाद मध्य विहार के शक्तिशाली मगध राज्य ने आर्य धर्म, सस्कृति और सभ्यता का नेतृत्व सभाला, और लगभग एक हजार वर्ष तक अपने इस स्थान को बनाए रखा। मिथिला और मगध से ही आर्य पुरोहित और राजागण बगाल, उड़ीसा और आसाम मे गए, और वहाँ उन्होने आर्य धर्म, सस्कृति और भाषा का साम्राज्य स्थापित किया। वास्तव मे समस्त पूर्वी भारत को प्राय. दो हजार वर्ष तक सस्कृत विद्या, धर्म और दर्शन की प्रेरणा बिहार

से मिलती रही। आज बंगाल को विशेषकर अपनी जिस भाषा और संस्कृति पर गर्व है, वह बिहार के इन्ही प्राचीन राज्यो की देन है।

विदेह राज्यके बाद वृजि संघ का विशेष उत्थान हुआ। इस संघ में वैशाली का लिच्छवि गणराज्य सब से प्रसिद्ध और मानवी इतिहास में सम्भवतः सब से पहला गणराज्य था। संस्कृत और पाली साहित्य मे वैशाली से सम्बन्धित कितनी ही रोचक कथाएं मिलती हैं। जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर ने इसी संघ-राज्य मे जन्म लिया था।

लिच्छवि गण मे ७७०७ श्रेष्ठ वंश थे, जो बारी-बारी से प्रशासन-कार्य चलाते थे। ऐसी राज्य-प्रणाली को श्रेष्ठों का गण-राज्य कहना उचित होगा। परन्तु राज्य का प्रशासन लोकतंत्रीय सिद्धांतों के अनुसार ही चलाया जाता था। स्वयं भगवान बुद्ध ने लिच्छवि गणराज्य को एक आदर्श राज्य के रूप मे अपने अनुयायियो के समक्ष रखा था, और उसकी राज्य-प्रणाली को समस्त राज्यो के लिए अनुसरणीय घोषित किया था। बाद के युग मे कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र का एक पूरा अध्याय सम्राट को यह परामर्श देने के निमित्त लिखा कि वैशाली जैसे सुदृढ़ गणराज्यों को किस प्रकार की कूटनीति द्वारा समाप्त किया जाना चाहिए। परन्तु कौटिल्य से छः सौ वर्ष बाद गुप्त वंश के संस्थापक सम्राट चन्द्रगुप्त प्रथम के समय में भी लिच्छवि गणराज्य विद्यमान था। स्वयं चन्द्र-गुप्त ने एक लिच्छवि राजकुमारी से विवाह किया और उस का पुत्र समुद्रगुप्त, जो 'प्राचीन भारत का नेपोलियन' के नाम से प्रसिद्ध है, स्वयं को 'लिच्छवियों का दौहित्र कहने मे गर्व अनुभव करता था। इस से पता चलता है कि लिच्छवि प्रायः एक गण राज्य के रूप मे एक हज़ार वर्ष से भी अधिक समय तक बने रहे।

अंग राज्य वर्तमान पूर्वी बिहार में महानन्दा नदी के तट तक फैला हुआ था। अंग और मगध मे निरन्तर संघर्ष रहता था। अंत में मगध सम्राट बिम्बि-सार ने अंग राजा ब्रह्मदत्त को पराजित कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। तब से अंग राज्य मगध के अधीन एक प्रान्त के रूप में रहा।

जैसा कि पीछे बताया गया, यह मगध राज्य ही था, जो न केवल बिहार, बल्कि समस्त उत्तरी भारत का राजनैतिक और सांस्कृतिक केन्द्र बना। इस

राज्य को ऐतिहासिक महत्व छटी शती ईस्वी से पूर्व मे प्राप्त हुआ, जब यह भूमि महावीर और गौतम बुद्ध के धर्मोपदेशो से गूंज उठी।

महाभारत के अनुसार मगध के पौराणिक सस्थापक का नाम था बृहद्रथ। उसी ने राजधानी राजगृह (राजगीर) की नीव रखी थी। उसके वंश मे जड़ासिंधु, और गयाशीर्ष आदि कई राजे हुए। एक कथा के अनुसार जड़ासिंधु को महाबली भीम ने श्री कृष्ण की सहायता से मारा था। महाभारत मे जिन सोलह चक्रवर्ती राजाओ का उल्लेख आया है, उन मे बृहद्रथ और प्राचीन गया के संस्थापक गयाशीर्ष के नाम भी हैं।

पुराणो के अनुसार बृहद्रथ के बाद शिशुनाग प्रथम का वंश चला। कुछ विद्वान बिम्बिसार को उस का वशज और कुछ उससे पहले का शासक बतलाते हैं। बिम्बिसार को महात्मा बुद्ध का समकालीन राजा माना जाता है। उसने अग पर अधिकार किया और मगध राज्य को विस्तार देने के ऐतिहासिक क्रम का सूत्रपात किया।

बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु ने कोशल के राजा प्रसेनजित को पराजित कर कोशल राजकुमारी से विवाह किया, और काशी को, जो उस समय कोशल राज्य मे था, दहेज के रूप मे प्राप्त किया। अजातशत्रु के पुत्र उदयभद्र ने पाटलिपुत्र के नाम से नई राजधानी स्थापित की, जो उसके बाद लगभग आठ सौ वर्ष तक समस्त भारत की राजधानी बनी रही। जिस प्रकार यूरोप मे रोमन साम्राज्य के उत्थान-काल मे 'सब रास्तो' के रोम की ओर जाने की कहावत थी, उसी प्रकार मगध राज्य के उस स्वर्ण युग मे सब रास्ते पाटलिपुत्र को जाते थे।

उदयभद्र के बाद कुछ अयोग्य राजे हुए। अततः प्रजा ने तंग आकर शिशुनाग द्वितीय के नाम से एक अमात्य को राजा बना दिया। उसके वश मे उल्लेखनीय राजा भद्रसेन हुआ, जिसने अपने राज्य-काल मे बहुत से बौद्ध विहार और स्तूप स्थापित किए।

भद्रसेन के बाद मगध के नौ राजे और हुए। अत मे नंद नामक एक शूद्र ने क्षत्रियो से राज्य छीन कर महापद्मनन्द के नाम से नन्द वंश की स्थापना की।

उसने मगध राज्य को चारों ओर विस्तार दिया, और ऐतिहासिक युग में भारत का प्रथम सम्राट कहलाने का अधिकारी बना।

महापद्म की मृत्यु पर उसके आठ बेटे एक दूसरे के बाद सिंहासनारूढ़ हुए। अंतिम नन्द धनानन्द सिकन्दर के भारत-आक्रमण के समय मगध का सम्राट था। कहा जाता है कि उसके प्रचंड प्रताप और शक्ति का विवरण सुन कर ही सिकन्दर महान पंजाब से लौट गया था।

नंद वंश को चन्द्रगुप्त मौर्य ने समाप्त किया। चन्द्रगुप्त चम्पारन के निकट रहने वाले पिप्पलिवन (पिपलीवन) नामक एक आर्य गण का प्रमुख था, और किसी कारण मगध से निर्वासित कर दिया गया था। सिकन्दर के भारत आक्रमण के समय वह पंजाब में था। बाद में उसने चाणक्य नामक अपने ब्राह्मण गुरु की सहायता से धनानन्द को पराजित कर मगध पर अधिकार कर लिया, और भारत का पहला ऐतिहासिक सम्राट बना।

सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के अधीन क्षेत्र में समस्त उत्तरी भारत, दक्षिण का बड़ा भाग, सौराष्ट्र और अफगानिस्तान का बड़ा भाग सम्मिलित था, और इस विशाल साम्राज्य का केन्द्र था, बिहार-स्थित पाटलिपुत्र।

मौर्य वंश के तीसरे सम्राट अशोक महान के राज्य-काल में मगध और पाटलिपुत्र के राजनीतिक और सांस्कृतिक महत्व की और अधिक वृद्धि हुई। अशोक द्वारा कलिंग विजय के युद्ध में भयानक नर-संहार के बाद राज्य की नीति को महान परिवर्तन हुआ। दिग्विजय के स्थान पर धर्म-विजय को प्राथमिकता दी गई। समस्त भारत में अशोक के शिला-लेख स्थापित हुए। अशोक के धर्म-दूत एक ओर श्रीलंका, वर्मा, तिब्बत और चीन तक और दूसरी ओर मध्य-एशिया, रूस, अल्बानिया, यूनान और मिश्र तक गए। अशोक केवल महानतम भारतीय सम्राट ही नहीं था, बल्कि विश्व के इतिहास में एक अद्वितीय शासक भी माना जाता है। एच० जी० वेल्ज के शब्दों में 'अशोक महान का नाम वोल्गा से जापान तक समस्त एशिया में सम्मान के साथ लिया जाता है। यह एक मात्र उदाहरण है जब किसी विजेता ने अपनी शक्ति और

प्रतिष्ठा के उच्चतम शिखर पर पहुँच कर युद्ध और दिग्विजय का मार्ग त्याग दिया हो।'

अशोक के बाद मौर्य वश मे छ. सम्राट और हुए, जिनमे दशरथ का नाम उल्लेखनीय है। अंतिम सम्राट बृहद्रथ द्वितीय था, जिसे उसके सेनापति पुष्य मित्र ने मार कर १८६ ईसा पूर्व मे सुगवश की स्थापना की। उस समय से ले कर पाँचवी शती ईस्वी तक के काल खंड मे पाटलिपुत्र को बाख्तरी यूनानियो और शको के निरतर आक्रमणो से भीषण क्षति पहुँची। शको ने पाटलिपुत्र की प्राय: आधी जनसख्या का वध किया और अगणित लोगों को वे दास बना कर अपने साथ ले गए। इन शताब्दियो मे पजाब, सिंध और गुजरात मे शको का आधिपत्य था।

पुष्यमित्र सु ग के राज्य काल मे पजाब के यूनानी राजा मिनेन्डर और कलिंग के राजा खारवेल ने मगध पर आक्रमण किए। पुष्यमित्र बौद्ध-धर्म विरोधी था। उसने बहुत से बौद्ध मठों को नष्ट भ्रष्ट किया। १४६ ई० पू० मे उसकी मृत्यु पर उसका पुत्र अग्निमित्र सिंहासनारूढ हुआ। आखिर ७२ ई० पू० मे अंतिम सु ग देवभूति का बध कर उसके ब्राह्मण मंत्री ने कण्व वश की स्थापना की। यह वश २६ ई० पू० तक चला, जिसके बाद आन्ध्र के सातवाहन वश ने मगध पर अधिकार कर लिया।

चौथी शती ईस्वी मे गुप्त वश के प्रादुर्भाव से कुछ काल पूर्व बचे खुचे मगध पर कोट वश के राजा सुन्दर वर्मण का राज्य था। गुप्त वश के प्रारंभिक दो सम्राटो चन्द्रगुप्त प्रथम और समुद्रगुप्त के राज्य काल मे पाटलिपुत्र ही राजधानी रहा। गुप्तसम्राट ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे। इस लिए भारतीय इतिहास मे गुप्त वश के राज्य काल को 'हिन्दुओ का स्वर्ण युग' कहा जाता है। समुद्रगुप्त ने राज्य को चारों ओर विस्तार दिया और शकों को पराजित कर मध्य देश पर अधिकार किया। तृतीय सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमाजीत ने उज्जैन को अधिक केन्द्रीय स्थान समझकर राजधानी वहाँ स्थानांतरित कर दी। तभी से पाटलिपुत्र के स्थान पर उज्जयिनी भारतीय राजनीति और संस्कृति का केन्द्र बनी, यद्यपि पाटलिपुत्र का महत्व भी किसी हद तक बना रहा।

चीनी यात्री फाहियान् ने ४०५-४११ ईस्वी के बीच उत्तरी भारत का भ्रमण करते हुए पाटलिपुत्र के अस्पतालों का उल्लेख किया है। परन्तु उसके दो शती बाद दूसरा चीनी यात्री ह्यून सांग लिखता है पाटलिपुत्र के पुराने खंडहरों में से केवल परकोटा ही शेष रह गया है। सैंकड़ों मन्दिर, मठ और स्तूप ध्वस्त हैं।' पाटलिपुत्र की यह दुर्दशा सभवतः हूणों के आक्रमणों से हुई होगी। हूणों ने गुप्त-युग के अंतिम दिनों में भारतीयों को बहुत ही उत्पीडित किया था। इतिहासकारों के मतानुसार गुप्त राज्य को समाप्त करने का कार्य इसी क्रूर जाति के हाथों सम्पन्न हुआ। संभवतः हूणों के आक्रमणों से पीडित हो कर ही पाटलिपुत्र और मगध के बहुत से लोग दक्षिण भारत में, और वहाँ से जावा, सुमात्रा और बाली द्वीपों पर जा बसे थे। उनकी संस्कृति के चिन्ह आज भी इन द्वीपों पर विद्यमान हैं। बाली द्वीप के वर्तमान निवासी तो धर्म की दृष्टि से भी हिन्दू हैं। इस प्रकार प्राचीन मगध के लोगों ने न केवल भारत में बल्कि भारत के बाहर भी आर्य संस्कृति को विस्तार देने में महत्वपूर्ण भाग लिया।

सातवीं आठवीं शती में बिहार पर चारों ओर से निरन्तर आक्रमण होने लगे। गौड (बगाल) के शशांक, थानेश्वर के हर्षवर्धन और कश्मीर के ललितादित्य ने मगध पर चढ़ाई की। तब यहाँ के लोगों ने गोपाल नामक एक सामंत को अपना राजा बनाया, गोपाल के पुत्र धर्मपाल और पौत्र देवपाल के राज्य-काल में बिहार एक बार फिर उन्नति की ओर अग्रसर हुआ। नालन्दा, विक्रमशिला और अन्य विश्वविद्यालय फिर एक बार आर्य ज्ञान विज्ञान, कला और संस्कृति के केन्द्र बने। नालन्दा में देवपाल के एक शिलालेख से पता चलता है कि जावा के राजा बालपुत्रदेव ने विश्वविद्यालय के लिए पाँच गाँव दान किए थे। उस समय नालन्दा में दस हजार विद्यार्थी पढ़ते थे, और वहाँ के आचार्य लंका, वर्मा, तिब्बत, मंगोलिया, कोरिया और जापान तक पढ़ाने जाते थे।

ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ में मिथिला पर बंगाल के सेन वंश का अधिपत्य था, और शेष बिहार अलग-अलग सामंतों के अधीन विभक्त था। पठान आक्रमण के समय पाल राज्य केवल पटना और मुंगेर तक सीमित रह गया था।

ऐसी अवस्था मे पठानो को विहार पर अधिकार करने मे कोई विशेष कठिनाई न हुई। ११६७ ईस्वी मे मुहम्मद गोरी के तुर्क सेनापति बख्तियार खिलजी ने सहज ही मे मध्यविहार पर अधिकार कर लिया। तवकात-ए-नासरी के अनुसार बख्तियार के बेटे मुहम्मद खिलजी ने नालन्दा के विशाल भवन को किला समझ कर केवल दो सौ घुडसवारो के साथ उस पर आक्रमण किया और देखते ही देखते उसके कई पुस्तकालयो और अन्य अमूल्य सास्कृतिक भडारो को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इस आक्रमण के बाद तीन सौ वर्ष तक यह प्रदेश दिल्ली सुल्तानो के अधीन रहा।

सोलहवी शती मे विहार पठानो और मुगलो के सघर्ष का रगस्थल बना। १५४१ ईस्वीं मे पठान सरदार शेरशाह ने विहार मे अपना स्वतत्र राज्य स्थापित कर उत्तरी-भारत से हुमायूँ को भगा दिया, और दिल्ली सम्राट के रूप मे सूरी वश की स्थापना की। वर्तमान पटना की नीव शेरशाह ने ही रखी थी। परन्तु बिहार पर पूर्ण मुसलमानी अधिकार अकवर के राज्य-काल में १५७४ ईस्वी मे हुआ। औरगजेव के पोते अजीम-उश-शान ने जब सूवेदार की हैसियत से पटना मे दरवार किया, तब उसने राजधानी को 'अजीमाबाद' का नाम दिया, जो मुसलमानो मे आज भी प्रचलित है। आखिर मुगल साम्राज्य के पतन के वाद १७६४ ईस्वी मे अग्रेजो ने बगाल के मीर कासिम को बक्सर की लडाई मे पराजित कर विहार को अपने साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया।

निरन्तर संघर्ष की रगभूमि

अग्रेजी शासन काल की प्रथम एक शती मे यह प्रदेश निरतर सघर्ष की रगभूमि बना रहा। अंग्रेजो ने बगाल की तरह विहार की भी सारी आर्थिक व्यवस्था अपने अधिकार म ले ली थी। शोरा, नील, खाड, कपडा और अफीम के व्यवसाय द्वारा वे विहार को दोनो हाथो से लूटने लगे थे। पर जितना भीषण यह आर्थिक शोषण था, उतनी ही भयकर उसकी प्रतिक्रिया हुई। विहार के लोगो ने अंग्रेजो की लूट-खसोट को चुपचाप सहन नहीं किया।

एक प्रकार से अँग्रेजो के सारे ही राज्य-काल मे बिहार सही मानो मे कभी भी शात नही हुआ। कोई न कोई विद्रोह, सघर्ष अथवा आन्दोलन सदैव ही वहाँ जारी रहा है। ब्रिटिश अधिकार के कुछ ही समय बाद टेकरी के राजा मित्रजित सिंह ने विद्रोह किया। उसने उत्तर-भारत से अँग्रेजो को निकालने के लिए अवध के वजीर सआदत अली की सहायता भी की। उसके बाद आदिवासियों ने शस्त्र उठाए। १८३१-३२ ई० मे छोटा नागपुर के कोल आदिवासियो ने भीषण विद्रोह किया। १८४५-४६ ई० मे स्वय राजधानी पटना मे विप्लवी षडयन्त्र किया गया। उसी काल म यह नगर मुसलमानों के वहाबी आन्दोलन का केन्द्र बना। सिपाही विद्रोह से कुछ ही समय पहले सथाल आदिवासियों ने भागलपुर से वर्धमान तक अपनी विप्लवी गतिविधियों का जाल फैला रखा था। १८५७ ई० के विद्रोह में तो बिहार का अधिकाश भाग एक प्रकार से स्वतन्त्र ही हो गया। शाहबाद स्थित जगदीशपुर राज्य के ८० वर्षीय राजपूत नरेश राजा कुवर सिंह के नेतृत्व मे बिहारी योद्धाओ ने अँग्रेजों को जिस प्रकार अनेको बार परास्त किया, वह भारतीय इतिहास का एक अविस्मरणीय अध्याय है। इस पर समस्त भारत गर्व करता है।

परन्तु बिहार के लोगों को अपनी उस देश भक्ति की बडी भारी कीमत चुकानी पडी। उन्होंने जिस दृढ़ता से अँग्रेजों का विरोध किया था, उतनी ही कठोरता और निर्दयता के साथ उन्हें दबाया और कुचला गया। परिणाम-स्वरूप अवध के पूर्वियों की तरह बिहार के अधिकांश लोग भी कई क्षेत्रो म अन्य प्रदेशीय लोगो से बहुत पिछड गए।

वर्तमान शती के प्रारम्भ में बिहार म फिर एक बार जागृति की लहर चली। यह बात उल्लेखनीय है कि आधुनिक भारत मे सगठित आतकवाद का सर्वप्रथम क्रियात्मक उदाहरण बिहार में ही प्रस्तुत किया गया, यद्यपि उसका श्रेय खुदिरामबोस और प्रफुल्ल चाकी नामक दो बगाली युवकों को प्राप्त हुआ।

बिहार के जिला चम्पारन मे नील के अँग्रेज जमीनदारों ने 'तीन काठिया' व्यवस्था लागू कर रखी थी। इसके अनुसार कृषकों को तीन काठा भूमि म

अनिवार्य रूप से नील बोनी पडती थी। इस अत्याचार के विरुद्ध आन्दोलन चलाने के लिए राजकुमार शुक्ल नामक एक कृषक कार्यकर्ता के अनुरोध पर गाधी जी पहले-पहल बिहार मे पधारे। तब से लेकर आज तक बिहार के लोग गाधीवाद और काग्रेसी राजनीति से सम्बद्ध चले आ रहे हैं। गाधी जी के प्रभाव से बिहार मे जिन स्थानीय नेताओ का उदय हुआ, उनमे कितने ही प्रथम श्रेणी के राष्ट्रीय नेता बने। उनमे से वर्तमान राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्र प्रसाद भारत को बिहार की सबसे बडी देन है।

काग्रेस के अहिंसात्मक स्वतत्रता-सग्राम और सत्याग्रह-कार्यक्रम मे बिहार ने सदैव ही बढ़-चढ कर भाग लिया है। १९२१ ई० के असहयोग आन्दोलन से लेकर १९४२ ई० के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन तक सब राष्ट्रीय हलचलों मे बिहारियों का योगदान अपेक्षया कुछ अधिक ही रहा है। इससे उनकी परम्परागत चली आ रही देश-भक्ति का प्रमाण मिलता है। वास्तव मे बिहार सदैव ही अखिल भारतीय राष्ट्रीयता के मार्ग पर अडिग रहा है। वह जैसे प्राचीन काल मे भारत का राजनैतिक केन्द्र था, वैसे ही आधुनिक काल मे भी उसने अपनी उस परम्परा को निभाया है। इसी लिए सुयोग्य विद्वानो ने बिहार को 'भारत का हृदय-पिंड' कहा है।

धर्म और समाज

बिहार एक हिन्दू प्रधान प्रदेश है। यदि अल्पसख्यक मुस्लिम सम्प्रदाय को छोड दिया जाए, तो बिहारी जनता को जाति (नस्ल) और धर्म के आधार पर दो बडे समूहो मे विभक्त किया जा सकता है साधारण हिन्दू और आदिवासी। हिन्दू नियमानुसार वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न जातियो और उपजातियो मे विभाजित और व्यवस्थित हैं, तथा आदिवासी अनेक गणो मे सगठित हैं।

हिन्दू साधारणत सनातन-धर्म के अनुयायी हैं, और आदिवासी प्राय. सभी तथाकथित प्रकृति-पूजक हैं। परन्तु निचले स्तरो पर उनके और हिन्दू जन-साधारण के धर्म मे भेद करना बहुत मुश्किल है। इसलिए कहीं-कहीं आदि-वासियो को हिन्दू ही माना जाता है। कई कबीले तो वास्तव मे हैं भी हिन्दू ही। यह बात केवल हिन्दुओ और आदिवासियो तक ही सीमित नहीं है, बल्कि

हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच भी जन-साधारण के स्तर पर ऐसा ही साम्य दिखाई देता है।

बंगाली और असमी मुसलमानो की तरह बिहारी मुसलमान जनता भी केवल नाम-मात्र को ही मुसलमान हैं। वे हिन्दुओ के साथ सूर्य-पूजा म सम्मिलित होते हैं, तथा हिन्दुओं की तरह उनमें भी दुल्हिन की मागमे सिन्दूर भरने का रिवाज है। हिन्दुओं के निजी पूजा-घरो की तरह मुसलमानो के घरों मे भी 'खुदाई-घर' होते हैं, जिन पर 'अल्लाह' और 'काली' दोनों ही नाम लिखे रहते हैं। केवल इतनी बात है कि मुसलमान अपने मजहब की लाज रखने के लिए प्रकट रूप से मूर्तिपूजा में सम्मिलित नहीं होते। अवश्य बीमार होने पर वे ब्राह्मण 'ओझा' पुरोहित को ही बुलाते हैं, जो रोगी पर संस्कृत मन्त्र फूंकता हैं। हिन्दू-देवी देवताओं की संतुष्टि के लिए उनके नाम पर मुर्गा, बकरा आदि की कुर्बानी देने की प्रथा भी उनमें प्रचलित है।

आम हिन्दुओ म काली की पूजा विशेष है। वही दुर्गा के रूप मे पटना नगर की इष्ट देवी भी है। शीतला, रक्षा-काली, धर्म-राज, मनसा और बच्चे के जन्म पर 'सष्टि' की पूजा भी हिन्दू-मुसलमाना मे समान रूप से प्रचलित हैं। हिन्दुओ मे सनातन धर्मियो के अतिरिक्त बौद्ध, जैन और वैष्णव धर्म के अनुयायियो तथा कबीर-पथी, नानक-शाही और 'अघित' नामक शैव सम्प्रदाय की गणना की जा सकती है, जिनका साधारण हिन्दुओ से केवल इतना ही मतभेद है कि वे जाति-पाँति को नहीं मानते। हिन्दुओ के शिक्षित वर्ग पर बगाल के ब्राह्मो-समाज और पजाब के आर्य-समाज का भी कुछ प्रभाव है, जबकि आदिवासियो म ईसाई धर्म का बहुत व्यापक प्रचार है।

नस्ल की दृष्टि से हिन्दू मिश्रित आर्य द्रविड हैं, और आदिवासी विशुद्ध द्रविड, कोल और अन्य आस्ट्रिक जातीय हैं। बिहार मे मंगोली तत्व केवल 'थारू नामक एक आदिवासी कबीले तक सीमित है, जो उत्तरी बिहार के जिला चम्पारन में, सम्भवत नेपाल से आकर बसा है। ये धर्म से हिन्दू हैं।

बिहार के हिन्दुओं, अर्थात् सनातन-धर्मी हिन्दुओ म जाति-पाँति की व्यवस्था बहुत रूढ़िग्रस्त है, परन्तु वर्णों के अनुसार वर्गीकरण इतना स्पष्ट नहीं

है। बहुत कुछ जटिल होने पर भी व्यक्ति को अपना कोई न कोई जाति-नाम बतलाना ही पडता है। बिहार में 'जाति' ही सब कुछ है। हर बात का निर्णय 'जाति' से होता है। खान-पान के बड़े कठोर नियम हैं। इस दृष्टि से समस्त भारत में सबसे ज्यादा प्रतिक्रियावादी जाति-पाँति व्यवस्था बिहार में है।

नियमानुसार ब्राह्मण सर्वोपरि हैं। बिहारी ब्राह्मणों की खास खास उप-जातियों में सारस्वत, कान्यकुब्ज, सकलद्वीपी और मैथिली की गणना की जा सकती है। मैथिली ब्राह्मणों का गढ़ दरभंगा है, जो आज भी संस्कृत विद्या का प्रसिद्ध केन्द्र है। मैथिली ब्राह्मण बड़े विद्या प्रेमी लोग हैं, और संस्कृत-ज्ञाताओं के रूप में समस्त भारत में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। परन्तु इनकी आर्थिक स्थिति कुछ अच्छी नहीं है।

दूसरे स्थान पर 'बाभन' या, 'बामन' हैं, जिन्हें बिहार (और अवध) की विशिष्ट जाति समझना चाहिए। इन लोगों के नाम, गोत्र और रीति-रिवाज आदि सब ब्राह्मणों जैसे ही हैं, परन्तु इन्हें पूरा ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। बिहारी जन-जीवन में इनका बड़ा प्रभाव और प्रतिष्ठा है। इन में मिश्र, पाडेय तिवाड़ी आदि ब्राह्मण उप-जाति नाम पाए जाते हैं, और राय, सिंह और ठाकुर आदि क्षत्रिय नाम भी मिलते हैं। एक प्रकार से इन्हें 'आधा ब्राह्मण' कहना चाहिए। बामन साधारणत भूमिहर (कृषक और जमींदार) हैं। ये काम अतीत में ब्राह्मणों की मर्यादा से गिरे हुए समझे जाते थे। इसलिए सम्भवत कुछ ब्राह्मणों ने जब पहले पहल खेती-बारी शुरू की, तो अन्य 'उच्च ब्राह्मणों' ने उन्हें बहिष्कृत कर 'बामन' का विकृत नाम दे दिया। बाद में उनके और राजपूतों के बीच सम्बंध स्थापित होने से वे आधे ब्राह्मण और आधे क्षत्रिय हो गए।

तीसरे स्थान पर राजपूत हैं। शाहाबाद के राजपूत फौज और पुलिस के कामों के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। ये बड़े लडाके, साहसी और अवसरवादी लोग होते हैं, तथा जीविकोपार्जन के लिए कोई भी काम शुरू करने अथवा कहीं भी जाने को तत्पर रहते हैं। बिहार के खत्री, खतौरी और सुनार आदि भी स्वयं को राजपूतों में ही गिनते हैं। इसमें संदेह नहीं कि मुगल साम्राज्य के पतन के

बाद बहुत से राजपूत सैनिक परिवारो ने सुनारी का धधा अपना लिया था। पजाब और हिन्दी प्रदेश मे भी आधे सुनार राजपूत हैं। और पटना शहर मे आधे राजपूत सुनार हैं।

चौथे स्थान पर वैश्य हैं। इन मे सबसे ऊपर अग्रवाल है, जिन्हे बिहारी वनिया समाज का प्रमुख कहना चाहिए। कुछ स्थानो पर, जहाँ कायस्थों को राजपूतों से ऊपर रखा जाता है, वहाँ ब्राह्मणों और कायस्थों के तुरन्त बाद अग्रवालो का स्थान है। फिर अग्रवालों के नीचे अन्य बनिया उपजातियाँ इस प्रकार से हैं: महेश्वरी, परावर, बार्नवाल, रूइनर, रस्तोगी, महोरी आदि-आदि।

कायस्थ लोग उत्तर-भारत के परम्परित 'लेखक' हैं। अपने पौराणिक प्रथम पुरुष चित्रगुप्त के समय से लेकर आज तक लिखना-पढना ही इनका मुख्य कार्य रहा है। इनकी स्त्रियाँ तक इतनी काफी शिक्षित होती हैं कि बडी-बडी जमीनदारियों और व्यवसायो का सचालन कर लेती हैं। इन्ही सब शैक्षणिक योग्यताओं के कारण ये लोग सदैव ही राजकीय पदों पर नियुक्त होते आए हैं। समय-समय पर जो भी राज-भाषा रही है, उस पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेना इनके यहाँ एक अनिवार्य नियम-सा है। इसी से कुछ विद्वानो का मत है कि कायस्थो की उत्पत्ति सम्भवतः उस आदिकाल में, जबकि वर्ण-व्यवस्था अभी स्पष्ट नही हो पाई थी, सबसे पहली मिश्रित जाति और सस्कृत-द्रविड द्विभाषियों के रूप में हुई होगी। 'कायस्थ' के शाब्दिक अर्थ से भी इस धारणा की पुष्टि होती है। ये ब्राह्मण विद्वानों के बाद हिन्दू समाज का सबसे ज्यादा शिक्षित और सुसस्कृत वर्ग हैं। यही कारण है कि अनेक स्थानो पर इन्हे ब्राह्मणो के समान स्थान दिया जाता है, यद्यपि वर्ण-व्यवस्था के अतर्गत इन्हे द्विजो में नहीं रखा जाता। बिहार मे भी कायस्थो का बडा मान और प्रभाव है।

शूद्रो मे अहीर बहुसख्यक हैं। ये ज्यादातर ग्वाले, गडरिये और कृषक हैं। इनके अलावा कोइरी, कुर्मी, अमात आदि कृषक, और कहार, कुम्हार, बलदार, कलवार, पासी, दुसाध आदि सेवक और कारीगर जातिया हैं।

जातियों की आतरिक व्यवस्था, नियत्रण और अनुशासन के लिए प्रायः

सारे ही भारत में जातीय पचायतो अथवा बिरादरी की परिपाटी रही है। बिहार मे भी विभिन्न जातियो की अपनी-अपनी पचायते हैं, जो साधारणतः बिना किसी निर्वाचन के बिरादरी के बड़े-बूढ़ो से निर्मित होती हैं। पहले ऊँची जातियो की भी अपनी जातीय पंचायतें हुआ करती थी, जैसे ब्राह्मणो के 'इकठ' जिन्हें समूह कहा जाता था। परन्तु अब शिक्षित वर्ग मे यह परिपाटी प्राय. समाप्त सी हो गई है। 'समूह' की परम्परा भी अब सम्भवत: केवल मैथिली ब्राह्मणो तक सीमित है। ऐसे अवसरो पर इनके यहाँ एक साथ अनेक शादियाँ सम्पन्न की जाती हैं। शूद्रो मे अवश्य पचायत अब भी बडी सुदृढ़ है। बिहार मे ऐसी जातीय पचायत को 'चटाई' कहते हैं, अर्थात जितने लोग एक चटाई पर बैठ गए, उनकी एक बिरादरी हुई। प्रत्येक पचायत का एक सरपंच या मुखिया होता है, जिसे दक्षिणी बिहार मे 'सरदार' कहते हैं। उसका सहायक 'मजन' कहलाता है। उत्तरी बिहार मे सरपच को 'मडल' कहते हैं, और कुछ मडलो का एक सरदार होता है। सरदार के सचिव को 'वारिक' या 'दीवान' कहते है। अवश्य अब गॉव-गॉव मे राजनीतिक आधार पर ग्राम-पचायतों की स्थापना हो जाने से जातीय पचायतो की सत्ता तथा सरदार आदि पदो की प्रतिष्ठा कुछ कम हो चली है। वैसे तो जाति-पाति की यह सारी व्यवस्था ही धीरे-धीरे टूट रही है। बिहार के लोग भी इस प्रक्रिया से अप्रभावित नही है। परन्तु इतनी बात है कि बिहार इस क्षेत्र मे अभी अन्य प्रदेशो से बहुत पीछे है।

अन्त मे यह बात कहने की है कि बिहार मे समाज व्यवस्था की रूप रेखा, जैसी कुछ भी है, वह बहुत अ श मे हिन्दी प्रदेश के अनुरूप ही है। यदि कुछ अन्तर है, तो केवल कुछ नामो मे। बिहार और हिन्दी प्रदेश के बीच कई अन्य बातो मे भी एकरूपता है, जैसे साहित्यिक और राजकीय क्षेत्र मे खडी बोली हिन्दी का प्रयोग, रहन-सहन और खान-पान, वस्त्राभूषण, मेले त्योहार आदि, तथा पारिवारिक सम्बन्ध, सार्वजनिक चरित्र, स्वभाव और अखिल भारतीय भावनाएँ। इन सब मे बिहार को हिन्दी प्रदेश से पृथक कर देखना बहुत कठिन है। हमारे देश मे अन्तर्प्रादेशिक विवाह की प्रथा न होने के बराबर है, परन्तु बिहार और हिन्दी प्रदेश के बीच इस विषय मे कोई भी सामाजिक अथवा भाषा

सम्बन्धी कठिनाई उपस्थित नही होती। इन सब कारणो से विहार को एक प्रकार से हिन्दी प्रदेश का ही एक अ ग समझा जाता है, यद्यपि विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से वह हिन्दी प्रदेश से बाहर है।

आदिवासी

विहार मे आदिवासियो की सख्या बहुत बडी है। ये अधिकतर दक्षिण विहार के छोटा नागपुर विभाग तथा सथाल परगाना मे बसे हुए हैं। वैसे सारे प्रदेश मे यत्र-तत्र इनकी बस्तियाँ मिलती हैं। भारतीय सविधान के अनुसार विहार में २६ अनुसूचित आदिवासी जन-जातियाँ हैं। इन्हें नस्ल और बोली के आधार पर दो बडे समूहो मे बाँटा जाता है। पहले बडे समूह मे अधिकतर कोल गणो की गणना की जाती है, और दूसरे में द्रविड गण 'ओराँव' की। 'ओराँवो' में कथा है कि वे दक्षिण से आए थे। कोलो मे, जिन्हे आस्ट्रेलियाई या आस्ट्रिक भी कहा जाता है, मुडा, हो, सथाल, बिरहोर, खरिया, ब्रिजिया, पहाडिया, शवर आदि गण प्रमुख हैं। ये सब मुडा बोलियाँ बोलते हैं। इन मे और द्रविड 'ओराँव' गण मे कोई भाषाई सम्बन्ध नही है। परन्तु नाक-नक्शे और शारीरिक गठन की दृष्टि से ये प्रायः एक से ही दीखते हैं। ये साधारणत घोर काले रग, छोटे कद, चौडी नाक और घने काले वालो वाले लोग हैं। प्राय सभी बडे साहसी, वीर और लडाकू होते हैं। इन मे कुछ तो सच-मुच बहुत सुन्दर दीखते हैं। जैसे मु डा समूह मे 'हो' गण के लोग हैं, जो 'लडाके कोल' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी स्त्रियाँ अपने सुन्दर शारीरिक गठन और तीखे नाक-नक्शे के कारण बडी आकर्षक लगती हैं। आदिवासियो के कुछ कबीले आज भी शिकार पर गुजारा करते हैं। वैसे अधिकतर कबीलो का मुख्य धधा पुरान ढग की खेती-बारी है।

जैसा कि पीछे बताया गया, विहार के आदिवासी अधिकतर छोटा नागपुर पठार के पाँच जिलो—राँची, हजारीबाग, सिहभूम, मानभूम और पालामऊ, तथा सथाल परगना म बसे हुए हैं। छोटा नागपुर जगली और पहाडी क्षेत्र है। जगलों के कारण यह मध्ययुग म 'झाड़-खड' कहलाता था। आज भी कुछ आदिवासी नेतागण 'स्वायत्त झाड़खड के नाम पर आन्दोलन चलात रहत हैं। छोटा नागपुर का वर्तमान नाम नागवशी राजाओ के नाम पर पड़ा था, जो

ध्ययुग मे इस क्षेत्र के राजा हुग्रा करते थे । 'चटिया' नाम का ग्राम, जो उन सरदारो के पुराने किले के खडहरा के समीप ग्राज भी विद्यमान है, उनकी राजधानी था । यही 'चटिया' नाम ग्राम बोलचाल म बिगड कर 'छोटा' हो गया, जिस से इस इलाके का नाम 'छोटा नागपुर' पडा ।

धर्म की दृष्टि से ग्रादिवासियों को प्रकृतिपूजक कहा जाता हे । पर सच तो यह है कि इनका धर्म हिन्दू धर्म का ही प्रारम्भिक ग्रनार्य रूप है । पहाडिया, भूमिज ग्रादि कुछ गणो को छोड कर, जो रीति-रिवाज की दृष्टि से भी हिन्दू हो गए हैं, शेष सभी गणो के ग्रपने ग्रलग धार्मिक विचार ग्रौर परिपाटियां है । ग्रवश्य इनमे एक 'परम सत्ता' मे ग्रवस्था पाई जाती है, जिसे मुडा, बिरहोर ग्रौर 'हो' कबीलो के लोग 'सिंह बोगा', खरिया कबीले के लोग 'पनोमसर' (परमेश्वर) ग्रथवा भगवान; ग्रोराव कबीले के लोग 'धर्मेस' ग्रौर सथाल लोग 'चन्द्र' या 'ठाकुर' कहते हैं । परन्तु साधारण हिन्दुग्रो की तरह ग्रादिवासियो मे भी प्रत्यक्षत: परमेश्वर की पूजा नहीं होती, बल्कि उसके किसी चिन्ह, जैसे सूर्य, चन्द्रमा ग्रादि, ग्रथवा ग्रन्य देवी-देवताग्रो ग्रौर प्रेतात्माग्रो की ग्राराधना की जाती है । पूर्वजो की पूजा भी इनके यहां प्रचलित है । कुछ ग्रादिवासी गणो, जैसे सौरिया पहाडिया, भूमिज ग्रौर चेरो ग्रादि ने हिन्दू रीति-रिवाज ग्रपना लिए हैं, जैसे मुर्दे को जलाना, ब्राह्मण पुरोहित को बुलाना, भैंस ग्रादि का मांस न खाना इत्यादि । भूमिज लोग ग्रपने नामो के ग्रागे 'सिंह' लगाते हैं, ग्रौर बंगला से मिलती-जुलती भाषा बोलते हैं । चेरो गण के सरदार पालामऊ क्षेत्र के राजा रहे हैं, तथा राजपूतो के साथ सम्बन्ध रहने के कारण स्वय को राजपूत ही बतलाते हैं ।

ग्रादिवासी ग्रामों मे सभा-समारोह, नृत्य-गान ग्रौर उत्सव ग्रादि के लिए एक निश्चित स्थान होता है, जिसे 'ग्रखाडा' कहते हैं । इसके ग्रलावा स्थानीय देवी देवताग्रो के निवास-स्थान के रूप मे 'सरन' नाम की एक जगह होती है । गांव का पुरोहित, जो 'पाहन' कहलाता है, इस स्थान पर जाकर देवी-देवताग्रो की पूजा कराता है । ग्रोरांव देहात में लडको ग्रौर लडकियों के लिए ग्रलग-ग्रलग प्रशिक्षण-गृह होते हैं, जिन्हे 'धुम कुडिया' कहते हैं। ये एक प्रकार के

सांझे घर होते हैं, जहाँ अल्प-वयस्को को उनके आगामी जीवन के लिए तैयार किया जाता है। लडको और लडकियो के परस्पर मिलने-जुलने पर कोई विशेष प्रतिबंध नही है। नाच-गान के अवसरो पर वे प्रायः मिलते ही हैं। परन्तु इस मेल मिलाप का परिणाम विवाह के रूप मे बहुत कम निकलता है, क्योकि इनके यहाँ एक ही गाँव मे शादी को कुछ अच्छा नही समझा जाता। शादी ब्याह के सम्बन्धो के लिए प्रत्येक गण विभिन्न उपगणो मे बटा हुआ है। ये उपगण हिन्दू गोत्रो के सदृश हैं। शादी केवल कबीले के अन्दर ही हो सकती है, परन्तु उपगण भिन्न-भिन्न होने चाहिए। इनके यहाँ विभिन्न गणो के युवक और युवति के बीच प्रेम सम्बन्ध की कल्पना भी नही की जा सकती। यदि कभी ऐसा हो जाए, तो रक्तपात हुए बिना नहीं रहता।

इन आदिवासियो मे स्त्रियों को यद्यपि सम्पत्ति के उत्तराधिकार प्राप्त नही, परन्तु समाज की आर्थिक व्यवस्था मे उनका स्थान बहुत ऊँचा है। घर की मालकिन होने के अलावा वे खेतो मे पुरुषो के साथ समान स्तर पर काम करती हैं। इनके अतिरिक्त नियत दिनो को किसी केन्द्रीय स्थान पर जो 'हाट' (बाजार) लगते हैं, उनका सचालन भी पूरी तरह से स्त्रियो के हाथ मे रहता है।

आदिवासियो की साधारण खुराक चावल, अरहर की दाल, शकरकदी, गोडो, कटहल और अन्य जगली फल, ज्वार और महुआ आदि हैं। ये मुर्गे, भेड, बकरी और सुअर के मांस का भक्षण करते हैं। इनके यहाँ साल मे चार महीने बडी मुश्किल से कटते हैं। तब ये लोग केवल ज्वार और महुआ खाकर गुजारा करते हैं। चावल या महुए से घर मे बनाई हुई शराब, जिसे ये लोग 'हडिया' या 'इल्ली' कहते हैं, तथा ताडी प्रायः सभी पीते हैं। सच तो यह है कि इनके कष्टो का एक प्रधान कारण अत्यधिक सुरापान भी है। ईसाई धर्म मे शराब पीने की जो छूट है, वह भी सम्भवत इन लोगो मे विदेशी मिशनरियो के प्रचार की सफलता का एक विशेष कारण है। इसके साथ ही इन मिश-नरियों के प्रभाव से इन लोगों के रहन-सहन और वस्त्रादि म भी भारी परि-वर्तन हो रहे हैं। आदिवासी पुरुषों का सामान्य वस्त्र केवल एक लगोटी या

छोटी धोती तक सीमित है, जिसे वे घुटनों से ऊपर बांध कर पीछे टांग लेते हैं। स्त्रियाँ धोती को वैसे ही घुटनों तक लटका लेती हैं। ऊपर का शरीर प्राय. नगा ही रहता है, बच्चे सात-आठ वर्ष की उम्र तक बिल्कुल ही नंगे रहते हैं। स्त्रियों में बदन गुदवाने का बहुत रिवाज है। ये अपने चेहरे, बाहों और वक्षस्थल पर नाना प्रकार की फूल-पत्तियाँ और रेखा-चित्र खुदवाती हैं। कई कबीलों में तो लडकी का बदन गुदा हुआ न हो, तो उसकी शादी ही नहीं होती। इन वर्बर प्रथाओं के बावजूद ये लोग अपनी शारीरिक स्वच्छता के लिए मशहूर हैं। स्त्रियाँ अपने बालों को पुष्प आदि से सजाती हैं। और स्त्री-पुरुष और लड़के सभी सिर में तेल लगा कर अपने लम्बे बालों को खूब साफ-सुथरा रखते हैं। इस काम के लिए वे सिखों की तरह बालों में ही लकड़ी का एक कंघा लगाये रखते हैं। आजकल इन लोगों में ईसाई धर्म के प्रचार और शहरी सभ्यता के प्रभाव से जहाँ कुछ प्रगति हो रही है वहाँ नाना प्रकार के राजनीतिक झगड़े भी उठ खड़े हुए हैं।

लोक-नृत्य

विहार के लोक-नृत्यों में सिंहभूम जिले के सरायकेला और खरसवान क्षेत्रों का 'छौ' नृत्य बहुत प्रसिद्ध है। भूतपूर्व सरायकेला राज्य और उड़ीसा के मयुरभंज राज्य के नरेश इसे विशेष प्रोत्साहन देते थे। यहाँ तक कि सरायकेला के राजकुमार सुधेन्द्र नारायण सिंह इस नृत्य के कलाकारों का एक दल १९३८ में यूरोप ले गये थे। 'छौ' नर्तक साधारणत नकली चेहरे लगाकर नाचते हैं। इससे नृत्य का सगठन केवल हाथ-पैरों की गति और अंग सचालन में होता है। कहानी साधारणत हिन्दू देवमाला से ली जाती है। वास्तव में यह एक उत्तम कला है, और विषय की दृष्टि से शास्त्रीय-नृत्य के स्तर तक पहुँचता है। यह केवल पुरुषों का नृत्य है, स्त्रियाँ इस में भाग नहीं लेतीं।

मिथिला की स्त्रियों म 'जत-जतिन' नाम का एक नृत्य बहुत प्रिय है। यह युवतियों का नृत्य है, और साधारणत चौमासे की चाँदनी रातों में किसी आँगन में किया जाता है। ढोलक की ताल पर नृत्य करती हुई युवतियाँ जटा और जटिन की प्रेम-कथा मुद्राओं द्वारा व्यक्त करती हैं।

विहार मे सबसे सजीव नृत्य आदिवासियो के हैं। 'हो' गण के नृत्य हर्षोल्लास से परिपूर्ण होते हैं। इनका 'माघे' नृत्य धार्मिक महत्त्व रखता है। इसके द्वारा 'दसौली' नामक एक वन देवता को जगाया जाता है। वसत-ऋतु मे ये लोग 'वा' त्योहार मनाते हैं। तव घरो को ताजा फूलो से सजाया जाता है, और तीन दिन तक नृत्य और सगीत का कार्यक्रम चलता है। फसल की वोग्राई-कटाई ग्रादि तथा शादी-व्याह के अवसरो के लिए भी अनेक प्रकार के नृत्य हैं।

'ओरांव' लोगो के नृत्य ऋतुओ के साथ चलते हैं। वसत मे ये 'यदुर' नृत्य करते हैं, जिसका अर्थ ओरांव बोली मे वसत है। इसमे ढोल की ध्वनि से सागर की गरज उत्पन्न की जाती है, और नर्तको के पैरो की गति से लहरो का अनुकरण किया जाता है। ओरांव लोगो का ग्रीष्मकाल का नृत्य 'सरहुल' कहलाता है। इस मे कोई वादन नहीं होता। केवल गीत चलता है, और 'हो, हो' के नारे लगाये जाते हैं। यह वास्तव मे एक युद्ध-नृत्य है। वर्षा-ऋतु के नृत्य और गीत 'करमा' कहलाते है। इनमे पुरुष और युवतियाँ कधो पर डडे लेकर नाचती हैं। इनके अलावा ओरांवो के 'माया', लुकरी' और झूमर' आदि कई प्रकार के नृत्य हैं। इन सभी नृत्यो मे एक पक्ति पुरुषों की होती है, और दूसरी युवतियों की। उनका एक दूसरे की ओर बढने और फिर हटने की गति से नृत्य का सगठन होता है।

पक्तिबद्ध नृत्य सथालो की विशेषता है। वे अपने नृत्यो मे अनेक सासारिक क्रियाओ का अनुकरण करते हैं, जैसे फसल बोना काटना, अनाज छांटना, शिकार की तैयारी आदि। चांदनी रातों मे युवकगण ढोल बजाकर युवतियों को नाच का आमत्रण देते हैं। तभी वसत मे फूलो और शीतकाल मे परो से सजी हुई सथाल युवतियाँ खुले मैदान मे एकत्र हो जाती हैं। वे बाहो का जजीरा सा बनाकर पक्तिबद्ध खडी हो जाती हैं, और ताल की सगति करती हुई हचकोले से लेने लगती हैं। उनका ताल-बद्ध अग-सचालन वस्तुत देखने योग्य होता है।

भाषा और साहित्य

बिहार की भाषा बिहारी है, जिसे बंगला की बहन कहना चाहिए। पूर्वी वर्ग की अन्य तीन भाषाओं—असमी, बंगला और उडिया-की तरह बिहारी भी मगधी प्राकृत के अपभ्रंश रूप से निकली है। वास्तव में यह मगधी का सबसे स्पष्ट आधुनिक रूप है। परन्तु कुछ विद्वान इसे पूर्वी हिन्दी की सबसे पूर्वी शाखा भी कहते हैं, और इस धारणावश इसकी तीनो मुख्य बोलियो—मगही, मैथिली और भोजपुरी-को अवधी, बघेली आदि के साथ विस्तृत हिन्दी परिवार मे शामिल कर लेते हैं। इसी प्रकार बंगला वाले भी इन बोलियो, विशेषकर मैथिली पर अपना हक जताते रहते हैं। परन्तु वास्तव मे ये बोलियां न हिन्दी हैं, और न बंगला ही, बल्कि एक अलग ही भाषा की शाखाएँ हैं, जिनमे से कम से कम मैथिली तो अपना स्वतंत्र और समृद्ध साहित्य भी रखती है।

मगही बिहारी की केन्द्रीय बोली तथा प्राचीन मगधी का आधुनिकतम रूप है। परन्तु अब यह केवल एक बोली मात्र रह गई है, और बोली भी गँवारू मानी जाती है। इसमे कोई विशेष लिखित साहित्य नही है। इसका क्षेत्र मध्य बिहार से बंगाल की सीमा तक है, जहां यह बंगला म विलीन हो जाती है। भोजपुरी का केन्द्र जिला शाहबाद या भोजपुर परगना है, जिससे इसका नाम पडा है। इसका क्षेत्र दक्षिण मे छोटा नागपुर तक और उत्तर मे चम्पारन और उत्तर-प्रदेश के वारानसी क्षेत्र तक फैला हुआ है। मगही और मैथिली एक सी बोलियाँ हैं, परन्तु भोजपुरी कुछ भिन्न है। यदि उसमे कोई विशेष लिखित साहित्य होता, तो उसे एक स्वतंत्र भाषा का स्थान दिया जा सकता था। परन्तु मगही की तरह भोजपुरी म भी अधिकतर केवल मौखिक लोक साहित्य और गीत आदि ही उपलब्ध है। इन दोनो बोलियो के लिए कैथी लिपि का प्रयोग किया जाता है, जो कायस्थ लेखको की घडी हुई लिपि बतलाई जाती है।

साहित्य की दृष्टि से केवल मैथिली ही उल्लेखनीय है, जो प्राय. सारे उत्तर बिहार—तिरहुत—की बोली होने के नाते 'तिरहुती' भी कहलाती है। इसका केन्द्र जिला दरभगा और क्षेत्र बंगाल की सीमा तक है। इसके लिए

देवनागरी और मैथिली लिपियों का प्रयोग किया जाता है।

मैथिली का इतिहास बहुत पुराना है। कहते हैं, मैथिली में एक ऐसी गद्य-रचना मिलती है, जो १३२२ ई० में लिखी गई थी। वैसे मुख्य रूप से यह कविता की एक उत्तम भाषा रही है। इसके सबसे प्रसिद्ध कवि विद्यापति हुए हैं, जो पन्द्रहवीं शती में सगौना के राजा शिवसिंह के दरबारी कवि थे। उनकी राधा-कृष्ण सम्बंधी रचनाएँ बंगाल में भी बहुत लोक-प्रिय हुईं। बाद में चैतन्य ने अपने वैष्णव-धर्म प्रचार के लिए उनके गीतों का भरपूर प्रयोग किया। इससे विद्यापति की कविता बंगाल के घर घर में फैल गई। उनकी बहुत सी रचनाओं को उस काल की शुद्ध बंगला में भी लिखा गया था। फलतः उनके सम्बंध में काफी भ्रांति उत्पन्न हुई। बंगला वाले दीर्घ काल तक उन्हें अपना ही कवि समझते रहे। अभी हाल तक उन्हें लेकर बंगला और हिन्दी वालों में काफ़ी झगड़ा रहा है। परन्तु विद्यापति की भाषा मैथिली है, जो उत्तर-भारतीय आर्य भाषा परिवार में अपना पृथक स्थान रखती है।

आधुनिक युग के प्रारम्भ में मैथिली के कई महान साहित्यकार हुए, जिनमें मनबोध झा का नाम विशेषकर उल्लेखनीय है। उनकी मृत्यु १७८८ ई० में हुई थी। वर्तमान युग के मैथिली साहित्यकारों में हर्षनाथ और चन्द्र झा का नाम उल्लेख किया जा सकता है। चन्द्र झा ने मैथिली में रामायण लिखी है, और विद्यापति की संस्कृत 'पुरुष परीक्षा' का मैथिली में अनुवाद किया है।

बिहार का साहित्यिक हिन्दी से घनिष्ट सम्बंध रहा है। हिन्दी गद्य की सबसे पहली पुस्तक सम्भवतः बिहार में ही लिखी गई। यह 'सूर्य-सिद्धांत' का हिन्दी रूपांतर है, जिसे बिहारी विद्वान कुमुदानन्द मिश्र ने सम्भवतः १७६० ई० में सम्पादित किया। उसके बाद उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में कलकत्ता फोर्ट विलियम कालेज के हिन्दी गद्यकारों का उल्लेख किया जा सकता है, जिनमें सदल मिश्र आराह (बिहार) के रहने वाले थे।

हिन्दी के क्षेत्र में बिहार की सेवाएँ वस्तुतः अगणित हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी कविता में ब्रज के स्थान पर खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करने का श्रेय बिहार को ही प्राप्त है। इसके लिए हिन्दी जगत बिहारी कवि अयोध्या

प्रसार इसी का प्रतीक है। इसके अलावा हिन्दी को राज-भाषा तथा शिक्षा-माध्यम का स्थान दिलाने के आन्दोलन का नेतृत्व भी बिहार ने ही किया इसमें भूदेव मुखोपाध्याय जैसे बंगाली शिक्षा-विशारदो का विशेष हाथ था। यह स्मरणीय है कि हिन्दी को राजकीय स्वीकृति सारे भारत में सबसे पहले बिहार में प्राप्त हुई। वर्तमान शती की पहली चौथाई में बिहार ने कई महान हिन्दी साहित्यकारो को जन्म दिया। भारतेन्दु हरीशचन्द्र, जिन्हे आधुनिक हिन्दी का जन्म-दाता कहा जाता है, यद्यपि स्वयं वाराणसी के निवासी थे, परन्तु उनकी प्राय सभी कृतियाँ पटना से प्रकाशित हुई। आज के हिन्दी साहित्यकारो मे भी कितने ही नाम विहारियो के हैं, जैसे राधिकारमण सिंह, नागार्जुन, फनीश्वरनाथ 'रेणु' और दिनकर आदि। यह स्वाभाविक ही है कि हिन्दी साहित्य के क्षेत्र म हिन्दी प्रदेश के बाहर के प्रातो में से बिहार का योग-दान सबसे अधिक रहा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी को जिस प्रकार बिना किसी विरोध या कठिनाई के बिहार की राज-भाषा और शिक्षा-माध्यम के रूप मे स्वीकार किया गया, वह भी बिहारियों की स्वाभाविक हिन्दी-प्रियता का एक प्रकट प्रमाण है।

बिहारी जीवन

बिहार पूर्वी भारत मुख्य भूमि और हिन्दी प्रदेश के बीच मे स्थित है। इससे यहाँ के लोगो म कुछ मिली जुली सामाजिक और सास्कृतिक विशेषताएँ विकसित हुई हैं। अधिक स्पष्ट शब्दो मे यो कहना चाहिए कि बिहार के लोग कुछ बातो म बगालियो से, और कुछ अन्य बातो म हिन्दी प्रदेश के लोगो से मिलते हैं। अवश्य पूर्व की ओर अधिक प्रभाव बगाल का, और पश्चिम की ओर हिन्दी प्रदेश का है। यह बात बिहारियो के रहन-सहन, आचार विचार, खान पान, वेश-भूषा, रीति-रिवाज, पूजा-त्योहार और लोक-कलाओ मे दिखाई देती है।

पूर्वांचल की अन्य जनता की तरह बिहारियो का मुख्य भोजन भी चावल है। परन्तु बगालियो के विपरीत बिहारी हिन्दुओ की ऊँची जातियो मे मॉस मछली का प्रयोग प्राय. वर्जित है। सम्भवत बौद्ध अहिंसावाद के अधिक प्रभाव

के कारण ऐसा हुआ है। इसी तरह बिहारियों का साधारण वस्त्र यद्यपि धोती कुर्ता है, परन्तु धोती बांधने का ढंग बंगालियों से भिन्न है। पायजामा, वास्कट, अचकन, शेरवानी और टोपी पगड़ी का प्रयोग भी हिन्दी प्रदेश के अनुरूप है। बिहार में विशेष अवसरों पर चूड़ीदार पायजामा और अचकन का ही प्रयोग किया जाता है, जो बंगाल में प्रायः अपवाद स्वरूप हैं। इसी प्रकार जहाँ सिन्दूर, बिन्दी और काजल आदि का रिवाज बंगाल के अनुरूप हैं, वहाँ सुर्मा और चांदी के आभूषणों का अत्यधिक प्रयोग तथा बदन गुदवाने की बर्बर प्रथा बिहारी जन-साधारण को बंगालियों से बिल्कुल पृथक कर देती है। इसके अलावा शारीरिक गठन, नाक-नक्शे और रंगरूप की दृष्टि से भी बिहार के लोग बंगालियों से बहुत कुछ भिन्न हैं। यह अंतर ग्रामीण जनता में विशेष-कर प्रकट है। बिहारी साधारणत. लम्बे-कद स्वस्थ शरीर और मजबूत हाथ-पाँव वाले होते हैं, जबकि बंगाली उनकी तुलना में कमजोर दीखते है। ब्रिटिश राज्य-काल में, जब अंग्रेज शासकों ने बंगालियों को 'असैनिक जाति' घोषित कर रखा था, तब बंगाल और उड़ीसा आदि की पुलिस में अधिकतर बिहारी ग्रामीण ही भरती किए जाते थे। आज भी बंगाल की पुलिस में बिहारियों की सख्या कम नहीं है। कलकत्ता पुलिस के घुड सवार जवान और ट्रैफ़िक कान्स्टे-बल, जो अपने डील डौल के कारण सारे भारत में प्रसिद्ध हैं, प्राय सभी बिहार के शाहबाद, छपरा और चम्पारन आदि जिलों के निवासी हैं।

प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से बिहार एक समृद्ध प्रदेश है, परन्तु औद्योगिक और व्यापारिक क्षेत्रों में अपेक्षया पिछड़ा हुआ है। इस कारण बिहार की गरीब जनता को जीविकोपार्जन के लिए दूर-दूर जाना पड़ता है। बंगाल में वे सब से ज्यादा गए हैं। वहाँ वे लाखों की सख्या में नाना प्रकार के छोटे-छोटे धंधे अथवा मेहनत मजदूरी के काम करके जीविका कमाते हैं। दूसरी ओर, जैसा कि पीछे बताया गया, स्वयं बंगाल के शहरी लोग शारीरिक परिश्रम के इन तथाकथित 'छोटे' कामों से एक प्रकार से दूर ही रहे हैं। इससे बंगालियों और बिहारियों के बीच एक अवांछनीय मानसिक भेद की उत्पत्ति हुई, जो पूरी तरह अभी तक दूर होने में नहीं आई है। इसके अलावा बिहार अभी जातीय-

पचास वर्ष पूर्व तक बंगाल महाप्रान्त का ही एक भाग था, और उस स्थिति में बिहार के लोग उपेक्षित, दलित और शोषित अल्पसंख्यकों के रूप में रहने पर विवश थे। बिहार में अंग्रेजी शिक्षा का सम्पर्क बहुत देर बाद आया, और ऐसी अवस्था में आया, जब यहाँ के लोग उसे सहज में ग्रहण करने की स्थिति में न थे। इन सब बातों के फलस्वरूप वे आधुनिक शिक्षा, नवीन सभ्यता और बौद्धिक विकास के मार्ग पर अपेक्षया बहुत पिछड़ गए। आज भी बिहारी मध्यम-वर्ग के नवयुवकों को उच्च शिक्षा के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय में जाना पड़ता है।

इन सब बातों का औसत बिहारी की सामान्य प्रकृति और चरित्र के निर्माण में गहरा हाथ है। बिहारी ग्रामीण अपेक्षाकृत बलवान और बहादुर होता है, परन्तु अपने दीर्घकालीन शोषण और बौद्धिक पिछड़ेपन के कारण उस में सामाजिक चेतना का नितांत अभाव और एक प्रकार की व्यक्तित्व-शून्यता का परिचय मिलता है। बिहारी लोक जीवन पूर्णतया जाति-उपजाति विशेष के इर्द-गिर्द घूमता है, न कि किसी भाषा, साहित्य या संस्कृति विशेष के, यद्यपि ऐसी सामग्री का अभाव नहीं है। फलतः 'बिहारी' शब्द का ठीक वही अर्थ नहीं बन पाया, जो 'बंगाली' या 'गुजराती' आदि शब्दों के हैं। 'बिहारी' को किसी वर्ग विशेष, भाषा विशेष अथवा संस्कृति विशेष का सूचक कहना ज़रा मुश्किल ही है। स्वयं 'बिहारियों' में भी अपने साथ प्रांतीय विशेषण जोड़ने की कोई विशेष परिपाटी नहीं रही है। परन्तु इस बात से जहाँ भारतीय एकता की धारणा को बल मिला है, वहाँ स्वयं बिहार की जनता को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। वे अपने को हिन्दी-भाषियों में गिनते हैं, परन्तु हिन्दी प्रदेश के लोगों का सा सहज बड़प्पन और स्वाभाविक मध्य-देशीय अनुभव उपलब्ध नहीं कर पाए। इस प्रकार उन में प्रादेशिक व्यक्तित्व का अभाव, जो वर्तमान परिस्थितियों में एक गुण समझा जाना चाहिए, दुःखद ऐतिहासिक और सामाजिक कारणों से उनका एक बड़ा अवगुण बन गया है। अवश्य वर्तमान युग में पर्याप्त औद्योगिक और शैक्षणिक प्रगति ही इस समस्या के समाधान का एक मात्र उपाय है।

उड़िया

प्राचीन भारत में जिन लोगों ने ओड्र, कलिंग और उत्कल के नामों से शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित किए, और सैनिक व सांस्कृतिक महानता के उच्च शिखर पर पहुँचे, उन्ही लोगों का वर्तमान नाम है उड़िया। आज यह जनता भारत संघ के पूर्वांचल में समुद्रतट पर स्थित छोटे से उड़ीसा राज्य की निर्माता और निवासी है।

'उड़ीसा' शब्द प्रकटतः ओड्र से बना है, जो इस भूभाग के आदिकालीन *अनार्य निवासियों का नाम था। ओड्रों के देश को 'ओड्र-देश' कहा गया,* जो कालांतर से बिगड़ कर 'उड़ीसा' हो गया। परन्तु यह विचित्र बात है कि इस प्रदेश का यह नाम मध्ययुग के अन्त में पड़ा, जब समस्त उत्तरी भारत में मुसलमानी शासन स्थापित हो चुका था। प्राचीन ग्रंथों में 'उड़ीसा' नाम कहीं नहीं मिलता।

परम्परा के अनुसार इस भूभाग का प्राचीनतम नाम कलिंग था। प्राचीन कलिंग जब आगे चल कर दो भागों में विभक्त हुआ, तब दक्षिणी भाग का नाम त्रिकलिंग और उत्तरी *भाग का 'उत्कल' पड़ा। 'कलिंग' और 'उत्कल' ये दोनों* संस्कृत नाम हैं। 'उत्कल' के कई अर्थ किए जाते हैं, जैसे 'ऊर्ध्वम कला का देश' 'गौरवशाली देश' इत्यादि। बौद्ध साहित्य में इसे 'उक्कल' अथवा 'जंगली जन-जातियों का देश' भी कहा गया है। परन्तु तथ्य यह जान पड़ता है कि 'उक्कल' संस्कृत उत्कल का अपभ्रंश मात्र है, और 'उत्कल' वास्तव में संक्षिप्त

रूप है 'उत्तर कलिंग' का। इस दृष्टि से ओड्र को 'उत्कल' का समकालीन नहीं, वलिक उससे पहले का नाम समझना चाहिए।

इतिहास

पौराणिक युग मे उड़ीसा कलिंग साम्राज्य का अंग था, जिस की स्थापना कथानुसार बाली के पुत्र कलिंग ने की थी। कलिंग साम्राज्य की राजधानी कलिंगपट्टनम आज भी विद्यमान है। इतिहासज्ञों का मत है कि कलिंग मे प्रथम आर्य राज्य की स्थापना ईसा से एक हज़ार और आठ सौ वर्ष पूर्व के बीच हुई होगी। ईसा-पूर्व पाँच शताब्दियाँ उत्तर से निरंतर आगमन और आर्य-प्रवास का युग थी। उसी युग में यहाँ आर्य-द्रविड़ जातीय और सांस्कृतिक सम्मिश्रण हुआ। उड़ीसा मे जगन्नाथ पूजा की पद्धति, जो उड़िया जनता के लिए विशेषतः और हिन्दू मात्र के लिए साधारणतः एक पुण्य धर्म के रूप मे आज भी प्रतिष्ठित है, उसी सांस्कृतिक सम्मिश्रण और समन्वय का एक अति विकसित प्रतिनिधि रूप है।

आर्यों के आगमन से पहले उड़ीसा के मूल निवासी ओड्र लोग थे, यह बात पीछे कही जा चुकी है। उन आदिम निवासियो मे से 'शबर,' 'खोंड' अथवा 'कंध', 'कैवर्त्त' आदि का उल्लेख संस्कृत ग्रंथों मे आया है। पौराणिक साहित्य में उनका वर्णन प्रायः एक घृणित अर्द्ध-मानवी जाति के रूप में ही हुआ है, और उनके लिए राक्षस, वानर, दैत्य, निशाचर तथा 'नरभक्षक' जैसे भयोत्पादक और शत्रुता-सूचक शब्दों का प्रयोग किया गया है। विष्णु पुराण मे 'शबर' जाति का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'ये लोग ठिगने कद, चौड़ी नाक, घोर काले रंग और लाल आँखों वाले दानवी जीव है।' ऐतरेय ब्राह्मण मे उन्हें 'भारी तोंद, लटके हुए कान और बहुत बड़ा राक्षसी मुँह वाला' बतलाया गया है। इन वर्णनों से प्रकट है कि उन लोगो ने आर्यों का बहुत दृढ विरोध किया होगा और एक दीर्घ काल तक उनके और आर्यों के बीच युद्ध रहे होंगे। संस्कृत ग्रंथों में उन लोगो को 'सीमावर्ती जातियां' भी कहा गया है, जिससे अभिप्रायः है कि यह प्रदेश आर्यावर्त्त से बाहर था, और आर्यों का

नालन्दा से किसी तरह कम नहीं है। उस युग में भी यहाँ के नाविक और समुद्रतटवर्ती निवासी बहुत शक्तिशाली थे। बंगाल की खाड़ी पर एक प्रकार से उनका आधिपत्य था। उनके जलपोत एक ओर चीन और दूसरी ओर पारस, अरब, यूनान और रोम् तक जाते थे। ह्वेन-सियांग के वर्णनानुसार उड़ीसा के ये नाविक 'लम्बे कद, सुदृढ हाथ-पाँव, काले रंग और असभ्य आचरण' वाले थे। इन में जो व्यापारी थे, वे 'साधव' कहलाते थे, और प्रायः सारे ही तत्कालीन ज्ञात जगत के साथ उनके व्यापारिक सम्बन्ध थे।

६४० ई० में कन्नौज-सम्राट हर्षवर्धन ने मगध के साथ कलिंग को भी जीत लिया। परन्तु उसके बाद कलिंग के कई भाग हो गए। उत्तरी भाग 'उत्कल' के नाम से एक नए साम्राज्य के रूप में विकसित हुआ। ७६५ ई० में उत्कल और चीन के बीच सांस्कृतिक सम्पर्कों का संकेत मिलता है, जब राजा शुभंकर ने बौद्ध श्रमण प्राज्ञ को धर्म-दूत के रूप में चीन-सम्राट के दरबार में भेजा। उत्कलों का साम्राज्य गंगा की घाटी से गोदावरी के तट तक फैला हुआ था। उन्होंने समुद्र-पार कई उपनिवेशों में भी अपना प्रभाव फैलाया।

दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों में उड़ीसा पर स्थानीय केसरी राज-वंश का राज्य था। भुवनेश्वर के शिव-मंदिर और ऐलगिरि पहाड़ियों में पाए जाने वाले खंडहर उसी वंश के स्मृति चिन्ह कहे जाते हैं। इस वंश में जन्मेजय, ललितेन्दु और ययाति विशेष प्रसिद्ध और प्रतापी राजे हुए।

बारहवीं शताब्दी में पश्चिम से आने वाले चोडगंग राज-वंश का उत्थान हुआ। उड़ीसा में इस वंश के संस्थापक वज्रहस्त ने 'त्रिकलिंगाधिपति' की उपाधि धारण की। उसके वंश में राजराज, अनन्त वर्मन, अनंग भीम और नृसिंहदेव विशेष प्रसिद्ध हुए। ये राजे वैष्णव मत के अनुयायी थे। उन्होंने वैष्णव धर्म को उड़ीसा के लोक-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया। पुरी का प्रसिद्ध जगन्नाथ मंदिर और कलिंगराज कोणार्क के स्तूप इन्हीं राजाओं द्वारा निर्मित हुए कहे जाते हैं। कोणार्क के खंडहर आज भी अपनी सुन्दरता और भव्यता से दर्शकों को चकित कर देते हैं। राष्ट्रीय दृष्टि से ७०० ई० से १३०० ई० तक का काल-खंड उड़िया लोगों की कला और स्थापत्य की

सर्वोच्च उन्नति का स्वर्ण युग था।

उसी काल के अन्त में उड़ीसा पर उत्तर भारतीय मुसलमान सुलतानों के आक्रमण प्रारम्भ हुए। १३६१ ई० में दिल्ली के तुगलक सुल्तान फिरोजशाह ने व्यक्तिगत रूप से उड़ीसा पर चढ़ाई की। परन्तु इस प्रदेश पर स्थायी रूप से पठान आधिपत्य स्थापित हुआ हो, ऐसा कोई लक्षण नहीं मिलता। १४३४ ई० में राजा कपिलेश्वर के अधीन उड़ीसा राज्य फिर एक बार पूर्ण स्वतन्त्र हो गया। इस राजा ने दक्षिण में राज्य का विस्तार किया। परन्तु उसके वंशज अयोग्य निकले। आखिर १५६८ ई० एक गृह-युद्ध के बाद उड़ीसा का अंतिम हिन्दू राजा मुकुन्ददेव बंगाल के एक पठान सरदार से पराजित हो दक्षिण की ओर भाग गया। तब यहां कुछ वर्षों के लिए पठानों का आधिपत्य हो गया।

१५९० ई० में जब राजा मानसिंह अकबर की ओर से बंगाल का मुगल गवर्नर नियुक्त होकर आया, तब उसने उड़ीसा के सम्बन्ध में कहा था 'यह प्रदेश जीतने के लिए नहीं है। यह देवताओं की भूमि है, और यहाँ का कण-कण तीर्थस्थान है।" परन्तु अंतत स्वयं मानसिंह ने ही इस पुण्य भूमि को जीत कर मुगल साम्राज्य में विलीन किया। इस प्रकार यह प्रदेश भारत के उन चन्द राज्यों में से था, जिन्होंने सबसे आखिर में अपनी स्वतन्त्रता गँवाई।

डेढ़ सौ वर्ष के मुगल शासन के बाद १७५१ ई० में बंगाल के स्वतन्त्र नवाब अलीवर्दीखां ने इस प्रदेश को नागपुर के भोंसला सरदारों के हवाले कर दिया। और उन्हीं से १८०३ ई० की लड़ाई में अंग्रेजों ने उसे प्राप्त कर अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया।

ब्रिटिश शासन-काल के प्रारम्भ से ही यह प्रदेश कई भागों में बँट गया। वास्तव में सोलहवीं शती के अंतिम दशक से, जबकि उड़ीसा का स्वातन्त्र्य छिना, तब से अंग्रेजों के भारत छोड़ने के दस वर्ष पहले तक, इन चार सौ वर्षों में उड़िया लोग कई अलग-अलग भागों में बँटे हुए पददलित और शोषित अल्प-संख्यकों के रूप में जीवन बिताने पर विवश रहे। इससे स्वयं उड़ीसा प्रदेश

का विकास और उड़िया जनता की स्वाभाविक प्रगति रुकी सी रही। परन्तु जहाँ इस परिस्थिति मे उडीसा के लाखो लोग दरिद्रता की अतिम सीमा पर पहुँच गए, वहाँ दूसरी ओर अमानुषिक शोषण और अत्याचार के विरुद्ध भीषण विद्रोह की शक्ति भी प्रकट हुई। १८०४, १८१७ और १८३६ ई० के सशस्त्र विद्रोह और स्वातन्त्र्य-सग्राम, जिन का नेतृत्व युगानुकूल राजाओ और सामतो ने किया, उसी जन-शक्ति के सक्रिय रूप थे। इस सदर्भ मे बख्शी जगबन्धु का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिन्हें १८३६ ई० के अतिम सशस्त्र सघर्ष के बाद अग्रेजी सरकार ने फाँसी पर चढ़ाया था। जगबन्धु का नाम आधुनिक उडिया वीर-गाथा मे वही स्थान रखता है, जो मध्य-देश मे रानी झाँसी का है और बिहार मे राजा कुंवर सिंह का। परन्तु जैसा कि ऐतिहासिक कारणो से अनिवार्य था, ये सब प्रयत्न विफल हुए, और अतिम परिणाम यह निकला कि *बचे-खुचे राजे और सामतगण तो भोग-विलास मे लीन हो गए,* और गरीब जनता का निर्दयता के साथ दमन कर दिया गया। यहाँ तक कि १८६६ ई० मे वह घोर अकाल पडा, जिसमे स्वय ब्रिटिश अधिकारियो के अनुमानानुसार प्रदेश की लगभग एक तिहाई जन-सख्या काल का ग्रास हो गई।

जातीय भावना

उडिया जनता मे प्रादेशिक जातीय भावना सदा से बहुत प्रबल रही है। इसका एक स्थायी कारण तो यह है कि कई अन्य प्रादेशिक लोगो के विपरीत उडिया जनता की भारी सख्या प्राय एक ही जाति समूह से सम्बद्ध है, अर्थात् उनकी एक अलग नस्ल है, जो अन्य लोगो से आसानी के साथ मेल नहीं खाती। दूसरे शेष भारत से, विशेषकर मुसलमानी युग मे, बडी हद तक अलग-अलग रहने के कारण वे एक विशुद्ध भारतीय सांस्कृतिक इकाई के रूप मे सुरक्षित चले आ रहे हैं। वे आज भी स्वय को 'ओड़' कहते हैं और अपने देश को इसी प्राचीन अनार्य नाम से अभिहित करना पसन्द करते हैं। कभी-कभी 'ओड्र' शब्द को 'उत्कल' का पर्याय भी मान लिया जाता है, और इस दृष्टि से बहुत से उडिया लोग, विशेषकर जो तथाकथित उच्च जातियो से सम्बद्ध

हैं, अपना उद्भव, प्राचीन उत्कलो से बतलाते हैं। परन्तु यह 'उत्कल' भी आर्यों के आगमन से पहले इस अंचल के निवासी थे, ऐसा कहा जाता है।

परन्तु उडिया लोगों मे प्रादेशिक राष्ट्रीय भावना के अधिक जोर पकडने का तात्कालिक कारण यह था कि एक तो उन्होंने दूसरों की अपेक्षा देर म अपनी स्वतन्त्रता गँवाई, और दूसरे जैसा कि पीछे बताया गया, तब से लेकर भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति के दस वर्ष पूर्व तक की दीर्घ अवधि मे वे कई अशों मे बँटे हुए शोषित और उत्पीडित रहे। इसी शोषण के विरुद्ध विद्रोह की भावना और उडिया भाषी क्षेत्रो के एकीकरण की उत्कठा उडिया जनता मे एक परम्परा के रूप मे चली आई है।

यह उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश शासन के अतिम वर्षों मे, जब भारत का स्वातन्त्र्य-सग्राम अपने चरमोत्कर्ष पर था, तब उडिया जनता का राष्ट्रीय आन्दोलन समस्त देश के लिए स्वतन्त्रता प्राप्ति से ज्यादा केवल उडीसा के प्रातीयकरण के सीमित उद्देश्य की ओर केन्द्रित रहा। वास्तव मे उडीसा जनता की यह माँग भारत मे एक भाषा भाषी प्रदेश की सब स पहली माँग थी। और यह उद्देश्य १९३६ ई० में पूर्ण हुआ, जब ३५ वर्षों के निरतर प्रयत्नों के बाद तत्कालीन सयुक्त प्रात बिहार उडीसा तथा मद्रास और मध्यप्रदेश के उडिया भाषी क्षेत्रो को मिलाकर छोटे उडीसा प्रात का निर्माण किया गया। परन्तु सयुक्त उडीसा प्रदेश का स्वप्न स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद १९४८ मे सार्थक हुआ, जब सरदार पटेल की प्रतिभा और सश्रद्ध प्रयत्नों से समस्त उडीसा प्रदेश का सयुक्तिकरण सम्पन्न हुआ। इस प्रकार अब उडिया लोगों का देश, जो चार सौ वर्षों तक विभाजित और उपेक्षित रहा था, पुन एक सयुक्त स्वायत्त राज्य के रूप म सगठित हो स्वावलम्बन और प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होने का अवसर प्राप्त कर पाया है।

जगन्नाथ

उड़ीसा एक विशुद्ध हिन्दू प्रदेश ही नहीं, बल्कि दो हजार वर्षों से हिन्दुओं की पुण्य भूमि भी है। अनेक ग्रथों म उस 'पवित्र देश', पाप-हरण देश' आदि

कहकरवरिणत किया गया है। यह अगणित मंदिरों, मठों और तीर्थस्थानों की पावन भूमि है, जिन में सर्वोच्च और सब से प्रसिद्ध है पुरी का जगन्नाथ मन्दिर। पुरी का अर्थ है नगर, और जगन्नाथ तो स्वयं विष्णु ही हैं। जगन्नाथ का मंदिर साक्षात् स्वर्गद्वार है, जहाँ प्रति वर्ष देश भर से लाखों यात्री एकत्र होते हैं। उड़िया जनता का समस्त धार्मिक जीवन इसी मंदिर पर केन्द्रित और इसकी छत्र-छाया में व्यवस्थित है। यहाँ तक कि उनका देशीय इतिहास भी बड़ी हद तक इसी के इर्द-गिर्द घूमता है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि बाहरी आक्रमणों के समय उड़िया जनता ने जिस वस्तु की रक्षा की, वह थी जगन्नाथ की काठ की मूर्ति। जगन्नाथ केवल परमेश्वर ही नहीं, वह उड़िया जनता के लोक देवता भी हैं। उन्हीं की पूजा के रूप में वैष्णव मत उड़िया जनता का लोक धर्म है। समस्त भारत में सम्भवतः सब से ज्यादा धर्म-परायण हैं उड़ीसा के लोग।

जगन्नाथ से कितनी ही पौराणिक कथाएँ सम्बद्ध हैं। उड़िया जनता की अधिकतर लोक कथाएँ भी उन्हीं पर आधारित हैं। इस मत की स्थापना की कथा बड़ी रोचक है। कहा जाता है कि सत्य युग में एक बार विष्णु भगवान की खोज पड़ी थी। मालव नरेश राजा इन्द्रद्युम्न ने चारों ओर ब्राह्मण दूत भेजे। पूर्व की ओर जाने वाला ब्राह्मण कलिंग देश में पहुँचा। वहाँ उस समय शबर जाति के लोग वास करते थे। उक्त ब्राह्मण वसु नामक एक शबर की पुत्री से विवाह कर यहीं बस गया। वसु जगन्नाथ का पुजारी था। उसने पुत्री के कहने पर ब्राह्मण को जगन्नाथ के दर्शन कराना स्वीकार किया। परन्तु इस शर्त पर कि वह ब्राह्मण की आँखों पर पट्टी बाँधकर ले जाएगा, ताकि उसे देव-स्थान का मार्ग मालूम न हो। ब्राह्मण ने शर्त मान ली। इस प्रकार जंगल में पहुँच कर उसे 'जगन्नाथ' के दर्शन हुए। तब वह 'नील माधव' के रूप में थे। वसु पूजा के लिए फूल लाने गया। इस बीच ब्राह्मण ने मूर्ति की पूजा आरम्भ कर दी। तभी निकट के एक वृक्ष पर से एक कौआ मूर्ति के आगे धरती पर आ गिरा, और सीधा विष्णु-लोक में चला गया। तब ब्राह्मण ने भी मुक्ति के लिए ऐसा ही करना चाहा। परन्तु तभी आकाश-वाणी हुई कि पहले राजा

को सूचित करो कि विष्णु भगवान मिल गए हैं। वह नील प्रस्तर वास्तव मे विष्णु का रूप था। उसमे शिव और विष्णु दोनो के गुण विद्यमान थे। उधर जब वसु फूल लेकर लौटा, तब भगवान ने केवल फूल स्वीकार करने मे इन्कार कर दिया। ब्राह्मण के कथनानुसार उन्हें चावल और मिष्ठान भेंट किया गया। तभी से उनका नाम नील माधव की बजाए जगन्नाथ पड़ा। वह केवल शबर जाति के इष्ट-देव न रह कर *ब्राह्मणों (आर्यों) के भी आराध्य हो गए।*

इस कथा का यदि कुछ अर्थ है, तो केवल यह कि इससे आर्यों की विष्णु पूजा के साथ उड़ीसा के आदिवासी धर्म के समन्वय का पता चलता है। अधिक स्पष्ट शब्दों मे यों कहना चाहिए कि आर्यों ने यहाँ आकर यहाँ के मूल निवासियों की पूजा पद्धति को अपनी धार्मिक परम्पराओ मे समाविष्ट कर लिया और इस प्रकार यहाँ एक नई विचार-धारा—जगन्नाथ पूजा—का सूत्रपात हुआ। यह बात उल्लेखनीय है कि भगवान विष्णु का एक नाम 'वसुदेव' भी है, *और 'वसु' का शाब्दिक अर्थ 'बसने या वास करने वाला' है।*

एक और कथा के अनुसार राजा इन्द्रद्युम्न को श्रीकृष्ण का एक अवशेष मिला था। जिसे उन्होंने विष्णु की मूर्ति में रखने के विचार से देवताओ के शिल्पी विश्वकर्मा को मूर्ति निर्माण का आदेश दिया। विश्वकर्मा ने यह शर्त रखी कि वह केवल एक ही दिन मे मूर्ति तैयार कर देंगे, यदि राजा इस बीच उसे देखने न आए। परन्तु राजा मूर्ति को देखने की लालसा को दबा न सके। रुष्ट हो विश्वकर्मा ने अपना शिल्प-कार्य अधूरा ही छोड दिया। तब तक भगवान *के हाथ-पैर नहीं बने थे। फलतः वही बिना हाथ-पैर की काठ की मूर्ति जगन्नाथ* की परम्परित मूर्ति बन गई, जो आज तक उसी रूप मे चली आ रही है।

जगन्नाथ का सर्वप्रथम ऐतिहासिक उल्लेख ३१८ ईसा पूर्व का मिलता है, जब उत्तर से यवन राजा रक्त बाहू का आक्रमण होने पर पुरोहितगण मूर्ति को लेकर पुरी छोड़ गए थे। प्रायः डेढ़ शताब्दियों तक मूर्ति को जगल में *छुपा कर रखा गया। तीन बार उसे चिल्का सरोवर मे छुपाया गया। इस प्रकार,* जैसा कि पीछे बताया गया है, उड़ीसा पर प्रत्येक बाहरी आक्रमण के समय उड़िया लोगों ने सब से पहले जिस वस्तु को बचाया, वह भगवान जगन्नाथ की

काठ की मूर्ति ही थी। इस से उडिया जन-जीवन मे जगन्नाथ के महत्व का पता चलता है।

एक लोक-कथा के अनुसार पठान काल मे एक मुस्लिम सेनापति मूर्ति को उठा ले गया था। उसने गगा के तट पर उसको जलाने का प्रयत्न किया। पर मूर्ति तो जली नही, वह स्वय हाथ-पैर से वचित हो धरती पर गिर गया। उधर मूर्ति गगा मे वह कर फिर पुरी पहुँच गई। इस प्रकार की कितनी ही कथाओ मे जगन्नाथ के चमत्कारो का वर्णन किया गया है।

जगन्नाथ सब के भगवान हैं। उन के आगे ऊँच-नीच अथवा जाति-पाति का कोई भेद-भाव नहीं रहता। उनका प्रसाद किसी के भी हाथ से लिया जा सकता है। यह महाप्रसाद कभी भी अपवित्र नहीं होता। इस सम्बन्ध मे एक रोचक कथा इस प्रकार है कि एक दभी राजा ने जगन्नाथ का महाप्रसाद ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा की थी। कथानुसार वह पुरी मे प्रवेश करते ही हाथ-पाँव से वचित हो धरती पर गिर गया। उसी अवस्था मे वह दो मास तक पुरी-द्वार पर पडा रहा। सयोग से एक कुत्ते का उधर से गुजरना हुआ। वह कहीं से मन्दिर का प्रसाद उठा लाया था। वही प्रसाद कुत्ते के मुँह से गिरने पर जब राजा ने खाया, तो वह तत्काल भला-चगा हो गया।

जगन्नाथ-पूजा की पद्धति मे हिन्दू धर्म का सम्पूर्ण रूप प्रतिबिम्बित होता है। इस मे हिन्दुओ की सब धार्मिक भावनाओ, मतो और सम्प्रदायों का समावेश है। अनार्य आदिवासियो का तत्रमत्र, वेदो की प्रकृति-पूजा, उच्चस्तरीय ब्राह्मण आध्यात्मवाद, आदर्श और मर्यादाएँ तथा निम्नस्तर की रूढियाँ, अध-विश्वास और कुप्रथाएँ सब का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है जगन्नाथ के मदिर मे। यहाँ विष्णु के अतिरिक्त प्राय. सारी ही हिन्दू देवमाला उपस्थित है। यो भी कहा जा सकता है कि जगन्ननाथ-पूजा पद्धति आर्य-द्राविड धार्मिक तथा सास्कृतिक समन्वय का उत्कृष्टतम उदाहरण है।

वर्तमान पुरी मन्दिर सम्भवत. बारहवी शती के उत्तरार्द्ध मे राजा अनत वर्मण चोड-गगा ने बनवाया था। वैसे परम्परित रूप से केसरी वश के राजा अनगभीमदेव द्वितीय को ही इसका सस्थापक बतलाया जाता है। पुरी

मदिर देश के अत्यत गौरवशाली और धन सम्पत्तियुक्त धर्मस्थानो म से है। करोडो की इसकी संगृहित निधि है, और लाखो की वार्षिक आय है। इस अपार राशि का समुचित उपयोग न होने के कारण मंदिर की व्यवस्था और सचालन मे भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है, जो देश के विचारशील समुदाय के लिए चिता का विषय बना हुआ है। मन्दिर के सैकडो सेवको और पदाधिकारियों के प्रमुख हैं एक महाराजा, जो वैसे तो मन्दिर के बडे महत हैं, पर औपचारिक रूप से मदिर मे झाडू देने का काम करते हैं।

जगन्नाथ पुरी की रथ-यात्रा उडीसा के चौबीस त्योहारो मे सबसे बडा और एक प्रकार से उडिया जनता का राष्ट्रीय उत्सव है। प्रतिवर्ष जून जुलाई की भीषण गर्मी मे यह त्योहार मनाया जाता है। इस अवसर पर अन्य प्रदेशो से भी लाखों की सख्या मे श्रद्धालु यात्रीगण पुरी मे एकत्र होते हैं। वास्तव मे पुरी नगरी की सारी प्रतिष्ठा इसी रथ-यात्रा के कारण है। पुरी मे और कोई कार्य नहीं होता। न कोई उद्योग-धधा है, न व्यापार, बस यही वार्षिक रथ-यात्रा यहाँ के अधिकतर स्थायी निवासियो की जीविकोपार्जन का एक मात्र साधन है।

जगन्नाथ का रथ ४५ फुट ऊँचा एक वृहत वाहन होता है। सात फुट व्यास के सोलह पहिए उस को धरती पर थामे रहते हैं। इस से कुछ छोटे बलराम और सुभद्रा के रथ होते हैं। हजारों ही लोग इन तीनों रथो को खींचते हैं। मदिर से निवास स्थान तक करीब एक मील का रास्ता है, पर यह कई दिनो मे तै होता है। कभी-कभी गर्मी और अत्यधिक परिश्रम से किसी किसी यात्री की मृत्यु भी हो जाती है। आत्महत्या की घटनाएँ भी अनहोनी नही हैं। कभी किसी धर्मांध व्यक्ति ने स्वय को रथ के वृहत पहियो के नीचे गिराकर आत्महत्या कर ली होगी। परन्तु जानकारो का कहना है कि ऐसी घटनाएँ या तो किसी मानसिक रोग का परिणाम होती हैं, या फिर दुर्घटना मात्र। अवश्य कुछ दुष्ट विदेशी ऐसी एक-दो घटनाओं को आधार बनाकर भारत विरोधी कुप्रचार करने मे विशेष आनन्द अनुभव करते हैं।

भाषा और साहित्य

उडिया जनता की भाषा उडिया है। यह एक उत्तम आर्य भाषा है और पूर्वी वर्ग की अन्य तीन भाषाओं—असमी, बगला और बिहारी—की तरह मागधी अपभ्रंश से निकली है। उडिया अपनी शब्दावली, व्याकरण और वाक्य-रचना आदि सभी दृष्टियों से बगला के अनुरूप है। उडिया पर तेलुगु और मराठी का भी कुछ प्रभाव है। लिपि उसकी अपनी है, जो यद्यपि बगला से बनाई गई प्रतीत होती है, परन्तु सम्भवत तेलुगु के प्रभावांतर्गत गोल-गोल अक्षरो मे लिखी जाती है। कुछ विद्वान उसे उडिया लोगो की अपनी प्राचीन द्राविड लिपि का रूपान्तर बतलाते हैं, और बगला अथवा देवनागरी लिपि के साथ उसका कुछ भी सम्बध नही मानते। परन्तु उडिया की वर्णमाला वही है, जो बगला अथवा देवनागरी की है।

भाषा की दृष्टि से उच्च साहित्यिक स्तर पर उडिया और बगला मे कुछ भी अतर शेष नही रहता। दोनो ही अत्यत सस्कृतमयी हो जाती है। उडिया और भी ज्यादा, क्योकि उडिया मे साहित्यिक तद-भव शब्दो का अभाव सा है। स्वायत्त उडीसा राज्य के निर्माण के बाद से उडिया भाषा म पत्रकारिता और पुस्तक-प्रकाशन के रूप मे पर्याप्त कार्य हो रहा है।

असमिया, बगला और उडिया पडित सभी आठवी-नवी शती ईस्वी की रचना 'बौद्ध-गान ओ दोहा' को अपनी भाषाओं का सर्वप्रथम साहित्यिक रूप मानते हैं। यह स्वाभाविक ही है, क्योकि यह ग्र थ मूलत मागधी प्राकृत मे है, जिसकी परम्पराएँ तीनो भाषा-भगिनियो मे अक्षुण रूप से चली आई हैं। परन्तु आधुनिक उडिया, जैसी कि आज बोली और लिखी जाती है, इस का चौदहवी शताब्दी से पूर्व कोई स्पष्ट उदाहरण नही मिलता। कुछ प्रारम्भिक नमूने तेरहवी शती के शिलालेखो मे दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु उडिया का क्रमबद्ध इतिहास चौदहवी शती म बगला और असमिया के साथ-साथ ही आरम्भ हुआ। उस समय से उन्नीसवी शती के अत तक के पाँच सौ वर्षों मे उडिया साहित्य का निर्माण और विकास प्राय. अन्य आधुनिक उत्तर भारतीय भाषाओं के समानातर हुआ। यह सारा साहित्य पौराणिक और धार्मिक है। भाषा अत्यत

सस्कृत युक्त है, और पांडित्य प्रदर्शन ही अधिक हुआ है। परन्तु यह साहित्य परिमाण मे विशाल है । इस मध्ययुगीन उडिया साहित्य मे कृष्ण-लीला सम्बन्धी असख्य भावगीतो और गीत-काव्यो के अतिरिक्त रामायण के बारह और महाभारत के चार अनुवाद प्रसिद्ध हैं। १५०० ई० मे रचित सरलदास की उडिया महाभारत आज भी उडीसा के घर-घर मे पढी जाती है। बगाल से श्री चैतन्य के आगमन के बाद यहाँ वैष्णव मत का बहुत अधिक प्रचार हुआ, और तत्सम्बधी धार्मिक साहित्य अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। उस काल के 'पांच सखा' प्रसिद्ध हुए, जिन मे जगन्नाथदास, बलरामदास, और अनतदास के नाम उल्लेखनीय हैं। सोलहवी शताब्दी मे भागवत् पुराण का उडिया अनुवाद हुआ, जिसका प्रभाव उडिया साहित्य पर आज भी दिखाई देता है।

आधुनिक उडिया साहित्य का प्रारम्भ उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध मे फकीर मोहन सेनापति से माना जाता है। यह अपने गोत्र नाम के सदृश स्वतत्र उडिया साहित्य और राष्ट्रीयता के सचमुच 'सेनापति' सिद्ध हुए। उन्होंने अकेले ही सम्पूर्ण रामायण और सम्पूर्ण महाभारत का मूल रूप से अनुवाद किया और अनेक कहानियो, गीतिकाव्य, भजन, खडकाव्य और बुद्ध पर एक महाकाव्य के अतिरिक्त आधे दर्जन उत्तम उपन्यास भी लिखे। वह मुख्यतः जनता के लेखक थे, और घरेलू सशक्त भाषा मे लिखते थे। उनकी कृतियो से आधुनिक उडिया साहित्य प्रारम्भ से ही जनता के साहित्य के रूप म विकसित हुआ। फ़कीर मोहन के प्रसिद्ध उपन्यास 'छमाण आठगु ठ' (छ एकड और आठ गु ठा) को, जिसम उनका ग्रामीण यथार्थवाद अपनी अतिम सीमा पर है, कई मौलिक बातो म प्रेमचन्द के 'गोदान' का पूर्वकल्पित रूप कहा जा सकता है। यह हिन्दी म अनुवादित हो चुका है। कई अन्य भाषाओ में भी इसके अनुवाद हो रहे हैं।

फ़कीर मोहन के सहयोगियों म राधानाथ राय और मधुसूदन राव दो बड़े नाम हैं। दोनों महाकवि थे। सेनापति ने जो कुछ गद्य म किया, राधानाथ न उसकी पूर्ति कविता में की। उनका प्रसिद्ध काव्य 'चिलिका' हिन्दी में प्रकाशित हो चुका है और अन्य भाषाओं में भी उसके अनुवाद हो रहे हैं।

जैसा कि पीछे वताया गया, उडिया-भाषी प्रदेश का एकीकरण दीर्घ काल तक उडिया जनता का सबसे वडा स्वप्न और सबसे वडी महत्वकाक्षा रही है। यह प्रादेशिक राष्ट्र-प्रेम उडीसा के जिस सपूत की लेखनी से व्यक्त हुआ, वह थे पडित गोपबधुदास (१८७७—१९२८)। एक प्रकार से वही वर्तमान उडिया राष्ट्रीयता के ध्वजवाहक थे। उन्हे और उनके अनुयायियो को उडिया साहित्य मे 'सत्यवादी दल' के नाम से अभिहित किया जाता है। यह दल आगे चल कर गाधी युग के सत्याग्रह आन्दोलन मे विलीन हो गया।

सत्यवादियो के वाद नवयुवको का एक दल आगे बढा, जो बगाल के 'सबूज' (सब्ज) पत्र के नाम पर 'सबूज दल' कहलाया। इस दल के लेखक बगला और विशेषकर महाकवि ठाकुर के साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करते थे। इनमे कालिदीचरण पाणिग्राही का उपन्यास 'माटीर माणिष' (मिट्टी का पुतला) हिन्दी मे प्रकाशित हो चुका है।

'सबूजो' के वाद तथाकथित प्रगतिवादियो का युग आया। ये सोशलिस्ट या कम्यूनिस्ट साहित्यकार इस शती के तीसरे दशक के मध्य मे प्रकट हुए। उन्होने अधिकतर वर्गयुद्ध पर आधारित रचनाएँ प्रस्तुत की। इन लोगो मे सची राउत राय की 'पल्लि-श्री' काफी लोक-प्रिय हुई। लेकिन अन्य भारतीय भाषाओ की तरह उडिया मे भी यह मार्क्सवादी साकेतिक शैली प्राय समाप्त सी हो गई है। पर उसके स्थान पर अव स्पष्ट वामपक्षी विचारधारा सभी साहित्यिको का सामान्य विषय वन गई है।

वर्तमान युग के प्रामाणिक दल मे राधामोहन गडनायक और उपन्यासकारो मे विशेषकर दो भाई गोपीनाथ और कान्हुचरण महान्ती उल्लेखनीय हैं। गोपीनाथ के आदिवासियो के जीवन पर लिखे गए 'अमृतर सन्तान' नामक उपन्यास पर भारतीय साहित्य अकादेमी ने १९५५ म पुरस्कार दिया था। उसका हिन्दी अनुवाद अकादेमी की ही ओर से 'अमृत सन्तान' नाम से प्रकाशित हुआ है।

आज का उडिया साहित्य पर्याप्त समृद्ध और शक्तिशाली है। उसका भविष्य भी वहुत उज्ज्वल है। उसके पास न केवल प्राकृतिक सम्पत्ति की

सम्भावनाएं बहुत विस्तृत हैं, बल्कि कला और संस्कृति के क्षेत्र में भी उसकी परम्पराएं ऊँची रही हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि आधुनिक उडिया साहित्य अपने रूप और सामग्री की दृष्टि से सम्पूर्णतया जन-साधारण का साहित्य है। इसी में उसकी शीघ्रकालिक प्रगति की सम्भावनाएं निहित हैं।

समाज व्यवस्था

उडिया हिन्दू समाज—और उडिया समाज प्रधानतः हिन्दू ही है—जाति-पाति व्यवस्था की दृष्टि से बगाल और बिहार से बहुत कुछ भिन्न है। उडीसा में आदिवासी जन-जातियाँ इतनी अधिक सख्या मे हैं, तथा वे साधारण हिन्दू समाज के ताने बाने मे कुछ इस तरह मिली-जुली हैं कि बहुधा उन्हे साधारण हिन्दुओ से पृथक कर देखना कठिन हो जाता है। बहुत से उप-जाति नाम आदि-वासी जन-जातियो और हिन्दू जातियो मे समान रूप से पाए जाते हैं। इस कारण बहुधा यह कहना कठिन हो जाता है कि कोई विशेष नाम किसी जन-जाति का है अथवा वर्ण-व्यवस्था के अतर्गत किसी हिन्दू जाति का। अवश्य यह बात अधिकतर शूद्रो मे ही लक्षित होती है। उनकी बहुत सी उपजातियो की गणना कही आदिवासियों में की जाती है, और कही हिन्दू निम्न जातियो मे। उदाहरणार्थ चाषा, पान, गौड, और सहर आदि आदिवासी जन-जातियाँ भी हैं, और हिन्दू निम्न जातियाँ भी। यह बात उल्लेखनीय है कि उडीसा म—सम्भवत जगन्नाथ के धार्मिक साम्यवाद के कारण—जाति-पाति के बधन ज्यादा सुदृढ नहीं हैं। जातियो के नीचे से ऊपर उठने की परिपाटी यहाँ बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है।

साधारण हिन्दू समाज मे नियमानुसार सबसे ऊपर ब्राह्मण हैं। कहा जाता है कि करीब एक हजार वर्ष पूर्व उडीसा के एक राजा ने ब्राह्मण धर्म की पुनर्स्थापना के लिए कन्नौज से ब्राह्मणो को बुलाया था। ब्राह्मण उप-जातियो म 'शासनी' अर्थात् 'राजाओ द्वारा सम्मानित' श्रेष्ठतम मानी जाती है। इनके अलावा 'कौशाम्बी' और 'वारेन्द्र' (उत्तर बगाल के) ब्राह्मण भी हैं। स्थानीय ब्राह्मणो मे 'उत्कल' सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनकी गणना पच गौड़ों म की जाती है। जिन ब्राह्मणों ने पहले-पहल यहाँ आकर जगल साफ किए और बस्ती

की, उन्हे 'ग्ररण्यक' कहा जाता है । कई स्थानीय पुरोहित वश भी ब्राह्मण मान ग्रोम लिए गए हैं, जैसे रघुनाथिया, रामचन्द्रिमा ग्रादि । इन ब्राह्मणो मे जहाँ एक ग्रति सम्मानित पडित, पुरोहित, विद्वान ग्रौर धर्म-शास्त्री हैं, वहाँ दूसरी ग्रोर घरेलू नौकर ग्रौर रसोइए भी शामिल हैं । बगाल, ग्रासाम ग्रौर बिहार मे ऐसे ब्राह्मण उडिया रसोइए काफी सख्या मे मिलते हैं । कटक के उडिया, जिनमे गरीब ब्राह्मण भी होते हैं, मेहनत-मजदूरी ग्रौर घरेलू नौकरी की खोज मे विशेषकर बगाल मे जाते हैं । इस कारण बगाल ग्रादि मे उडियो के सम्बध मे ग्रनेक भ्रामक धारणाग्रो ने जन्म लिया है जो पूरी तरह ग्राज तक समाप्त होने मे नहीं ग्राईं ।

उडिया समाज मे दूसरी उल्लेखनीय जाति 'खडँतो' की है । यह बगाल के 'वैद्यों' की तरह, उडीसा की अपनी विशिष्ट हिन्दू जाति है । 'खडैत' का ग्रर्थ है खडा-धारी ग्रथवा 'तलवार उठाने वाले ।' कहा जाता है कि ये लोग पहले ग्रहिंसावादी वैश्य थे, परन्तु जब देश ग्रौर धर्म पर ग्रापत्ति ग्राई, तो क्षत्रिय-वशो के साथ उन लोगो ने भी शस्त्र धारण किए । इसी से इनका नाम 'खडैत' पडा । यह लोग पहले राजाग्रो के सैनिक होते थे । ग्राज उडिया जन-जीवन मे इनका स्थान बहुत ऊँचा है । यह ग्रधिकतर कृषक है । 'करण' उडीसा के परम्परागत चले ग्रा रहे लेखक हैं । उन्हे बगाल ग्रौर उत्तरी भारत के कायस्थो के समान समझना चाहिए । करणो का कहना है कि वह उडीसा-राजाग्रो के बुलावे पर यहाँ ग्राये थे । मध्य-देशीय कायस्थो की बारह शाखाग्रो मे एक 'कर्ण' ग्रथवा 'करण' भी हैं । उडीसा के करण इन्ही मे से हो, तो ग्राश्चर्य नहीं । दफ्तरी कर्मचारी के ग्रर्थों मे 'केरानी' शब्द भी सम्भवत इसी से बना है ।

उडीसा के भूतपूर्व देसी राजे ग्रौर सामत लोग स्वय को राजपूत बतलाते हैं । यहाँ इनकी जाति 'राजन्य' कही जाती है । राजन्य, राजपूत ग्रौर क्षत्रिय पर्यायवाची शब्द हैं । कुछ राजे ग्रवश्य राजपूत होगे । परन्तु ग्रधिकतर पुराने स्थानीय सामतो के वशज ही दीखते हैं ।

करणो के बाद ग्रन्य शूद्रो का विशाल समूह है, जिनमे १७ उपजातियाँ निम्न गिनी जाती हैं । शूद्रो मे खास-खास उपजातियाँ हैं, चाशा (किसान), गौड (ग्वाले) बान्द्रा, पाहु, गोखा, बाउरी, गोला, गुरिया ग्रौर कैवर्त्त ।

इनमे कान्द्रा और पान अति निम्न जातियाँ हैं। कई उडिया जातिय अपना सम्बध खास-खास शहरो से बतलाती हैं, जैसे 'अघरिया', जो कृषक हैं और 'भुलिया' (बुनकर) क्रमश. आगरा और दिल्ली से आने के दावेदार हैं। परन्तु अब तो यह सब भेद-भाव ही उठते जा रहे हैं और सभी तथाकथित निम्न जातियों के लोग अपने पैतृक कामों के अलावा दूसरे काम भी करने लगे हैं। वैसे कृषि अधिकतर लोगो का प्रधान कार्य है। उडीसा के प्रायः ६० प्रतिशत लोग खेती करते हैं। यह सम्भवत सारे भारत मे सबसे ऊँचा अनुपात है।

उडिया लोगो का खान-पान और रहन-सहन बगालियों के अनुरूप है। दीर्घकाल तक बृहत बगाल का अग रहने के कारण उडीसा पर बगाल का सास्कृतिक आधिपत्य बहुत अधिक रहा है। कला, साहित्य, नृत्य, नाटक और सगीत आदि के क्षेत्रों मे उडिया रचयिता बहुत दिनों तक बगाल से प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं, और यद्यपि इस आधिपत्य के विरुद्ध जातीय आन्दोलन मे अनेक उडिया कलाकारो ने योग दिया है, परन्तु उडिया विचारधारा बगाली प्रभाव से बिल्कुल मुक्त हो गई हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसके साथ ही बगाल को उडीसा की देन भी बहुत है, विशेषकर धर्म के क्षेत्र मे। उदाहरणार्थ जगन्नाथ पुरी की रथ-यात्रा के लघु रूप बगाल मे भी मिलते हैं। कलकत्ता के निकट श्रीरामपुर मे महेश की रथ-यात्रा बगाल का एक लोक-प्रिय उत्सव है।

बगालियो की तरह धोती कुर्ता या केवल धोती और सिर या कधे पर अँगोछा उड़िया जनता का साधारण वस्त्र है। यदि कुछ अतर है, तो केवल इस कारण कि उडीसा के लोग बगालियों से भी ज्यादा गरीब हैं। ऊनी कपडों की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती, परन्तु मुख्यत. गरीबी के कारण ही बहुसख्यक लोग अर्द्ध-नग्न अवस्था मे सारा जीवन बिता देते हैं। खाने मे चावल और मछली उनका प्रिय भोजन है। बगालियों की तरह उडिया लोग भी अपने खाने सरसों के तेल म पकाते हैं। इसी तेल की शरीर पर मालिश करने का रिवाज भी आम है। साधारण उडियाओं का शरीर ऐसी नियमित मालिश के कारण ताँबे की तरह चमकता रहता है। वे चावल साधारणत सेला इस्तेमाल करते हैं, जिसे उडीसा मे 'उसना' कहा जाता है।

आदिवासी

उडीसा मे आदिवासी जन-जातियो की सख्या बहुत अधिक है। प्राय. डेढ़ करोड की कुल जन-सख्या मे ३० लाख से अधिक अर्थात् कोई २२ प्रतिशत आदिवासी हैं। यह सारे भारत मे आदिवासियो का सब से अधिक अनुपात है। राज्य के कुल क्षेत्रफल का एक तिहाई से ज्यादा आदिवासी क्षेत्र के रूप मे घोषित है। ६० से ऊपर अनुसूचित जन-जातियाँ हैं। इनमे संख्या की दृष्टि से प्रधान हैं कध या खोड, गोड, सथाल और शबर या शौरा और 'हो'। खोड और शबर का उल्लेख प्राचीन सस्कृत ग्रथो मे आया है। यह दोनों कबीले उडीसा के अलावा आन्ध्र-प्रदेश मे भी मिलते हैं। शौरा लोग सिचाई योजना बनाने मे बडे दक्ष हैं। वे एक दीर्घ काल से अपने खेतो को पानी देने के लिए पहाडी नदियो और नालों पर बांधो का निर्माण करते आए हैं। वे अपने गाँव भी एक विशेष योजना के अनुसार निर्मित करते हैं, जिससे उनकी उत्तम बुद्धि और नागरिक सूझ-बूझ का परिचय मिलता है। खोड कबीले को आन्ध्र मे 'कवी' भी कहा जाता है। यह लोग द्रविड बोली बोलने वाले सबसे बडे कबीलों मे से हैं। उड़ीसा मे इनकी सख्या ६ लाख से अधिक है, जो सब कबीलों से सबसे बडी सख्या है। इस कबीले की कृषि और युद्ध सम्बन्धी रस्मों मे पहले नर-बलि की प्रथा भी शामिल थी। इनके यहाँ बलि दिये जाने वाले आदमी को 'मिरिया' कहते थे। वह हमेशा किसी दूसरे कबीले का आदमी होता था। अग्रेजी शासन-काल मे सशक्त सैनिक कार्यवाही द्वारा इन लोगो की इस भयानक प्रथा को रोका गया। आजकल यह लोग भैंस की बलि देते हैं।

उडीसा की कुछ आदिवासी जन-जातियाँ बहुत ही पुरानी और पिछडी हुई हैं। इन में खोड के अलावा बोन्डो-प्रजा, लुंज शौरा, लगी शौरा, भुआन और जुआग आदि का उल्लेख किया जा सकता है। जुआग कबीले के लोग तो आज भी वस्त्र के नाम पर पत्ते ही पहनते हैं। बहुत से कबीले जगल काट कर या जलाकर खेती करते हैं, और जमीन बदलते रहते हैं। इस तरीके को 'डाही' कहते हैं। आदिवासी लोग अरडी के तेल मे भी भोजन पका लेते हैं।

भोजन म कई तरह के जगली जानवरो तथा भैसे और सुअर का मास और जगली जडें होती हैं। घर मे बनाई हुई शराब पीने की आदत आम है। विहार की तरह उडीसा के आदिवासियो मे भी विदेशी मिशनरियो द्वारा ईसाई मत का बहुत काफी प्रचार हो रहा है।

खोड लोग अच्छे शिकारी होते हैं। विहार के 'हो' कबीले की तरह इनमे भी कुछ जवान बडे सुन्दर दीखते हैं। ये तीर-कमान और कुल्हाडी आदि से शिकार करते हैं, और बडे बहादुर, सत्यवादी और ईमानदार लोग हैं। इनकी औरतें ऊपर का शरीर नगा रखती हैं और केशो को माथे पर सीग की तरह सीधा गूँथती हैं। ये लोग शराब और ताडी के बडे रसिया हैं। इनके मुकाबले पर शौरा कबीले के लोग छोटे कद के और दुर्बल शरीर वाले हैं। शौरा इतने शराबी भी नही होते और अच्छे कृषक हैं। वे भी तीर-कमान से सज्जित रहते हैं।

उडीसा के आदिवासियों की सामान्य भाषा उडिया ही है। लेकिन कुछ कबीले मु डी और द्रविड बोलियाँ भी बोलते हैं। सथाल, 'हो', भूमिज और जुआग लोग मु डा बोलियाँ बोलते हैं, जबकि बहुसख्यक खोड कबीले की बोली द्रविड है। कुछ लोग बगला बोलने वाले भी हैं। परन्तु उत्तरी उडीसा के तो प्राय सभी लोग बगला बोल लेते हैं।

लोक-नृत्य

विहार की तरह उडीसा की आदिमजातियो के यहाँ भी लोक-नृत्य का भडार बहुत विपुल है। प्रत्येक जन-जाति के अपने विशिष्ट नृत्य हैं। इनमे 'मुरिया' गण का भैंस के सीगों वाला नृत्य उडीसा और आन्ध्र का सबसे प्रसिद्ध और प्रशसित लोक नृत्य है।

मयुरभज म 'छो' नृत्य का जो रूप मिलता है, वह विहार के 'छो' से भिन्न है। यहाँ यह 'पाइक' कहलाने वाले उडिया लडाकों के युद्ध-नृत्य के रूप में प्रचलित है। पाइक लोग स्वय को क्षत्रिय कहते हैं, और महाकाव्यो पर आधारित अनेक कथायें नृत्य में प्रस्तुत करते हैं।

मयुरभज के भूमिया लोग कई प्रकार के नृत्य करते हैं। इनका एक नृत्य

'करम' कहलाता है, जो भगवान शिव की स्तुति मे किया जाता है। एक और नृत्य 'मुडरी' कहलाता है। ये दोनो नृत्य वास्तव मे धरती और वनस्पति की पूजा पर आधारित हैं। उडीसा का 'यदुर' नृत्य अपनी अलग विशेषता रखता है। यह 'बुडो बोंगा' (परमेश्वर) की स्तुति के लिए होता है। खोड, गोंड, सौरिया और जुआग कबीलो के भी अपने अलग अलग नृत्य हैं। आम उडिया जनता मे चैतन्य का कीर्त्तन नृत्य और संगीत ही सर्वप्रधान है। वास्तव मे कीर्त्तन का प्रचलन बंगाल से भी अधिक उडीसा मे है। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि वैष्णव-मत यहाँ का लोक धर्म है।

पिछड़े हुये लोग

आज के जन-तन्त्रीय युग मे उडिया को एक पिछडा हुआ प्रदेश ही माना जाता है। राज्य की प्राय डेढ़ करोड की कुल जन-संख्या मे प्राय एक करोड जनता पिछडी हुई दलित जातियो मे गिनी जाती है। इन मे ३० लाख से अधिक तो अनुसूचित आदिवासी ही हैं। २५ लाख से अधिक तथाकथित अछूत हैं और ८० लाख से अधिक अन्य दलित जातियाँ हैं। सारे राज्य मे एक लाख से ज्यादा आबादी का केवल एक शहर है—कटक। शहरी आबादी केवल ४ प्रतिशत है। प्राय ९६ प्रतिशत लोग देहात मे रहते हैं। १९५१ की जनगणना के अनुसार पुरुषो मे १३ प्रतिशत और महिलाओ मे केवल २ प्रतिशत साक्षर थे। अवश्य विगत वर्षों मे इस परिस्थिति मे पर्याप्त सुधार हुआ होगा।

उडिया लोगो के इस पिछड़ेपन के कारण ऐतिहासिक और प्रशासनिक हैं। कई शतियो तक अलग-अलग प्रान्तो मे बटे रहने और स्वय उडीसा के बड़े भाग मे अगणित छोटे छोटे अयोग्य देशी राजाओं के अधीन रहने के परिणाम स्वरूप उनकी स्वाभाविक प्रगति रुकी सी रही है। इसके अलावा उडीसा मे पाश्चात्य सभ्यता और अंग्रेजी शिक्षा का सम्पर्क भी प्राय एक शती बाद पाया था। जिस समय बंगाल मे उसका अपना अंग्रेजी विश्वविद्यालय कायम हो चुका था और अंग्रेजी स्कूल और कालेज तो अगणित थे, उस वक्त उडीसा मे एक पक्का हाई स्कूल भी नहीं था। बाद मे जब वहाँ स्कूल और कालेज स्थापित हुए, तो वे भी एक दीर्घकाल तक कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधी

फिर १९४३ तक पटना विश्वविद्यालय के अधीन रहे। उडीसा का अपना उत्कल विश्वविद्यालय तो अभी १९४३ म आकर स्थापित हुआ।

आज भी उडीसा म यातायात के साधन न होने के बराबर हैं। प्राय- ४० प्रतिशत क्षेत्रफल बिल्कुल जगली है, जो अवश्य एक धन स्रोत है। लेकिन पक्की सडकें न होने के कारण राज्य के कितने ही क्षेत्र वर्षा के दिनो म बाकी देश से कट जाते हैं। ऐसी परिस्थितियो मे रहने वाले लोगों का पिछडापन स्वाभाविक ही है।

इसके बावजूद प्राकृतिक साधनो की दृष्टि से उडीसा बहुत समृद्ध प्रदेश है। वह जगली लकडी और खनिज पदार्थों का भडार है। भारत भर मे जितना लोहा निकलता है, उसका ८५ प्रतिशत भाग उडीसा और निकटवर्ती बिहारी जिला सिंहभूम मे उपलब्ध होता है। उडीसा के केवल मयुरभज जिले म भारत के कुल लोह भडार का ५० प्रतिशत से अधिक भाग अवस्थित है। इस प्रचुर लोह भडार के उचित उपयोग के लिए सरकारी क्षेत्र के तीन नये इस्पात-कारखानों मे से एक उडीसा (राउरकला) म स्थापित किया जा रहा है। इसके अलावा ज्यों ज्यों नए बाँधों से विद्युत शक्ति उपलब्ध होती जाती है, नाना प्रकार के अन्य उद्योग-धन्धे भी स्थापित होते जा रहे हैं। कुटीर शिल्प और हस्तकौशल के क्षेत्रों मे उडिया जनता की परम्पराएँ वैसे ही बहुत समृद्ध रही हैं उडीसा का हथकरघा, मिट्टी के खिलौने, सीग का काम, धातु का काम और विशेषकर चाँदी के तारों का 'फलिग्री' काम, भारत और विदेशों म प्रसिद्ध है। साराश यह कि उडीसा क लोग इस समय भले ही गरीब और शैक्षणिक दृष्टि से पिछडे हुए हो, परन्तु प्राकृतिक धन स्रोतो तथा कला कौशल और परिश्रम-क्षमता की दृष्टि से वे कई अन्य प्रदेशो के लोगो स आगे हैं। उडिया का भविष्य निश्चय ही उज्जवल है।

उडिया चरित्र

उडिया निरीहता' प्रसिद्ध है। साधारणत यह समझा जाता है कि उडिया से डरने की कोई जरूरत नहीं है, किसी को हानि पहुँचाना उसके लिए प्राय असम्भव है। औसत उडिया के सम्बन्ध म ये धारणाएँ दरअसल अन्य

प्रदेशों में उसके व्यवहार को सामने रखकर बताई गई है। लेकिन एक तो उड़िया लोग अपने घर से ज्यादा दूर जाते नहीं हैं, और दूसरे जो जाते भी हैं, वे साधारणतः गरीब और निम्न वर्ग के अशिक्षित लोग होते हैं, जिन्हें किसी दृष्टि से भी उड़ीसा की वास्तविक सभ्यता और संस्कृति का प्रतिनिधि नहीं समझा जा सकता।

औसत उड़िया बड़ा ही शान्ति-प्रिय, सरल-स्वभाव, धर्म परायण, परिश्रमी और सत्य-निष्ठ होता है। उसे सहज में क्रोध नहीं आता। लड़ाई-झगड़े से वह यथा-साध्य दूर रहता है। झगड़े निपटाने के लिए भी वह अदालत में जाना पसन्द नहीं करता, बल्कि अपने बड़े-बूढ़ों के निर्णयानुसार ही मामला खत्म कर देता है। अवश्य दुःखद ऐतिहासिक कारणों से वह अन्य प्रदेशों में विशेषकर कुछ दबा-दबा सा और पिछड़ा दिखाई देता है। परन्तु अब अपने प्रदेश में उस पर ऐसा कोई प्रभाव शेष नहीं रह गया है। उड़िया के पास अपने अतीत पर गर्व करने के लिए बहुत कुछ है। उसके वास्तविक कला-कौशल और प्राकृतिक सम्पत्ति का भंडार भी खूब भरा पुरा है। इसलिए प्रादेशिक राष्ट्र प्रेम और प्रांतीयता उसकी सहज भावनाओं का एक अभिन्न अंग है। लेकिन उड़िया जनता की यह प्रदेश-भक्ति अथवा प्रांतीयता स्वस्थ और प्रगतिशील है। यह पक्षपातपूर्ण तथा अन्य भारतीयों के प्रति घृणा या तिरस्कार-भावना पर आधारित नहीं है। अन्य प्रादेशिक लोगों के साथ उड़ियाओं का व्यवहार सदैव ही सभ्य-शिष्ट और मैत्री पूर्ण रहा है। कभी-कभी तो वह व्यवहार इतना विनम्र और सम्मान युक्त हो जाता है कि उड़िया चरित्र में हीन-भावना का आभास होने लगता है, लेकिन वास्तव में यह भी एक भ्रम मात्र ही है। औसत उड़िया सीधा-साधा, भोला और पिछड़ा हुआ अवश्य है, परन्तु वह मूलतः हीनतर नहीं है। इतनी बात जरूर है कि वे अवसर जो बंगाल को विशेषकर मिले, और जिनके कारण वहाँ के लोग अंग्रेजी राज्य में कई क्षेत्रों में प्रायः सारे ही भारत से आगे निकल गए, वे उड़िया जनता को प्रायः एक शताब्दी तक प्राप्त नहीं हो सके। परन्तु अब

विगत बीस वर्षो और विशेषकर १९४८ के संयुक्तिकरण के बाद से उडीसा एक स्वायत्त खंड-राज्य के रूप में बडी द्रुत-गति से आगे बढ रहा है। और वह दिन दूर नहीं, जब उडिया-भाषी जनता किसी क्षेत्र में भी अन्य भारतीयों से पीछे नहीं रहेगी।

द्वितीय खंड

दक्षिणी वर्ग

- तमिल
- मलयाली
- आन्ध्र
- कन्नडी

तमिल

दक्षिण भारतीय द्राविड जाति-परिवार के चार बड़े भाषिक समूहों में कई दृष्टियों से प्रमुख हैं वर्तमान मद्रास राज्य के निवासी, जो अपने प्रदेश को 'तमिलनाडु' और अपनी भाषा और स्वयं को 'तमिल' कहते हैं। इस प्रदेश का प्राचीन नाम 'तमिलकम्' था।

'तमिल' शब्द संस्कृत में 'द्राविड' का पर्याय माना जाता है। वहाँ यह दक्षिण भारत के सब मूल निवासियों और उनकी भाषाओं के लिए सामूहिक रूप से प्रयुक्त हुआ है। उस समय सब द्राविडों की सामान्य भाषा आदि तमिल थी, और अन्य द्राविड भाषाएँ जैसे तेलुगु, कन्नड और मलयालम आदि अभी अस्तित्व में नहीं आई थीं। 'तमिल' शब्द की व्युत्पत्ति भी 'द्राविड' से बतलाई जाती है। द्राविड, द्रामिड, द्रामिल, दमिल, तमिल। जिससे अंग्रेजी में (टमिलियन्' बना) और तमूलों—इस क्रम से, ये सब शब्द दक्षिण भारतीय द्राविडों और उनकी भाषाओं के लिए संस्कृत में आए हैं। परन्तु बहुत से तमिल, विशेकर जो अपना सम्बध उत्तर से जोड़ते हैं, ऐसा नहीं मानते। वे 'तमिल' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत 'द्राविड' से न मानकर स्वयं तामिल भाषा में उसका अर्थ 'मधुर' बतलाते हैं, अर्थात् तमिल जो एक मधुर भाषा है, उस के बोलने वाले भी तमिल' कहलाए।

कुछ विद्वान 'तामिल' की उत्पत्ति 'ताम्रलिप्ति' से बतलाते हैं जो बगाल के मेदनीपुर जिले में स्थित वर्तमान तामलूक का प्राचीन नाम था। यही नाम

पाली प्राकृत मे 'तमलिति' हो गया। इस स्थान से नावो द्वारा दक्षिण मे जाने वाले कुछ प्राचीन बंग मंगोली गणो का नाम 'तमिल' पड़ा। इस वर्णनानुसार आदि तमिल द्राविड़ न हो कर मंगोली थे, जो दक्षिण मे आकर द्रविडो मे घुल-मिल गए।

उत्तर भारत मे दक्षिण के सब लोगो को 'मद्रासी' कहा जाता है। इस नाम-करण का कारण बिल्कुल स्पष्ट है। अंग्रेजी राज्य-काल मे चूंकि दक्षिण मे केवल एक ही महाप्रांत था—मद्रास, और शेष क्षेत्र हैदराबाद, मैसूर और त्रावनकोर आदि की देसी रियासतो में बंटा हुआ था, इसलिए उस प्रदेश से सम्बंधित सभी भाषा-भाषी लोगो को 'मद्रासी' अर्थात् 'मद्रास प्रदेश का' कहा जाता था। साधारण बोल-चाल मे दक्षिण भारतीयो का यह सामान्य नाम आज भी प्रचलित है। परन्तु शुद्ध रूप मे तमिल की तरह 'मद्रासी' शब्द का प्रयोग भी अब केवल वर्तमान मद्रास राज्य अर्थात 'तमिड़नाडु' के निवासियों के लिए ही होना चाहिए। और अन्य लोगो, जैसे आन्ध्र, कन्नडी और मलयाली आदि को उनके उचित नामों से अभिहित किया जाना चाहिए। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अन्य लोगो की तो बात ही क्या, स्वय तमिल लोग भी अपने लिए 'मद्रासी' शब्द का प्रयोग पसन्द नही करते।

इतिहास

दक्षिण भारत मे प्रस्तर युग तक के चिन्ह मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि इस भूभाग मे लाखो ही वर्षों से मानव का निवास है। यहाँ के प्राचीनतम निवासी अफ्रीकनो से मिलते-जुलते 'नेग्रिटो' लोग रहे होंगे, ऐसा विद्वानों का मत है। वे छोटे कद, घोर काले रग, छोटी और चौड़ी नाक, मोटे होंट और ऊन जैसे काले गुम्फित बालो वाले जंगली लोग थे। अब उनके बहुत कम चिन्ह शेष रह गए हैं। उन के बाद वहाँ आस्ट्रिक जाति के लोग आए, जिनकी कई शाखाएं आदिवासी जन-जातियों के रूप भी आज भी मिलती हैं, जैसे 'चेन्चू, 'कुरुम्बा' और 'इरुला आदि। अंत में उत्तर से द्राविड़ आए। आर्य इसके सैकड़ों वर्ष बाद आए।

संस्कृत ग्रथो मे जहाँ तमिल का उल्लेख आया है, वहाँ उसके अर्थों मे, जैसा कि पीछे बताया गया, सम्पूर्ण द्राविड जाति आ जाती है। इस दृष्टि से तमिल लोगो का इतिहास एक निश्चित काल तक समस्त दक्षिण भारत का इतिहास है। न केवल तमिलनाडु, बल्कि सारे ही दक्षिण की वर्त्तमान जनसख्या अधिकतर उन लोगो की वशज कही जाती है, जो वैदिक काल मे आर्य आक्रमणो के कारण उत्तर और पश्चिम भारत से विस्थापित हो धीरे-धीरे दूर दक्षिण मे चले आए थे; और फिर यहाँ से समुद्र पार कर अन्य देशों, जैसे लका, मलय, हिंदचीन और सियाम-आदि में गये थे। सिंध मे मोहनजोदडो और पश्चिमी पजाब में हडप्पा तथा अभी हाल मे गुजरात मे अहमदाबाद के समीप लोथल मे पाए गए खडहरो को उन्ही द्राविड लोगो की प्राचीन सभ्यता का अवशेष बतलाया जाता है।

इन प्राचीन नगरो की खुदाई से जो वस्तुएं प्राप्त हुई हैं, उनसे प्रकट होता है कि अब से पाँच हजार वर्ष पूर्व यहाँ के द्राविड लोग कितनी उन्नति कर चुके थे। उपलब्ध मूर्तियो तथा मोहरो पर अकित चित्रो से प्रतीत होता है कि वे शक्ति-पूजक थे, और पशुपती के रूप मे शिव की पूजा करते थे। द्राविडो की यह सभ्यता इतिहास मे 'सिंधु सभ्यता' के नाम से प्रसिद्ध है। सम्भवत अपने से बलिष्ठ आर्य व अन्य जातियो से परास्त होकर यह लोग दक्षिण भारत की ओर चले आए। कुछ भी हो, यह सत्य है कि द्राविड अपनी समकालीन जातियो मे उच्च स्थान रखते थे। नागरिक सभ्यता मे वे आर्यों से अधिक समुन्नत थे।

पुराणो के अनुसार दक्षिणापथ मे जाने वाले सबसे पहले आर्य ऋषि अगस्त्य थे। उनसे पूर्व विन्ध्याचल गिरि श्रृ खला को 'अलघ्य' समझा जाता था, जिसका एक अर्थ यह भी था कि उस समय विन्ध्या को लांघना आर्यों के लिये निषिद्ध था। दक्षिण मे आर्यों के दल-बल सहित प्रवेश करने की पहली कथा रामायण मे वर्णित हुई है, ऐसा माना जाता है। सुयोग्य विद्वानो के मतानुसार राम-रावण युद्ध वास्तव मे आर्य-द्राविड सघर्ष का अतिम निबटारा था, जिसके बाद दक्षिण मे आर्य द्राविड समन्वय का क्रम सहज गति से सम्पन्न हुआ।

दक्षिण भारत के आदिकालीन इतिहास का कुछ संकेत उन तमिल पुराणो मे भी मिलता है, जो स्थानीय मंदिर के पुरोहितो के पास आज भी सुरक्षित कहे जाते हैं। इन पुराणो मे द्राविड़ जाती की अपनी देवमाला का वर्णन है, तथा द्राविड देवताओ और उत्तर से आने वाले आर्य देवताओ के बीच युद्धो, और दक्षिण मे आर्यों की बस्तियाँ स्थापित होने का विवरण दिया गया है। रामायण के अनुसार श्री राम के अन्तरीप तक जाने और लंका विजय करने की कथा तो प्रसिद्ध ही है। कहते हैं कि जिस स्थान पर इस समय रामेश्वरम का विश्वविख्यात मंदिर स्थित है, वहाँ पर श्री राम ने रावण का वध करने के पाप का प्रायश्चित्त किया था।

ऐतिहासिक काल मे इस भूखंड का उत्तरी भाग मौर्य साम्राज्य का अंग था। इसका एक प्रमाण अशोक महान के वे शिला-लेख हैं, जो आन्ध्र प्रदेश के दक्षिणी छोर तक मिलते हैं। परन्तु तमिल मुख्यभूमि अर्थात् प्राय द्वीप का बिल्कुल दक्षिणी भाग प्राचीन या मध्य युग मे किसी उत्तर-भारतीय साम्राज्य का अंग रहा हो, ऐसा प्रतीत नही होता। इस प्रदेश मे शताब्दियो तक तीन बडे राजवंशो के नाम आते हैं। उत्तरी और पूर्वी भाग मे चोल राज्य था और बिल्कुल दक्षिणी भाग मे पांडय राज्य, तथा पश्चिमी समुद्रतटवर्ती क्षेत्र मे जहाँ इस समय केरल प्रदेश है, चेर राजा राज्य करते थे। ये तीनो राजवंश तमिल थे। इनके अलावा पल्लव राजे भी हुए।

मध्य-युग के प्रारम्भ मे तंजौर के चोलो ने दक्षिण और पूर्व की ओर अपने राज्य को विस्तार देना आरम्भ किया। उन्होंने दक्षिण के पाड्य राज्य तथा उत्तर-पूर्व के पल्लव राजाओ को अपने अधीन करने के पश्चात् दक्षिणी आन्ध्र के पूर्वी चालुक्यो पर भी विजय प्राप्त की। इस प्रकार चोल सम्राटो का साम्राज्य पूर्वी समुद्रतट के साथ-साथ प्राय सारे ही दक्षिण भारत में विस्तृत हो गया। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का काल खंड तमिलनाडु के इतिहास मे सब से महत्वपूर्ण था। चोल सम्राटों ने उत्तर-पश्चिम की ओर भी अपना साम्राज्य फैलाने की चेष्टा की, परन्तु तत्कालीन कर्नाटक के होयसल राजाओं ने उनका सफलतापूर्वक विरोध किया। चोल साम्राज्य का यह उत्थान युग बारहवीं शताब्दी के अंत तक रहा, जिसके बाद उत्तर

में उसके कई प्रदेश वारंगल के आन्ध्र गणपति राजाओं ने छीन लिए। चोल साम्राज्य का सबसे प्रसिद्ध सम्राट राज महेन्द्र अथवा राजराज महान (९८५-१०२२ ई०) था, जो वास्तव में आन्ध्र के पूर्व चालुक्य वंश से था। उसी का पुत्र कोलट्टुंग चोल के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

तेरहवीं शती के अंत में, जबकि प्रायः सारे उत्तर भारत पर मुसलमान बादशाहों का आधिपत्य स्थापित हो चुका था, दक्षिण में तीन या चार बड़े हिन्दु राज-वंश राज्य कर रहे थे। इन में चोलों का राज्य तमिलनाडु के अधिकांश क्षेत्र पर था। परन्तु चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से दक्षिण में भी एक नई शक्ति का उदय हुआ। १३०३ ई० में मुसलमानों ने दक्षिण पर पहला आक्रमण किया। उसके सात वर्ष बाद अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति मलिक काफूर की सेनाएं आंधी की तरह समस्त दक्षिण को उजाड़ती चली गईं। पश्चिमी तट पर यादव और होयसल, उत्तर-पूर्व में गणपति, तथा दूर दक्षिण में चोल और पांडय राज्य सब देखते ही देखते नष्ट हो गए।

परन्तु शीघ्र ही नए मुसलमान शासकों और स्थानीय सामन्तों के बीच युद्ध छिड़ गए। उस निरंतर उपद्रव और अराजकता में से विजयनगर के महान हिन्दू साम्राज्य का उदय हुआ। विजयनगर का राजनैतिक केन्द्र यद्यपि तेलुगु प्रदेश में था, परन्तु अंतिम काल में उसकी राजधानी तमिलनाडु में ही रही। विजयनगर के सम्राटों ने कृष्णा नदी के तट से कन्याकुमारी तक सारे दक्षिण भारत पर राज्य किया, और २४० वर्षों तक मुसलमानी आक्रमण को रोके रखा। अंततः १५६५ ई० में बहमनी वंश के सुल्तानों द्वारा विजयनगर के विध्वंस के बाद तमिल प्रदेश में राज्यसत्ता छोटे-छोटे स्थानीय सरदारों के हाथ में आ गई। ये सरदार नायक अथवा 'पोलिगार' कहलाते थे। अन्त में केवल मदुरई के नायक ही शेष रह गए।

१७वीं शती के अंत से उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ तक दक्षिण भारत के इतिहास में मरहठों का विशेष हाथ रहा। इसी काल में विभिन्न यूरोपीयन शक्तियाँ भी दोनों समुद्र तटों पर कदम जमा रही थीं। पुर्तगाली बहुत पहले आ चुके थे। सत्रहवीं शती में डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज भी आ गए। तब

से दक्षिण भारत का इतिहास इन यूरोपीयन शक्तियों की पारस्परिक स्पर्द्धा, कूटनीति और युद्धनीति का इतिहास बन गया।

अंग्रेजों ने पहले-पहल १६११ ई० में मसूलीपट्टनम् और निज़ामपट्टन (आन्ध्र) में अपनी व्यापारिक कोठियाँ स्थापित की थी। १६३६ ई० में उन्होंने विजयनगर राजवंश के एक नामलेवा से मद्रासपट्टनम् का समुद्रतटवर्ती ग्राम खरीद कर वहाँ सेंट जार्ज के नाम से एक मजबूत किला बनाया। यह भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का पहला गढ़ था। यहीं से अंग्रेजों ने धीरे-धीरे सारे भारत में अपना जाल फैलाया। १६७४ ई० में फ्रांसीसियों ने भी पांडीचिरी में अपनी बस्ती स्थापित कर ली। इस प्रकार उस शती के अंत तक तमिलनाडु के कई समुद्र तटवर्ती स्थानों पर यूरोपियनों के अड्डे कायम हो गए।

अठारहवीं शती के अंग्रेज-फ्रांसीसी युद्धों के बाद १७६३ ई० की पेरिस संधि द्वारा भारत में फ्रांस की शक्ति का अंत हो गया। इस प्रकार, भारत में किस यूरोपियन शक्ति का साम्राज्य होगा, इतिहास का यह महत्वपूर्ण निर्णय जिस प्रदेश में हुआ, वह तमिलनाडु ही था। और इसी प्रकार भारत में सबसे पहले यूरोपियन राजनीति, अंग्रेजी सभ्यता और पाश्चात्य शिक्षा के सम्पर्क में जो लोग आए, वे भी तमिल ही थे। आज देश की राजनीति, शिक्षा और प्रशासन में तमिल प्रदेश के शिक्षित वर्ग को जो स्थान प्राप्त है, उसके निर्माण में अंग्रेज और अंग्रेजी के साथ उनके इस पुराने सम्पर्क का विशेष हाथ रहा है।

मंदिरों की भूमि

दक्षिण को मंदिरों की भूमि कहा जाता है। ईस्वी सन् की प्रथम सहस्राब्दी दक्षिण में मन्दिर-निर्माण का महान युग थी। उस काल में यहाँ पल्लव, पांड्य और चोल सम्राटों द्वारा अगणित भव्यशाली मन्दिरों की स्थापना हुई, जिनमें से अधिकतर, इस प्रदेश के बाहरी आक्रमणों से अपेक्षया बचे रहने के कारण, आज भी सुरक्षित हैं। द्राविड स्थापत्य-कला के ये उत्कृष्ट नमूने वर्तमान भारत में हिन्दुत्व के गौरव तथा विशुद्ध भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि हैं। इनमें पल्लव राजाओं द्वारा निर्मित कहे जाने वाले महाबलिपुरम्

ग्रोर काँचिपुरम् के स्तूप, चिदम्बरम् या नट-राज मंदिर, कुम्भकोणम् ग्रोर तंजोर के ग्रन्य शिव मंदिर, तिरुचिरापल्ली का विशाल दुर्ग-मंदिर, श्रीरंगम का रंगनाथ मन्दिर, तथा 'त्योहारों के नगर' मदुरई का मीनाक्षी मन्दिर समस्त हिन्दू जनता के लिए पुण्य तीर्थस्थान हैं। चोल सम्राटों द्वारा निर्मित तंजोर-स्थित बृहदेश्वर मंदिर को 'भारत का सर्वश्रेष्ठ मन्दिर' कहा जाता है, ग्रौर रामेश्वरम् के हजार स्तम्भों वाले रामनाथ स्वामी मन्दिर की भव्यता तो विश्व विख्यात है। धार्मिक दृष्टि से रामेश्वरम् का वही महत्व है जो उत्तर में काशी का है। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में तमिल लोगों को विश्व के महानतम मन्दिर-निर्माता कहा गया है, जो उचित ही है।

धर्म ग्रौर समाज

समस्त दक्षिण भारत की तरह तमिलनाडु भी हिन्दू प्रधान है। परन्तु दक्षिण का हिन्दू धर्म उत्तरी धर्म से बहुत कुछ भिन्न है। कई रीति-रिवाज, धार्मिक त्योहार ग्रौर पूजा पाठ की पद्धतियाँ, जो उत्तर में हिन्दू सनातन धर्म का ग्रभिन्न ग्रंग समझी जाती हैं, उनका दक्षिण में कुछ भी महत्व नहीं है। बहुत कुछ तो बिल्कुल विपरीत है। तमिल लोगों के ग्रपने विशिष्ट रीति रिवाज, कथा पुराण ग्रौर मेले-त्योहार हैं। दक्षिण में ग्रार्य-द्राविड सहवास ग्रौर समन्वय से जिन मिली-जुली सांस्कृतिक परम्पराग्रों का विकास हुग्रा, वे उत्तर की ऐसी ही परम्पराग्रों से इन ग्रर्थों में भिन्न हैं कि जहां उत्तर में बाहुल्य ग्रौर ग्राधिपत्य ग्रार्य तथा ग्रन्य विदेशी तत्वों का रहा, वहाँ दक्षिण में यही स्थान विशुद्ध द्राविड तत्व को प्राप्त है। उत्तर ग्रौर दक्षिण की संस्कृतियों में जो ग्रंतर दिखाई देता है, उसका मुख्य कारण यही जातीय भेद है।

तमिल भाषियों ने विशेषकर ग्रपने प्राचीन द्राविड तत्वों को सुरक्षित रखा है। इस दृष्टि से वे न केवल दक्षिण भारत, बल्कि सारे ही देश में तथा प्रदेशों में, जहाँ-जहाँ वे गए हैं, द्राविड भाषा कला ग्रौर संस्कृति के ध्वजवाहक रहे हैं। ग्रौर इसी विशिष्टता के कारण तमिलनाडु के कुछ राजनीतिक नेता ग्राज भी 'स्वतंत्र द्राविडस्थान' ग्रादि के नाम पर उत्तर विरोधी ग्रान्दोलन चलाते रहते हैं।

यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि छठी-सातवीं शती ईसवी के बाद जब उत्तर भारत में हिन्दू संस्कृति का पतन प्रारम्भ हुआ, तब दक्षिण में आर्य-द्राविड सम्मिश्रण से एक ऐसी सुन्दर मिली-जुली संस्कृति अस्तित्व में आ चुकी थी, जिससे आगे चल कर हिन्दू धर्म और संस्कृति की रक्षा करने में बड़ी सहायता मिली। आठवीं शती में तत्कालीन तमिल प्रदेश से आने वाले आद्य शंकराचार्य उत्तर को दक्षिण की उस सांस्कृतिक देन का एक महान उदाहरण थे।

वास्तविकता यह है कि दक्षिण-भारत चूंकि बाहरी आक्रमणों से अपेक्षाकृत अधिक दूर रहा, इसलिए वहाँ प्राचीन हिन्दू जीवन प्रणाली बड़ी हद तक सुरक्षित रह पाई। धार्मिक दृष्टि से अधिकतर तमिल लोग शिव पूजक हैं। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि धर्म-शास्त्रियों के मतानुसार शिव, शक्ति और लिंग की पूजा अपने मूल रूप में एक अनार्य तांत्रिक पद्धति रही है। दक्षिण में अगणित मंदिर केवल शिव लिंग की स्थापना के लिए निर्मित हुए हैं। मदुरा, तंजोर कांचीपुरम्, श्रीरंगम, चिदम्बरम् और वेलूर के भव्यशाली मंदिर, जो द्राविड़ स्थापत्य-कला के उत्कृष्ट नमूने हैं, अधिकतर शैव सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं।

दूसरे नम्बर पर वैष्णव मत है, जिसके अनुयायी अपना सम्बन्ध रामानुजाचार्य से जोड़ते हैं। दक्षिण में विष्णु-पूजा प्रत्यक्षतः अधिक होती है और अवतार-रूप में कम। राम-पूजा का तो प्रायः पूर्णतः अभाव है। अलग से कार्त्तिकेय-पूजा तमिल-प्रदेश की एक विशेषता है। वहाँ यह 'मुरुगन' के नाम से पूजे जाते हैं।

कहते हैं कि गौएँ चराने वाले कृष्ण का वर्णन सबसे पहिले तमिल पुराणों में मिलता है। जिससे कुछ विद्वानों का मत है कि उत्तर में कृष्ण-भक्ति का पथ दक्षिणी प्रचारकों ने चलाया था न कि इसके विपरीत, जैसा कि साधारणतः समझा जाता है। सच तो यह है कि हिन्दू धर्म अपने वर्तमान रूप में अधिकांश द्राविड़ों की देन है। इसलिए भी इस धर्म की परिपाटियाँ उत्तर से ज्यादा दक्षिण में सुरक्षित हैं।

दक्षिण में जाति-पाँति की जिस व्यवस्था का विकास हुआ, उसमें आर्य वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत केवल दो ही वर्ग जाति-समूह परिलक्ष्य में आए। उत्तरी

आर्यों और उनके स्थानीय वशजो से कुछ ब्राह्मणो का विकास हुआ और कुछ स्थानीय पुरोहित वशो को ब्राह्मण वर्ग म सम्मिलित कर लिया गया। तमिल ब्राह्मणो मे 'वडमा', 'बृहतचरणम्' और अष्ठ सहस्रम्' आदि उपजाति नामो से इस जाति प्रवेश का प्रमाण मिलता है। शेष सारी जन-सख्या 'अब्राह्मण' घोषित हुई। तमिलनाडु म आज भी प्राय यही परिस्थिति है। जाति-पाति प्रश्न अपनी समस्त कटुता और विषमता के साथ केवल 'ब्राह्मण' और 'अब्राह्मण' के आधारभूत भेद तक सीमित है।

दक्षिण भारत और विशेषकर तमिलनाडु मे यह भेद-भाव और उसके साथ ही छुआ-छूत का अभिशाप इतना भीषण रूप धारण किए रहा है कि उत्तर भारतीयो के लिए उसकी कल्पना करना भी कठिन है। ब्राह्मण पर तथाकथित अछूत की छाया भी पड जाए, तो पूर्वोक्त के लिए स्नान आवश्यक हो जाता था अब अवश्य इस स्थिति मे बहुत सुधार हो गया है।

तमिलनाडु का अब्राह्मण हिन्दू समाज अगणित उपजातियो में बटा हुआ है। इनमे 'नायकर', मरवर', और 'वेल्लालर' आदि भूतपूर्व सामत, योद्धा और शासक होने के नाते क्षत्रियो के समान हैं। वेल्लालरो मे मुदलियार और पिल्लई भी सम्मिलित हैं जिनम पहली उपजाति कर्नाटक मे और दूसरी केरल मे अधिक समुन्नत है। 'चट्टियार' तमिल प्रदेश का व्यापारी वर्ग है। ये उत्तरी अग्रवालो की तरह धन सम्पत्ति-युक्त लोग हैं। प्रदेश का अधिकतर बडा कार-बार इन्हीं के हाथ मे है। इनके बाद तथाकथित निम्न जातिया म 'काप्पो', 'पल्ल', परैयन, मल्ल, कल्वा और 'नाडार' की गणना की जा सकती है। नाडारो को किसी समय प्राय अछूत समझा जाता था, परन्तु आज उसी उप-जाति एक रत्न प्रदेश मुख्यमन्त्री है।

तामिलो की जाति-पाति व्यवस्था की तरह उनके उपजाति नाम भी उत्तर-भारतीयो के ऐसे ही नामो से भिन्न अर्थ रखते हैं। इनसे न केवल जाति, बल्कि बहुधा व्यक्ति के धर्म सम्प्रदाय का भी सकेत मिलता है। उत्तर मे ऐसे नाम केवल 'जैन' आदि ही हैं जो वास्तव म हिन्दू उपजाति-नाम भी नही हैं, बल्कि कुछ अलग ही धार्मिक विच र-धाराओ के नाम हैं। परन्तु तमिलनाडु म,

विशेषकर ब्राह्मण उपजाति नामो से, जाति के अतिरिक्त धर्म-सम्प्रदाय की भी अभिव्यक्ति होती है। उदाहरणार्थ तमिल ब्राह्मण नाम 'ग्रायगार' वैष्णव है, 'ग्रय्यर' शैव है और 'राव' मद्रास मे प्राय. मराठी ब्राह्मण का पर्याय है। यह तीनो वर्ग अपना सम्बन्ध क्रमशः रामानुजाचार्य, शकराचार्य और माधवाचार्य से जोडते हैं।

हिन्दुग्रो के अलावा तमिलनाडु मे जो अल्पसख्यक सम्प्रदाएँ है, उनमे ईसाई धर्मावलम्बी प्रमुख हैं। वास्तव मे प्राय सारे ही दक्षिण भारत मे ईसाइयों की वही स्थिति है, जो उत्तर भारत मे मुसलमानो की है। दक्षिण में मालाबार के मोपल्लो को छोड कर अन्यत्र मुसलमानों की सख्या प्रायः उपेक्ष्य है। परन्तु ईसाइ जनता पर्याप्त सख्या मे है, यह इस भू-भाग के भारत मे सब से पहले ईसाई धर्म के सम्पर्क मे आने का अच्छा या बुरा परिणाम है। उस परिस्थिति के निर्माण मे केवल यूरोपियन शक्तियो की राजनीति का ही योग नही रहा, बल्कि उन आदिकालीन ईसाई सतो की निष्ठा का भी हाथ है, जो ईसा की पहली शती से ही इस प्रदेश मे पहुचने लगे थे। बाद मे अंग्रेजो के आगमन से जहाँ इस ईसाइ धर्म-प्रचार को विशेष बल मिला, वहाँ सास्कृतिक क्षेत्र मे अंग्रेजी भाषा ईसाइयो के लिए विशेषत और अन्य शहरी जनता के लिए साधारणत प्राय एक द्वितीय भाषा का स्थान ग्रहण कर गई। अंग्रेजी भाषा पर मद्रासियो के आज तक चले आ रहे विशेष अधिकार तथा उसकी ओर झुकाव और पक्षपात के पीछे यही ऐतिहासिक तथ्य क्रियाशील हैं। इनसे वर्तमान परिस्थितियो मे जाति, धर्म और भाषा सम्बन्धी अनेक राजनीतिक जटिलताओ ने जन्म लिया है। तमिलनाडु मे हिन्दी-विरोधी आन्दोलन तथा केरल मे ईसाई उग्रता की समस्याएँ इनके दो प्रकट उदाहरण हैं।

भाषा और साहित्य

भारत की राष्ट्रीय भाषाओ म से मद्रासी जनता की भाषा है तमिल। यह द्राविड भाषा-परिवार की सब से पुरानी और मूलभूत भाषा है। इस परिवार की अन्य महत्त्वपूर्ण आधुनिक भाषाएँ, जैसे तेलुगू, कन्नड और मलयालम आदि

सब तमिल से निकली हैं। विद्वानों का मत है कि कोई मूल द्राविड भाषा इन चारों वर्तमान भाषाओं की माँ थी। उससे दो शाखाएँ निकलीं। एक तमिल-मलयालम और दूसरी तेलुगु-कर्नाटकम्। बाद में वे एक दूसरे से दूर होती गईं। आधुनिक तमिल में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है। परन्तु तमिल के तद्भव शब्द हो जाने के कारण उन्हें पहचानना बहुत कठिन है।

तमिल की लिपि और वर्णमाला अपनी है, जो रूप और ध्वनियों की दृष्टि से अन्य द्राविड लिपियों से भी भिन्न है। वर्णमाला में पहले पाँच वर्गों के केवल दो-दो ही अक्षर लिखे गए हैं। शब्दों में महाप्राण उच्चारण भी इन्हीं से किया जाता है। बाकी सब अक्षर तमिल के अपने हैं। यह लिपि और वर्णमाला पाँच सौ वर्षों से ज्यों की त्यों चली आ रही है। तमिल भाषा केवल तमिल प्रदेश तक ही सीमित नहीं है, बल्कि लंका के उत्तरी और पूर्वी भागों के तमिल निवासियों की भाषा भी यही है। तमिल की बोलियों में नीलगिरि के आदिवासियों की तुलु, कोडा, कोटा और बडग आदि की गणना भी है। परन्तु द्राविड भाषा-समूह की मूलभाषा होने के नाते सभी द्राविड भाषाओं और विभाषाओं को तमिल की बोलियाँ कहा जा सकता है। इस दृष्टि से कुर्ग की बोली 'कोडगु' तथा मध्य प्रदेश, आन्ध्र और उड़ीसा की 'गोंडी', 'खोंडी,' 'ओरॉव,' 'मालतो,' 'कुई,' 'कोरकु' और सुदूर बिलोचिस्तान की 'ब्राहुई' आदि सब द्राविड बोलियों का आधार और स्रोत प्राचीन तमिल है।

तमिल संस्कृत से भी अधिक प्राचीन भाषा है। परन्तु आर्यों के आगमन से पूर्व की मूल तमिल का कोई लिखित उदाहरण नहीं मिलता। प्राचीन तमिल का सर्वप्रथम ग्रंथ उसके संस्कृत के सम्पर्क में आने के बाद का है। यह सम्पर्क कम से कम चौथी शती ईसा-पूर्व जितना पुराना रहा होगा, ऐसा विद्वानों का मत है।

तमिल का सब से पुराना ग्रंथ 'तोलकाप्पियम्' नामक व्याकरण का ग्रंथ है, जिसे परम्परा के अनुसार अगस्त्य ऋषि के किसी शिष्य ने लिखा था। इस में तमिल में अपनाए गए संस्कृत शब्दों का विचार है। संस्कृत और तमिल अथवा आर्य और द्राविड—इन दो संस्कृतियों के परस्पर सम्पर्क और सह-

वास का एक उदाहरण ब्राह्मी लिपि मे लिखित तीसरी शती ईसा-पूर्व के वे बौद्ध गुफा-लेख हैं, जिनमें तमिल प्राकृत मिश्रित भाषा का प्रयोग हुआ है। प्राचीन तमिल का एक और उदाहरण ईस्वी सन् के प्रारम्भ का कोचीन के राजा का वह आदेश-पत्र है, जिसमे यहूदियो को बसने की अनुमति दी गई थी। कोचीन अब यद्यपि मलयालम-भाषी केरल प्रदेश मे है, परन्तु उस समय तक मलयालम एक पृथक भाषा के रूप मे विकसित नहीं हुई थी।

तमिल मे प्राचीन साहित्य का विशाल भडार है। ईस्वी सन् के आरम्भ से ही तमिल-सस्कृत मिश्रित भाषा मे बहुत सा दार्शनिक और आध्यात्मिक साहित्य लिखा जाने लगा था। आठवी शताब्दी का शैव, जैन और बौद्ध साहित्य भी प्राचीन तमिल की एक अमूल्य निधि है। चीनी यात्री ह्यूनत्सांग के भारत-भ्रमण के समय तमिल मे भोज-पत्रो पर ग्रथ लिखे जाते थे। मध्य-युग के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ अलबेरूनी ने इस प्रणाली का उल्लेख किया है। आज भी मद्रास में इन भोज-पत्रों का विपुल भंडार सुरक्षित है।

नवी-दसवी शती मे पाँड्य राज्य पर जैन प्रभाव लक्षित होता है। परन्तु तमिल साहित्य पर साधारणतः ब्राह्मणी प्रभाव ही अधिक रहा है, यद्यपि तमिल साहित्यकारो ने समय-समय पर इस प्रभाव का विरोध भी किया है। कम्बन की तमिल रामायण, जो चोल-साम्राज्य-कालीन साहित्यिक पुराणों के युग की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है, आज भी तमिल के प्राचीन श्रेष्ठ ग्रन्थो मे सब से अधिक प्रामाणिक और प्रशसित है।

तमिल साहित्य के इतिहास मे शकराचार्य और रामानुजाचार्य के नाम भी आते हैं, जिनमे शकर यद्यपि वर्त्तमान केरल प्रदेश से आए थे, परन्तु उन की अपनी भाषा तमिल ही थी। उन जैसे वेद-शास्त्र सस्कृत विद्वानों के सामान्यात्मक प्रयत्नो से ही सस्कृत और तमिल सांस्कृतिक धाराएं सहज गति से मिश्रित हुईं। सुविख्यात कर्नाटक सगीत इन्हीं धाराओ में से एक है।

भारतीय भाषाओ की तरह तमिल मे भी आधुनिक युग का प्रारम्भ उन्नीसवी शती मे ब्रिटिश साम्राज्य की सुस्थापना के साथ हुआ। तमिल मे

अठारहवी शती का एक ग्रंथ इस कारण उल्लेखनीय है कि उसका रचयिता जोजेफ पशी नामक एक विदेशी इटालियन पादरी था। उसने तम्ववाण के नाम से तम्बा-वाणी नामक यह ग्रथ १७४२ ई० मे लिखा था। तमिल मे और भी कई यूरोपियन पादरियो की रचनाएँ उपलब्ध हैं, परन्तु उनका कोई साहित्यिक महत्व नही है। उन्नीसवी शती मे प्रगतिशील पश्चिम के प्रभाव से तमिल में पहले-पहल अनुवाद और रूपातरण की धारा प्रचलित हुई। अग्रेजी और फ्रासीसी के अलावा बगला का भी बहुत सा साहित्य अनुवादित और रूपांतरित हुआ। बंकिम चन्द्र का 'आनन्द मठ' तमिल में भी प्राय. उतना ही पुराना है, जितना कि मूल बगला मे। वर्तमान शती मे भी रवीन्द्र नाथ ठाकुर और अन्य भारतीय तथा विदेशी लेखको की रचनाएं बराबर अनुवादित होती रही है। इससे आधुनिक तमिल साहित्य पर अग्रेजी, फाँसीसी और बँगला का बहुत गहरा प्रभाव पडा है।

वर्तमान शती से सही आधुनिकता और उसके साथ ही स्वतत्रता आन्दोलन का युग शुरू हुआ। इस युग मे आधुनिक तमिल साहित्य की सर्वोत्तम कृतियाँ वे राष्ट्रीय गीत हैं, जिनके रचयिता थे, महाकवि भारती। वह अपने उपनाम के सदृश केवल तमिलनाडु के कवि न रहकर सचमुच समूचे भारत के राष्ट्रीय महाकवि सिद्ध हुए। उनके परतत्रता के सारे दुखो से भरे स्वाधीनता के गीत भविष्य वाणी की तरह लगते हे, यद्यपि उनका काल स्वतत्रता-आगमन से लगभग एक चौथाई शती पूर्व था। तमिलनाडु मे भारती का वही स्थान है, जो बँगाल मे महाकवि ठाकुर का है।

तमिल-भाषी अपनी भाषा से अगाध प्रेम रखते हैं। इस भाषिक निष्ठा के सम्बध म डा० मीनाक्षी सुन्दरम पिल्लै लिखते हैं —

'तमिल भाषा का दैवीकरण अधिक किया जाता है और तमिल देश का कम। तमील-भाषी साधारणत अपनी भाषा को एक अवतार मानते हैं। वह शिव, विष्णु और शक्ति का सम्मिलित रूप है। तमिल भाषियो के हृदय मे प्रादेशिक राष्ट्र-प्रेम की भावना एक धार्मिक उत्साह की तरह बैठ गई है। कभी-कभी तो यह कट्टरपन की सीमा पर भी पहुच जाती है। उसे अपनी

वास का एक उदाहरण ब्राह्मी लिपि में लिखित तीसरी शती ईसा-पूर्व के वे बौद्ध गुफा-लेख हैं, जिनमें तमिल प्राकृत मिश्रित भाषा का प्रयोग हुआ है। प्राचीन तमिल का एक और उदाहरण ईस्वी सन् के प्रारम्भ का कोचीन के राजा का वह आदेश-पत्र है, जिसमें यहूदियों को बसने की अनुमति दी गई थी। कोचीन अब यद्यपि मलयालम-भाषी केरल प्रदेश में है, परन्तु उस समय तक मलयालम एक पृथक भाषा के रूप में विकसित नहीं हुई थी।

तमिल में प्राचीन साहित्य का विशाल भंडार है। ईस्वी सन् के आरम्भ से ही तमिल-संस्कृत मिश्रित भाषा में बहुत सा दार्शनिक और आध्यात्मिक साहित्य लिखा जाने लगा था। आठवीं शताब्दी का शैव, जैन और बौद्ध साहित्य भी प्राचीन तमिल की एक अमूल्य निधि है। चीनी यात्री ह्यूनसांग के भारत-भ्रमण के समय तमिल में भोज-पत्रों पर ग्रंथ लिखे जाते थे। मध्य-युग के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ अलबेरूनी ने इस प्रणाली का उल्लेख किया है। आज भी मद्रास में इन भोज-पत्रों का विपुल भंडार सुरक्षित है।

नवीं-दसवीं शती में पांड्य राज्य पर जैन प्रभाव लक्षित होता है। परन्तु तमिल साहित्य पर साधारणतः ब्राह्मणी प्रभाव ही अधिक रहा है, यद्यपि तमिल साहित्यकारों ने समय-समय पर इस प्रभाव का विरोध भी किया है। कम्बन की तमिल रामायण, जो चोल-साम्राज्य-कालीन साहित्यिक पुराणों के युग की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है, आज भी तमिल के प्राचीन श्रेष्ठ ग्रन्थों में सब से अधिक प्रामाणिक और प्रशंसित है।

तमिल साहित्य के इतिहास में शंकराचार्य और रामानुजाचार्य के नाम भी आते हैं, जिनमें शंकर यद्यपि वर्तमान केरल प्रदेश से आए थे, परन्तु उन की अपनी भाषा तमिल ही थी। उन जैसे वेद-ज्ञाता संस्कृत विद्वानों के समन्वयात्मक प्रयत्नों से ही संस्कृत और तमिल सांस्कृतिक धाराएँ सहज गति से मिश्रित हुईं। सुविख्यात कर्नाटक संगीत इन्हीं धाराओं में से एक है।

भारतीय भाषाओं की तरह तमिल में भी आधुनिक युग का प्रारम्भ उन्नीसवीं शती में ब्रिटिश साम्राज्य की सुस्थापना के साथ हुआ। तमिल में

पर भजन कीर्तन, छाया-नाट्य अथवा सगीत का कार्यक्रम रात-रात भर चलता है। ये सास्कृतिक गतिविधियाँ इन लोगो के दैनिक जीवन का एक अभिन्न अग है।

तमिल प्रदेश के अपने लोक-नृत्यो मे सबसे प्रसिद्ध है 'कुरवजि' नृत्य, जिसे शास्त्रीय भरत नाट्यम् का पूर्व रूप मानना चाहिए। इस नृत्य की परम्परित कलाकार 'कुरति' नाम की एक घुमक्कड पहाडी जन-जाति की लडकियाँ हैं। यह लोग सारे प्रदेश मे घूमते हुए लोगो की हस्तरेखाएँ पढ़ कर अपनी जीविका कमाते हैं, और मनोरजन के रूप मे इस नृत्य का प्रदर्शन करते हैं। इसकी शैली भरत नाट्यम् की अपेक्षा अधिक सरल और आनन्दवर्द्धक है। आजकल आधुनिक कलाकारो ने भी इस शैली को अपना लिया है, और इसके आधार पर अनेक उच्चस्तरीय नृत्य-नाटक संगठित किए हैं। तामिल प्रदेश का एक और लोक-नृत्य 'कोलट्टम्' कहलाता है। यह एक प्रकार का डडिया नृत्य है, जिसे युवतियाँ त्योहारो के अवसर पर अथवा मनोरजन के लिए करती हैं। 'कुम्मी' नाम का एक नृत्य कृषक स्त्रियो को बहुत प्रिय है। इसमें वे एक वृत्त में घूमती हुई अग सचालन द्वारा फसल की बोआई, कटाई आदि क्रियाओ का अनुकरण करती हैं। यह दोनो नृत्य केरल मे भी प्रचलित हैं।

भरत-नाटयम् और कर्नाटक सगीत

भारतीय कला निधि को तमिलनाडु की दो महत्वपूर्ण देन है भरत नाटयम् और कर्नाटक सगीत। भरत-नाट्यम् भारत की सर्वश्रेष्ठ और शुद्धतम शास्त्रीय नृत्य शैली है। भरतमुनि को उसका आदि आचार्य माना जाता है। इस दृष्टि से इसका उत्स उत्तर-भारतीय आर्य सस्कृति मे ही है। परन्तु कुछ विशेष ऐतिहासिक कारणो से इसका अधिक विकास और अनुशीलन दक्षिण मे हुआ, जहाँ मदिरो की देव-दासियों के साथ इसका विशेष सम्बध रहा है।

दक्षिण मे इस नृत्य शैली से सम्बद्ध जितनी भी कथाएँ प्रचलित हैं, वे किसी न किसी रूप में अर्जुन के व्यक्तित्व पर आधारित हैं। एक कथा के अनुसार अर्जुन ने अपने निर्वास के दिनो मे मत्स्य या विराट की राजकुमारी उत्तरा

को यह नृत्य सिखाया, और विराट (वर्तमान जयपुर) मे यह शैली समस्त भारत मे फैली। एक दूसरी कथा के अनुसार अर्जुन ने कलिंग की राजधानी मारणक-पट्टनम् मे वहाँ के राजा चित्रवाहन की पुत्री चित्रागदा को, जिससे उनका विवाह हुआ था, यह नृत्य सिखाया। दक्षिण मे साधारणत चित्रागदा को ही इस शैली की प्रथम नर्त्तकी माना जाता है। वह स्वय देव-दासी बनी थी, और अर्जुन के साथ नही गई थी। इन कथाओ के आधार पर भरत-नाट्यम् का प्रादुर्भाव महाभारत काल से मानना चाहिए।

यह मूलत: सकेतात्मक और अर्थ-बोधक नृत्य है। पुरुषो के नृत्य को 'ताडव' तथा स्त्रियों के नृत्य को 'लास्य' कहते हैं। पौराणिक ग्रथों म ताडव शिव का और लास्य पार्वती का नृत्य है। भारत की समस्त शास्त्रीय नृत्य शैलियाँ भरत-नाट्यम् से ही निकली हैं। यह विशुद्ध कला और सौंदर्य की दृष्टि से वस्तुत: अद्वितीय है। भारत की यह नृत्य शैली यदि आज सम्पूर्ण विश्व म प्रख्यात और प्रशसित है, तो इसका श्रेय प्रधानतः तमिल नाट्याचार्यों और उनके कुशल शिष्य शिष्याओ को ही प्राप्त है।

कर्नाटक सगीत भारत की दो प्रधान शास्त्रीय सगीत शैलियो म से एक है। यह मूलत: उत्तर-भारतीय शास्त्रीय सगीत ही है। परन्तु वर्तमान 'हिन्दुस्तानी सगीत' से अवश्य बहुत प्राचीन और बहुत समृद्ध है। यो समझना चाहिए कि जहाँ 'हिन्दुस्तानी सगीत' हिन्दुओं के शास्त्रीय सगीत म मुसलमानी अभिरुचि का परिणाम है, वहाँ कर्नाटक सगीत सस्कृत राग-रागिनियों को द्रविड शैली म गाने का नाम है। इस दृष्टि से ये दोनो शास्त्रीय सगीत शैलियाँ आधार भूत रूप से एक ही हैं। अन्तर केवल रूप और विस्तार म है। और यह अन्तर भी उत्तरी सगीत पर मुसलमानी प्रभाव पड़ने के बाद से उत्पन्न हुआ है।

यहाँ यह बात भी स्पष्ट कर देनी चाहिए कि कर्नाटक सगीत का वर्तमान कर्नाटक प्रदेश (मैसूर) से कोई विशेष सम्बन्ध नही है। यह वास्तव म तमिल सगीत है, जिसके लिए शास्त्रीय प्रेरणा उत्तर भारतीय आर्य सगीत से ली गई, और जिसके विकास म सम्पूर्ण दक्षिण की प्राचीन लोक-शैलियों का समावेश है। इस प्रकार कर्नाटक सगीत अब सारे दक्षिण भारत का प्रचलित शास्त्रीय

सगीत है।

कहा जाता है कि इसका नाम 'कर्नाटक' बारहवी शती मे सोमेश्वर मुलाकमन नामक एक तमिल नरेश ने रखा था। तब कर्नाटक प्रदेश पूर्वी समुद्रतट तक विस्तृत था। यह भी सम्भव है कि उत्तर से आने वालो ने इस सगीत के पूर्व रूप को पहले-पहल कर्नाटक मे देखा, जिससे उन्होने अपनी सगीत शैली से उसकी भिन्नता व्यक्त करने के लिए उसका नाम 'कर्नाटक' रख दिया।

विजयनगर साम्राज्य के युग मे इस सगीत का विशेष उत्थान हुआ। तभी से इसका वर्तमान रूप चला आ रहा है। सोलहवीं शती मे हुए वेंकटमुखी को आज के कर्नाटक सगीत का जन्म-दाता माना जाता है। उन्होने इसे सुदृढ आधारो पर पुनर्गठित किया। यह एक विचित्र सयोग है कि उत्तर में तानसेन ने भी उसी शती में परम्परित शास्त्रीय सगीत को वर्तमान 'हिन्दुस्तानी संगीत' का रूप दिया था।

तमिल अथवा कर्नाटक सगीत के दो काल माने जाते हैं। ५० ईसा पूर्व तक का युग संगम-काल था, जबकि प्राचीन द्रविड सगीत उत्तर-भारतीय ब्राह्मणो के माध्यम से आर्य सगीत के सम्पर्क में आया। तब से १८०० ई० तक का दीर्घ काल खण्ड 'थेवर' कहलाता है, जिसमें यह अपनी पूर्णता को पहुँचा। अठारहवी शती इस सगीत का स्वर्ण-युग थी, जबकि आन्ध्र के त्याग-राज और श्याम शास्त्री तथा मुत्तुस्वामी और क्षेत्रज्ञ आदि कई संगीतज्ञ हुए।

कर्नाटक सगीत में "जनक" अर्थात् मुख्य राग सख्या में ७२ हैं, और शेष सब राग और रागिनियाँ उनसे निकली हैं। रागो का स्वरूप उत्तरी और कर्नाटक सगीत में एक ही है, यद्यपि उनके नाम भिन्न भिन्न हैं। अलाप और तान आदि के ढग तो अवश्य बिलकुल अलग-अलग हैं। बहुत से ताल समान हैं, यद्यपि कर्नाटक के कुछ अपने ताल भी हैं। यह बात भी उल्लेखनीय है कि कर्नाटक के कुछ विशिष्ट ताल, जो उत्तर मे कहीं नही मिलते, बगाल के कीर्तन सगीत में प्रयुक्त होते हैं। इससे भी इस धारणा की पुष्टि होती है कि सेन राज-वश, जो बगाल का अन्तिम हिन्दू राजवश था, कर्नाटक से गया था, और उसी

के राज्यकाल में कर्नाटक सगीत की कुछ विशेषताएँ और दुर्गा-चामुडा की पूजा-पद्धति का वर्तमान रूप बगाल में प्रचलित हुआ।

उत्तर-भारतीय शास्त्रीय सगीत की तरह कर्नाटक सगीत को भी समझने तथा उसके रसास्वादन के लिए मौलिक ज्ञान और विशेष रुचि अपेक्षित होती है। उत्तरी सगीत साधारणत मद गति से और शातमय ढग से चलता है। उसमें सगीतकार को पर्याप्त स्वतन्त्रता भी रहती है। परन्तु कर्नाटक सगीत अपेक्षाकृत अधिक तीव्र, चचल और जटिल है। ताल के लिए पखावज और झाँझ आदि का प्रयोग किया जाता है, जबकि उत्तर में 'तबला' प्रधान है। कौन शैली कानो को अधिक मधुर लगती है, यह तो श्रोता की रुचि पर निर्भर है। इतनी बात अवश्य मान्य है कि तमिल लोग विशेषत और दक्षिण-भारत के सभी लोग साधारणत अपने शास्त्रीय सगीत पर जो अत्यधिक गर्व करते हैं, वह निराधार नही है।

पोगल

प्रति वर्ष जनवरी मे मकर सक्राति के अवसर पर 'पोगल' का त्रिदिवसीय त्योहार तमिल लोगो के लिए साल का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवसर होता है। यह एक प्रकार से उत्तर-भारत की वैशाखी की तरह फसली त्योहार है। इन दिनो में धान की नई फसल काटी जाती है, और नए धान को नए घडों मे उबाला जाता है। पोगल का शाब्दिक अर्थ भी 'उबालना' ही है। यह तमिल लोगो का राष्ट्रीय त्योहार है।

तीन दिन तक आनन्दोल्लास का वातावरण रहता है। त्योहार का पहला दिन 'भोगी पोगल' अर्थात घरेलू उत्सव के रूप म मनाया जाता है। दूसरे दिन को *'सूर्य पोगल'* कहते हैं। इस दिन *'पोगल'* (चावल, दूध और गुड) उबाल कर सूर्य देव को अर्पित करते हैं। मित्रगण एक दूसरे का अभिवादन करते हुए पूछते हैं, उबाल लिया ? उत्तर मिलता है' हाँ उबाल लिया। इस दिन सब से ज्यादा खुशियाँ मनाई जाती हैं।

तीसरे दिन 'मट्टु पोगल, पशुओ के आदर सत्कार के लिए है। 'मट्टु' का

अर्थ है, ढोर-डगर। इस दिन देवताओ को चढाया हुआ 'पोंगल' पशुओ को खिलाया जाता है, और इसी पोंगल के रगीन गोले बना कर पक्षियो के लिये बाहर खुले मे रखा जाता है। बैलो के सीगो पर पालिश और रग किया जाता है, तथा उनके गले मे फूल-मालाएँ पहनाई जाती हैं। यह एक प्रकार से चौपायो की पूजा ही है। इस दिन मदुरई, तिरुचिरापल्लि और तजौर आदि मे साडो की एक विशेष प्रकार की लडाई होती है, जिसे 'जाल्लिकट्टु' कहते हैं। उत्तेजित साँडो को जिनके सीगो से नोटो के बडल बँन्धे होते हैं, मैदान मे इधर-उधर भगाया जाता है। और देहाती शूरवीर बडे साहस, चतुराई और फुर्ती से उन नोटो को, झपट लेने का प्रयास करते है। यह काफी खतरनाक खेल है, और कभी-कभी तो कोई व्यक्ति दुर्भाग्यवश घायल भी हो जाता है। उसी दिन रात को नई फसल के चावल आदि के साथ पचायती भोज होता है, जिसमे बिना किसी भेद-भाव के अमीर, गरीब सब लोग भाग लेते हैं। यहाँ तक कि कोई अपरिचित पथिक भी उधर आ निकले, तो उसे भी भोज मे बैठने का आमत्रण दे दिया जाता है। इस प्रकार तमिल जनता का यह त्रिदिवसीय त्योहार धूम-धाम के साथ सम्पन्न होता है।

तमिलनाडु मे दशहरे का त्योहार भिन्न रूप से मनाया जाता है। नवरात्रि के पहले तीन दिन लक्ष्मी की पूजा होती हैं। फिर तीन दिन तक शक्ति या पार्वती की पूजा, और अन्तिम तीन दिन सरस्वती के पूजा के लिए नियत हैं। आठवें और कभी-कभी दसवें दिन 'आयुद्ध पूजा' अर्थात हथियारो की पूजा का विशेष आयोजन होता हैं। विजयदशमी को पुस्तको तथा सगीत के उपकरणों की पूजा के रूप मे सरस्वती की अराधना की जाती है।

दक्षिण मे 'दीपावली' भी भिन्न रूप और अर्थ रखती है। तमिल प्रदेश मे यह त्योहार नरकासुर पर श्री कृष्ण की विजय के उपलक्ष्य मे मनाया जाता है, इस दिन सब लोग नए वस्त्र और नई वस्तुएँ खरीदते हैं, और नदी अथवा समुद्र मे विशेष रूप से स्नान करते हैं। तमिल जनता की अपनी दीवाली पूर्णमासी को 'कर्थिकई, त्योहार के रूप म मनाई जाती है। इस का सम्बध राजा महाबलि से बतलाया जाता है। धारणा यह है कि इस दिन महाबलि अपने

राज्य में वापस आते हैं। इसलिए उन के स्वागतार्थ दीपमाला की जाती है, इनके अलावा जनवरी में कर्नाटक संगीत के प्रसिद्ध आचार्य त्यागराज का जन्मोत्सव भी अपनी विशेषता रखता है। इस अवसर पर तरुण संगीत-साधक तिरुवडि में आचार्य के स्मारक पर एकत्र हो प्रेरणा पाते हैं।

उत्तर भारत में होली एक बड़ा त्योहार है। प्राचीन काल में तमिल प्रदेश में यह त्योहार वसंत के अवसर पर मनाया जाता था और इसे कामदेव का त्योहार अथवा कामन् विल्लभ कहते थे। परन्तु आज कल जो त्योहार 'कामन् पिडिगति' के नाम से मनाया जाता है, उसका सम्बन्ध शिव द्वारा कामदेव के भस्म किये जाने से है। 'दीपावली' को कार्तिकेय दीपम्' के नाम से मनाया जाता है। दक्षिण भारत में दीप को हर घर में एक पवित्र वस्तु समझा जाता है, और प्रति सायं उसकी पूजा की जाती है।

सामूहिक त्योहारों के अलावा खास-खास मंदिरों के अपने विशेष उत्सव हैं, हैं, जो ब्रह्मोत्सवम् के नाम से मनाए जाते हैं, जैसे अप्रैल में तमिल नववर्ष के अवसर पर तिरुवडि और कुंभकोणम् के निकट मुरुट्टु में मन्दिरों की अपनी रथ-यात्राएँ होती हैं। ब्रह्मोत्सव से अगले दिन इष्ट-देव को रथ में आरूढ़ कर के सैंकड़ों श्रद्धालु खींचते हैं। आन्ध्र में भी ऐसे ही उत्सव हैं।

वस्त्र और भोजन

सुदूर दक्षिण में लांग के बिना लुंगी-नुमा धोती बांधने का जो रिवाज है, यह वास्तव में तामिलियों की विशेषता है। इस प्रकार की धोती को तमिल में 'वेट्टि' कहते हैं। यह केवल दो गज की होती है। तमिल प्रदेश में 'वेट्टि' का बाहरी किनारा बाईं ओर रहता है, और केरल में दाईं ओर। इस प्रकार धोती बांधकर चलने में वहां के लोगों को कोई विशेष असुविधा अनुभव नहीं होती। परन्तु काम काज करते समय, अथवा जब किसी से दो-दो हाथ करने की नौबत आ जाए तो धोती को घुटनों के पास से दोहरा करके कमर के गिर्द बग लिया जाता है। ऐसी दोहरी की हुई धोती तमिल और मलयाली लोगों का एक प्रतीक चिन्ह है।

'वेट्टि' के अलावा अंगवस्त्रम् के रूप में 'तुंडु' अथवा छोटी चादर का

प्रयोग किया जाता है, या रेशमी कुर्ते का। आधुनिक युवागण वेट्टि के साथ अंग्रेजी कमीज भी पहन लेते हैं। कभी-कभी तो इस पर कोट भी पहन लिया जाता है, आजकल पतलून का अधिक प्रचलन होने से वेट्टि का प्रयोग अनौपचारिक अवसरों तक सीमित होता जा रहा है।

स्त्रियों में साड़ी का रिवाज आम है। सोने-चाँदी की किनारी वाली साड़ियाँ अधिक पसन्द की जाती हैं। युवतियों के लिए विशेष प्रकार का घाघरा और चोली, और उनके सिर कंधों से नीचे तक लपेटी हुई ओढ़नी तमिल प्रदेश की विशेषता है।

तमिल भोजन में, जिसे प्रायः सारे ही दक्षिण भारत का सामान्य भोजन कहना चाहिए, चावल प्रधान है, और खानों की विशेषता है खटाई और मिर्चों का अधिक प्रयोग तथा नारियल के तेल में खाना पकाने की पद्धति। ब्राह्मणों को छोड़ कर शेष अधिकांश जन-संख्या मांसाहारी है, और चाय के स्थान पर काफ़ी तमिल लोगों को अधिक प्रिय है। इनके यहाँ कॉफी बनाने पीने और पिलाने का अलग ही शिष्टाचार है।

दक्षिण भारतीय भोजन के कई प्रकार विशेष कर जल-पान के क्षेत्र में उत्तर भारत में भी बहुत प्रसिद्ध और लोक प्रिय हो गए हैं, जैसे इड्ली, दोसई, सांबर, उट्टपम्, वाडा, उप्पमा, रसम और मोर कलम्बु आदि। आज उत्तर-भारत में शायद ही कोई बड़ा नगर हो, जहाँ कोई तथाकथित 'मद्रासी होटल, या रेस्टोराँ न खुल गया हो, और उन में दक्षिण भारती प्रवासियों से ज्यादा स्थानीय लोग इन वस्तुओं को चाव से न खाते हों। अब तो कितने ही घरों में यह चीजें प्रवेश कर गई हैं। सच बात यह है कि जल-पान के क्षेत्र में मद्रास ने सारे भारत को मात दे दी है।

तमिल पुरुषार्थ—

तमिलनाडु के ब्राह्मणों में कुछ आर्य मिश्रण को छोड़ कर शेष प्रायः सारी जन-संख्या मुख्यतः द्राविड तत्व से निर्मित है। यह बात एक प्रकार से सारे ही दक्षिण भारतीयों पर लागू होती है, परन्तु इन में भी तमिल लोग विशेष हैं। किसी भी मानव-समूह में विशुद्ध तमिल को पहचानना कठिन नहीं है। औसत

तमिल छोटे कद और गहरे भूरे से लेकर घोर काले रंग तक का, तथा छोटी और चौड़ी नाक, मोटे होंठ और तेज चमकीली आंखों वाला होता है। वह उत्तर भारतीयों की तुलना में प्रकटतः कुछ दुर्बल और आलसी अवश्य दिखाई पड़ता है, परन्तु उसका शरीर अपेक्षाकृत अधिक गठा हुआ और हाथ-पाँव सुदृढ़ होते हैं। तमिलियों के सिर के बाल प्रायः बहुत काले और घने होते हैं। और कहीं-कहीं हब्शियों जैसे गुच्छे बने हुए बालों वाले भी मिल जाते हैं, जिससे इस प्रदेश में नीग्रो जाति के प्राचीन वास का पता चलता है।

तमिल साधारणतः साहसी, सहनशील, पुरुषार्थी और धर्म-परायण होता है। किसी ने उचित ही कहा है कि दुनिया में जहाँ कहीं मेहनत से पैसा कमाने की बात हो, वहाँ आपको तमिल अवश्य मिलेगा। तमिल सदा से समुद्र-यात्री रहे हैं। यह लोग व्यापार-वाणिज्य से लेकर मजदूरी और घरेलू नौकरी तक सब काम कर लेते हैं। इन के पंडित जहाँ संस्कृत के ज्ञान, दर्शन और वेदांत में उत्तर-भारतीय शास्त्रियों से टक्कर लेते हैं, वहाँ इनके मजदूर, कारीगर, व्यापारी, दफ्तरी कर्मचारी और अन्य आधुनिक बुद्धि-जीवी प्रत्येक क्षेत्र में सफलता पूर्वक प्रतियोगिता करते दिखाई देते हैं। लंका के चाय और रबड़-बगानों में दस लाख से भी अधिक तमिल लोग काम करते हैं, जिससे उस देश में तमिल अल्प-संख्यकों की समस्या सदैव बनी रहती है। बर्मा, मलाया, हिन्द-चीन, इन्डोनेशिया, मारेशस, पूर्वी और दक्षिण अफ्रिका तथा फिजी और कितने ही अन्य स्थानों पर भारतीयों की जो बस्तियाँ हैं, उनमें अधिकतर तमिल हैं। मलय, सियाम और दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में 'कलिंग' कहलाने वाले मजदूर मुख्यतः तमिल हैं।

बंगालियों की तरह प्रवासी तमिलों में भी स्थानीय लोगों से अलग-थलग स्वयं-पूर्ण अवस्था में रहने का रुझान बहुत प्रबल है। वे जहाँ भी जाते हैं, वहाँ अपनी भाषा, विशेष वस्त्राभूषण, खान-पान, रहन-सहन और सांस्कृतिक गतिविधियों को सयत्न बनाए रखते हैं। इस प्रकार, वे अपने आस-पास एक छोटा-सा 'तमिलनाडु' बना लेते हैं। प्रतिकूल परिस्थितियों से वे नहीं घबराते और हर प्रकार के लोगों के साथ निर्वाह कर लेते हैं। यदि औसत तमिल को

सुबह-सवेरे अपनी काफी का प्याला, खाने के लिए मसाला दोसा, इडली और रसम तथा सायकाल कर्नाटिक भजन मडली का सगीत सुनने को मिल जाए, तो वह दुनिया मे किसी भी स्थान पर सतोषपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है। वह साधारणत तीक्ष्ण बुद्धिवाला, बातूनी, भावुक और कला प्रिय होता है। अग्रेजी राज मे अग्रेजी भाषा पर अपने विशेष अधिकार के कारण तमिल शिक्षित वर्ग सरकारी नौकरी के क्षेत्र मे सदैव आगे रहा है। आज भी तमिलियो की ओर से हिन्दी को केन्द्रीय राज भाषा बनाए जाने का जो विशेष विरोध देखने मे आ रहा है, उसका कारण उनकी यही अग्रेजी परम्परा है, न कि हिन्दी सीखने में कोई असाध्य कठिनाई। वास्तव मे यदि उन्हे आवश्यक समय और सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाएँ, तो वे हिन्दी मे भी वैसे ही निपुण सिद्ध हो सकते हैं, जैसे कि अग्रेजी मे हैं। हिन्दी वालो को यह बात कभी नही भूलनी चाहिए कि 'हिन्दी की जननी' सस्कृत के ज्ञान मे तमिल पडित आज भी उत्तर-भारतीयो से आगे हैं। वर्त्तमान लेखक के विचार मे यह बात दक्षिण मे हिन्दी प्रचार के लिए बहुत सुविधा-जनक सिद्ध हो सकती है।

तमिल जनता ने यदि एक ओर महान पडित, दार्शनिक, लेखक, सगीताचार्य और कुशल बुद्धिजीवी पैदा किए है, तो दूसरी ओर अखिल भारतीय स्तर के राष्ट्रीय नेता, अन्तराष्ट्रीय महत्व के वैज्ञानिक, वीर योद्धा और निर्भीक सैनिक भी देश को दिए हैं। भारतीय सेनाओ मे 'मद्रासी' वहिनियाँ अपनी असाधारण परिश्रम-क्षमता, मितव्ययिता और कर्त्तव्य-निष्ठा के लिए प्रसिद्ध हैं।

मलयाली

सुदूर दक्षिण में पश्चिमी समुद्रतट के साथ-साथ अन्तरीप तक फैले हुए केरल राज्य के निवासियों का नाम है मलयाली। अरब सागर और पश्चिमी घाट के दक्षिणी छोर से घिरे हुए इस नव निर्मित प्रदेश में पहले ट्रावन्कोर और कोचीन की देसी रियासतें और पुराने मद्रास महाप्रांत का मलाबार जिला हुआ करता था। इन्हीं तीन खंडों के संयुक्तीकरण से वर्तमान केरल राज्य का निर्माण हुआ है।

केरल बड़ा ही सुन्दर और मनोरम प्रदेश है। बारहों महीने चारों ओर हरियाली छायी रहती है। स्वयं मलयाली लोग तो इसके प्राकृतिक सौंदर्य को सम्पूर्ण जगत में अद्वितीय मानते हैं। यहाँ शहरों और देहात में वैसा अन्तर भी नहीं है, जैसा कि अन्य राज्यों में दिखाई पड़ता है। सड़क या जल-मार्ग के साथ-साथ मीलों तक मकान और बस्तियाँ चलती हैं। इस प्रदेश की पहाड़ी घाटियाँ, समुद्री खाड़ियाँ, नदी नाले और झीलें तथा बीच बीच में जहाँ-तहाँ नारियल के झुंड और धान के खेत, काली मिर्च, इलायची, अदरक और काजू के बगीचे वस्तुतः एक अनुपम दृश्य उपस्थित करते हैं।

केरल शब्द की उत्पत्ति कई प्रकार से बतलाई जाती है। साधारणतः इस का शाब्दिक अर्थ 'केर' (नारियल) और 'तल' (भूमि) से 'नारियल का देश' किया जाता है। परन्तु एक धारणा यह भी है कि यह शब्द मूलतः 'चेरतल' है, अर्थात् 'वह देश जहाँ चेर राजा राज्य करते थे।' इसी प्रकार 'मलयालम' का

अर्थ है 'पहाडी देश' 'मल' पहाड और 'मलयम्' अथवा 'इल्लिम्' गाँव या घराने को कहते हैं। कुछ लोग 'मलयाली' शब्द का भी अर्थ करते हैं। और 'मल' (पहाड) और 'आलि' (जल, समुद्र) से 'वह देश जो पहाड और समुद्र के बीच मे स्थित हो, इसका यह अर्थ बतलाते है। परन्तु साधारणत देश को केरल, भाषा को 'मलयालम' और लोगो को 'मलयाली' कहा जाता है।

इतिहास

पौराणिक कथा के अनुसार केरल देश का निर्माण ऋषि जमदग्नि के पुत्र भार्गव ने किया था, जो भगवान परशुराम के नाम स विष्णु के छठें अवतार माने जाते हैं। उन्होने वरुणदेव से वरदान पाकर अपने फरसे द्वारा गोकर्ण से कन्याकुमारी तक इस भूमि को समुद्र से निकाला, ऐसा कहा जाता है। मलयाली कवियो ने जब कभी केरल की महिमा गाई है, उसे गोकर्ण स कन्याकुमारी तक फैला हुआ बतलाया है। अन्तरीप को केरल माता के चरण' कहा गया है, जिन्हे तीन समुद्रों का जल स्पर्श करता है। रामायण, महाभारत और कालीदास की कृतियो मे भी केरल का सदर्भ आता है। प्राचीन यूनानियो और रोमनो को इस देश का पता था, और अशोक के शिला-लेखो मे इसे 'केरल पुत्र' के नाम से अभिहित किया गया है।

इतिहासज्ञो का मत है कि अति प्राचीन काल म केरल एक गणराज्य था। शासन-सूत्र गाँव के मुखियाओ के सघ के हाथ में रहता था, जिसे 'कूट्टम्' कहते थे। उनका फैसला 'कुरि' कहलाता था। मलयालम म इन दो शब्दो की विद्यमानता केरल की प्राचीन जनतन्त्रीय शासन प्रणाली की द्योतक है।

प्राचीन केरल सुदूर दक्षिण के तीन द्राविड राज्यो मे से एक था। अन्य दो राज्य थे चोल और पांड्य-जो वर्तमान तमिल प्रदेश म स्थित थे। केरल मे चेर वश के राजा राज्य करते थे। इसलिए उस युग म इसका नाम चेर राज्य था। प्रह्लाद के बेटे महाबलि को चेर वश का प्रथम पुरुष माना जाता है। बहुत प्राचीन काल से ही इस राज्य की बदरगाहो मे विदेशी जलयानों के आवागमन का पता चलता है। यहाँ से हाथी दाँत, गरम मसाला और विभिन्न

प्रकार के पशु-पक्षी निर्यात होते थे। अरबी इतिहासों के अनुसार ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व इस्राइल के बादशाह सुलेमान के जहाज यहाँ की बन्दरगाहों मे आए थे। यूनान, रोम और चीन के साथ इस देश के व्यापारिक सम्बन्ध थे, जिनका उल्लेख मेगस्थनीज ने किया है। यहाँ के प्राचीन स्थापत्य पर चीनी प्रभाव के स्पष्ट लक्षण चीन के साथ इस देश के तत्कालीन सांस्कृतिक आदान-प्रदान के सूचक हैं।

कहना कठिन है कि उत्तर-भारत से आर्य लोग यहाँ पहले-पहल किस युग मे आए। साधारणतः दक्षिण मे आर्यों का प्रवास रामायण काल से ही माना जाता है। परशुराम की कथा से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने इस देश के राजाओं को प्रभावित करने के बाद उत्तर से आर्य ब्राह्मणों को बुलाकर यहाँ बसाया होगा, और उन ब्राह्मणों ने अपनी उत्तम बुद्धि, कूटनीति और धर्म-संगठन के बल पर यहाँ के मूल निवासियों को शीघ्र ही अपने अधीन कर लिया होगा, उन आदिम निवासियों में वर्तमान 'नायरों' के पूर्वज प्रमुख थे। उनकी अपनी एक समुन्नत द्राविड सभ्यता थी। उनमे मातृ-पूजा, शक्ति-पूजा और विशेष कर नाग-पूजा की पद्धतियों को देखते हुए कुछ विद्वान उन्हें 'नाग जाति' का नाम भी देते हैं।

केरल के 'नायरों' की उत्पत्ति एक और प्रकार से भी बतलाई जाती है। कहा जाता है कि यहाँ आर्य, ब्राह्मणों और द्राविड निवासियों के बीच मेल जोल से जो संतान उत्पन्न हुई, वह 'नागर' कहलाई। 'नागर' शब्द मलयालम में शिव के लिए प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ है 'नागवाला'। वही 'नागर' शब्द आगे चलकर 'नायर' हो गया। इतनी बात अवश्य स्वयं-सिद्ध है कि यह 'नायर' लोग नाग-पूजक थे। आज भी कितने ही नायर घरों के आंगन में एक विशेष स्थान रहता है जिसे 'कावु' कहते हैं। 'कावु' का अर्थ है सर्पों का झुण्ड। इस जगह 'नागम्-प्रतिष्ठम्' के नाम से पत्थर की एक या कई नाग-मूर्तियाँ रहती हैं।

केरल में प्रारम्भिक ब्राह्मण शासकों के बाद क्षत्रिय राजाओं का युग आया। ईसा से ११३ वर्ष पूर्व क्षत्रिय-वंशी उदयभान वर्मन पहले राजा बने। इस वंश के राजा 'पेरुमाल' अर्थात 'बड़े राजा' कहलाते थे। त्रावनकोर और कोचीन

दोनो के वर्तमान राजवंश तथा कितने ही पुराने सामतगण अपना सम्बन्ध इन्ही प्राचीन पेरुमालो से जोडते हैं।

पेरुमाल राजाओ का राज्य-काल, जो प्राय. एक हजार वर्ष तक चलता रहा, केरल के इतिहास मे स्वर्ण-युग माना जाता है। इन राजाओ ने यहाँ की कला और स्थापत्य, भाषा और सगीत तथा कृषि और व्यापार को अभूतपूर्व उन्नति दी। पेरुमाल राजा भास्करराव वर्मन ने सन् ८२५ईस्वी मे अपना सवत् भी चलाया था, जो 'कोल्लवर्ष' कहलाता है।

केरल अथवा चेर के पेरुमाल राजवश का अत नवी शती ईस्वी के मध्य मे हुआ, जब अतिम राजा चेरमणि पेरुमाल ने सम्भवत. अरब धर्मोपदेशकों के प्रभाव से इस्लाम ग्रहण कर सिंहासन त्याग दिया, और राज्य को अपने सम्बन्धियो मे विभाजित कर हज् करने मक्का चला गया। इस प्रकार सयुक्त केरल के महान हिन्दू राज्य का अन्त हुआ, और इस प्रदेश के विभिन्न भागो मे छोटे-छोटेसामतो ने अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिए।

दसवी शती से चौदहवी शती के प्रारम्भ तक केरल के बडे भाग पर तमिलनाडु के चोल सम्राटो का आधिपत्य रहा, जिसका अन्त दिल्ली के खिलजी सेनापति मलिक काफूर ने किया। तेरहवी शती के अतिम दशक मे प्रसिद्ध इटैलियन यात्री मार्को पोलो इस प्रदेश मे आया था। उसने अपनी यात्रा-कथा मे यहाँ के ईसाइयो और यहूदियो तथा गरम मसाले और हाथी-दाँत के व्यापार का उल्लेख किया है। बाद मे विजयनगर के उत्थान काल मे अन्य दक्षिणी प्रदेशो के साथ केरल भी उस महान साम्राज्य का अग बना। परन्तु १५६५ ई० मे, जब विजयनगर का अत हुआ, तब केरल फिर एक बार कई भागो मे बट कर आपसी लडाइयो में उलझ गया। सत्रहवी शती के मध्य से केरल पर कभी बीजापुर के आदिलशाही बादशाहो का, कभी मैसूर के राजा का, और फिर प्राय. एक शताब्दी तक डचो का प्रभुत्व रहा। इस बीच पुराने सयुक्त केरल की कल्पना ही लुप्त हो गई। उसके स्थान पर त्रावनकोर व कोचीन की नई रियासतें और कई छोटे-छोटे सामत और सरदार अपने-अपने दल बनाकर पारस्परिक युद्धो मे व्यस्त रहने लगे।

इसी उथल-पुथल और आपसी फूट के परिणाम-स्वरूप विभिन्न यूरोपियन शक्तियों को यहाँ अपनी सत्ता बढ़ाने का सुअवसर मिला। १४९८ ई० में वास्कोडीगामा ने कोचीन पहुंच कर यूरोपियन व्यापारियों के लिए भारत का समुद्री मार्ग निर्दिष्ट कर दिया था। तभी से उनके विभिन्न दल भारत पहुंचने लगे थे। सब से पहले सोलहवीं शती के प्रारम्भ में पुर्तगाली पहुंचे। उन्होंने गोआ (कोन्कन) और कालीकट (कोचीन) में अपने किले बनाए। उनके बाद डच्, फ्रांसीसी और अंग्रेज भी आ गए।

व्यापारियों के वेश में आने वाले इन साम्राज्यवादियों न स्थानीय राजाओं की आपसी लड़ाइयों से खूब लाभ उठाया और अधिकाधिक क्षेत्र पर अधिकार जमाने का क्रम आरम्भ किया। इनमें अंग्रेज सब से ज्यादा चतुर, योग्य और भाग्यवान निकले। ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने केरल म० अपनी पहली कोठी १६८४ में स्थापित की थी। उन्होंने केरल के सामन्तों को मैसूर के हैदर अली और फिर उसके बेटे टीपू सुल्तान का मुक़ाबला करने में सहायता देकर उन पर धीरे-धीरे अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। टीपू की पहली पराजय के बाद मलाबार, और उसकी मृत्यु पर कई अन्य क्षेत्र अंग्रेजों के अधिकार म आ गए। अन्ततः त्रावनकोर और कोचीन के नरेश, जो अंग्रेजों के मित्र और कृपा-पात्र बने थे, अंग्रेजी साम्राज्य के दास बन कर रह गए। सम्पूर्ण ब्रिटिश युग में यह स्थिति बनी रही।

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद केरल के संयुक्तिकरण की ओर पहला कदम १९४९ म उठाया गया, जब त्रावनकोर और कोचीन के एकीकरण से संयुक्त राज्य की स्थापना हुई। बाद में सीमा आयोग की सिफारिशों के अनुसार मद्रास राज्य के मलाबार जिले को भी इसमें मिला कर वर्तमान केरल प्रदेश का निर्माण किया गया।

जाति, धर्म और समाज

अधिकांश मलयाली जनता का जातीय स्वरूप, नाक-नक्श और रंग आदि की दृष्टि से द्राविड़ है। आर्य तत्व, जो स्वयं बहुत कुछ मिश्रित हो चुका है,

केवल ब्राह्मणो तक सीमित है। ये ब्राह्मण 'नम्बूदरी' कहलाते हैं। केरल के आदि निवासी किसी काल मे कई तरह की जन-जातियो मे व्यवस्थित रहे होंगे, जिनमें से कुछ जातियाँ आज भी पहाडी आदिवासियो के रूप मे सुरक्षित हैं। कई बिल्कुल जगली, प्रायः नग्न, असभ्य जन-जातियाँ भी हैं, जिन्हें केरलीय समाज व्यवस्था मे 'अछूतो' से भी नीचे रखा जाता था। इन जन-जातियो को 'नीच' की सज्ञा दी जाती है।

प्राचीन जन-जातियो के समाज मे सम्भवत. श्रम-विभाजन की प्रक्रिया द्वारा जाति-पाति की जो व्यवस्था अस्तित्व मे आई, उसकी कई उपजातियो का उल्लेख आदि तमिल ग्रन्थों मे मिलता है। ये उपजातियाँ प्रकटत. धधे और पेशे पर आधारित थीं। जैसे 'उल्लवन' (किसान), 'वणिक' (व्यापारी), 'वत्तई' (मछेरा), 'टुड्डिय', 'पनियन' और परयन आदि। बाद मे यहाँ का मिश्रित हिन्दू समाज आर्य वर्ण-व्यवस्था के अतर्गत तीन सवर्ण और दो 'अछूत' जाति-समूहो मे विभाजित हो गया। इन पाँच समूहो की फिर ६४ उपजातियाँ बनी।

समाज-व्यवस्था मे सबसे ऊपर नम्बूदरी ब्राह्मण है, जो मलयालम में 'नम्पूतिरि' कहलाते हैं। ये लोग शताब्दियो से महन्त, धर्माधीश, रक्षा-पुरुष (शासक) भूस्वामी और भूदेव (जागीरदार) बने रहे हैं। धनवान और विद्वान होने के नाते ये आज भी समाज में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। ये बडे चतुर, वाकपटु और तीक्ष्ण बुद्धि वाले लोग हैं। पुरोहिताई, पठन-पाठन और शास्त्रार्थ इनके विशेष कार्य हैं। नम्बूदरियो की आठ शाखाएँ मानी जाती हैं। इनके नीचे बारह उपजातियाँ 'अन्दरल' (अन्तराल) कहलाती हैं, अर्थात् 'बीच की जातियाँ', जो न ब्राह्मण हैं और न शूद्र। इन्हे केरलीय हिन्दू समाज की विशिष्ट जाति समझना चाहिए। ये लोग पहले मदिरो के उच्च कर्मचारी हुआ करते थे और इनकी जीविका ब्राह्मणो की इच्छा और कृपा पर निर्भर थी। अन्दरालो के बाद बाकी सब लोग शूद्र हैं, अथवा अछूत। परन्तु शूद्रो मे जो लोग ब्राह्मणो के आगमन से पहले राजा सामत अथवा योद्धा थे, वे ब्राह्मणो की दृष्टि मे शूद्र होने पर भी उच्च वर्ग मे गिने गए। शूद्रो की अठारह उपजातियाँ मानी जाती हैं, जिन मे 'नायर' 'पिल्लइ' 'कम्मल', 'कुरुप्प', 'कर्त्ताव' और 'मेनन'

इसी उथल-पुथल और आपसी फूट के परिणाम-स्वरूप विभिन्न यूरोपियन शक्तियों को यहाँ अपनी सत्ता बढ़ाने का सुअवसर मिला। १४९८ ई० में वास्कोडीगामा ने कोचीन पहुच कर यूरोपियन व्यापारियो के लिए भारत का समुद्री मार्ग निर्दिष्ट कर दिया था। तभी से उनके विभिन्न दल भारत पहुचने लगे थे। सब से पहले सोलहवीं शती के प्रारम्भ म पुर्तगाली पहुचे। उन्होने गोग्रा (कोल्लन) और कालीकट (कोचीन) मे अपने किले बनाए। उनके बाद डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज भी आ गए।

व्यापारियो के वेश म आने वाले इन साम्राज्यवादियों ने स्थानीय राजाओ की आपसी लडाइयों से खूब लाभ उठाया और अधिकाधिक क्षेत्र पर अधिकार जमाने का क्रम आरम्भ किया। इनमें अंग्रेज सब से ज्यादा चतुर, योग्य और भाग्यवान निकले। ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने केरल म० अपनी पहली कोठी १६८४ में स्थापित की थी। उन्होंने केरल के सामन्तो को मैसूर के हैदर अली और फिर उसके बेटे टीपू सुल्तान का मुकाबला करने म सहायता देकर उन पर धीरे धीरे अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। टीपू की पहली पराजय के बाद मलाबार, और उसकी मृत्यु पर कई अन्य क्षेत्र अंग्रेजों के अधिकार म आ गए। अन्तत त्रावनकोर और कोचीन के नरेश, जो अंग्रेजो के मित्र और कृपा-पात्र बन थे, अंग्रेजी साम्राज्य के दास बन कर रह गए। सम्पूर्ण ब्रिटिश युग म यह स्थिति बनी रही।

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद केरल के संयुक्तिकरण की ओर पहला कदम १९४९ म उठाया गया, जब त्रावनकोर और कोचीन के एकीकरण से संयुक्त राज्य की स्थापना हुई। बाद म सीमा आयोग की सिफारिश के अनुसार मद्रास राज्य के मलाबार जिले को भी इसम मिला कर वर्तमान केरल प्रदेश का निर्माण किया गया।

जाति, धर्म और समाज

अधिकांश मलयाली जनता का जातीय स्वरूप नाक-नक्श और रंग आदि की दृष्टि से द्राविड़ है। आर्य तत्व, जो स्वयं बहुत कुछ मिश्रित हो चुका है,

केवल ब्राह्मणो तक सीमित है। ये ब्राह्मण 'नम्बूदरी' कहलाते है। केरल के आदि निवासी किसी काल म कई तरह की जन-जातियो म व्यवस्थित रहे होगे, जिनमे से कुछ जातियाँ आज भी पहाडो आदिवासियो के रूप मे सुरक्षित हैं। कई बिल्कुल जगली, प्रायः नग्न, असाम्य जन-जातियाँ भी हैं, जिन्हें केरलीय समाज व्यवस्था मे 'अछूतो' से भी नीचे रखा जाता था। इन जन-जातियो को 'नीच' की सज्ञा दी जाती है।

प्राचीन जन-जातियो के समाज मे सम्भवत. श्रम-विभाजन की प्रक्रिया द्वारा जाति-पाति की जो व्यवस्था अस्तित्व मे आई, उसकी कई उपजातियो का उल्लेख आदि तमिल ग्रन्थो मे मिलता है। ये उपजातियाँ प्रकटत धधे और पेशे पर आधारित थीं। जैसे 'उल्लवन' (किसान), 'वणिव' (व्यापारी), 'वल्लई' (मछेरा), 'टुड्डिय', 'पनियन' और परंयन आदि। बाद मे यहाँ का मिश्रित हिन्दू समाज आर्य वर्ण-व्यवस्था के अतर्गत तीन सवर्ण और दो 'अछूत' जाति-समूहो मे विभाजित हो गया। इन पाँच समूहो की फिर ६४ उपजातियां बनी।

समाज-व्यवस्था मे सबसे ऊपर नम्बूदरी ब्राह्मण है, जो मलयालम मे 'नम्पूतिरि' कहलाते हैं। ये लोग शताब्दियो से महन्त, धर्माधीश, रक्षा पुरुष (शासक) भूस्वामी और भूदेव (जागीरदार) बने रहे हैं। धनवान और विद्वान होने के नाते ये आज भी समाज में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। ये बडे चतुर, वाकपटु और तीक्ष्ण बुद्धि वाले लोग हैं। पुरोहिताई, पठन-पाठन और शास्त्रार्थ इनके विशेष कार्य हैं। नम्बूदरियो की आठ शाखाएँ मानी जाती हैं। इनके नीचे बारह उपजातियाँ 'अन्दरल' (अन्तराल) कहलाती हैं, अर्थात् 'बीच की जातियाँ', जो न ब्राह्मण हैं और न शूद्र। इन्हे केरलीय हिन्दू समाज की विशिष्ट जाति समझना चाहिए। ये लोग पहले मदिरो के उच्च कर्मचारी हुआ करते थे और इनकी जीविका ब्राह्मणो की इच्छा और कृपा पर निर्भर थी। अन्दरालो के बाद बाकी सब लोग शूद्र हैं, अथवा अछूत। परन्तु शूद्रो मे जो लोग ब्राह्मणो के आगमन से पहले राजा सामत अथवा योद्धा थे, वे ब्राह्मणो की दृष्टि मे शूद्र होने पर भी उच्च वर्ग में गिने गए। शूद्रो की अठारह उपजातियाँ मानी जाती हैं, जिन मे 'नायर' 'पिल्लइ' 'कम्मल', 'कुरुप्प', 'कर्त्ताव' और 'मेनन'

आदि प्रमुख हैं। ये लोग स्थानीय सरदार, सामंत और सेना नायक होने के नाते सदैव ही राजकीय तथा सैनिक पदो पर नियुक्त होते आए हैं। इन्हें केरल का अपना विशिष्ट क्षत्रिय वर्ग समझना चाहिए। ये बड़े समुन्नत, सुशिक्षित और प्रतिभाशाली लोग हैं। अन्त में 'शिल्पी' हैं, जिनकी १६ उपजातियाँ प्रचलित हैं। ये लोग, जैसा कि इनके नाम से ही प्रकट है, दस्तकार और कारीगर लोग हैं।

'शिल्पियों' पर आकर तथाकथित सवर्ण हिन्दू समाज की सीमाएँ आ जाती हैं। इस परिधि के बाहर 'अछूत' हैं, जो केरल मे 'पतित' कहलाते हैं। इनमे 'ईडव' जाति संख्या की दृष्टि से प्रधान है। स्वय पतितो मे कई भेद हैं, और उनके बीच आपसी छुआ छूत चलती है। पतितों मे दूसरे नम्बर पर 'पुलैयन' हैं।

छुआ छूत का अभिशाप केरल मे अपनी अन्तिम सीमा पर रहा है। इतना कठोर और अमानुषिक विधान तो दक्षिण मे भी अन्यत्र देखने म भी नहीं आया। विभिन्न स्तरो के अछूतो को विभिन्न उच्चजातीय लोगो से निश्चित दूरियो पर रहना और चलना पडता था। दूर देहात मे तो आज भी वही स्थिति है। अभी हाल तक 'ईडव' जाति की स्त्रियो के लिए घुटनो से ऊपर साडी बाँधना और छाती नगी रखना आवश्यक था। और कोई 'ईडव' नारी इस नियम का उल्लघन करने का साहस नहीं कर सकती थी। अवश्य इस शती मे महात्मा गाँधी के देश-व्यापी अछूत-उद्धार आन्दोलन और स्वय केरल म श्री नारायण गुरुस्वामी जैसे सतो के सुप्रयत्नो से बहुत कुछ परिवर्तन हुआ। श्री नारायण स्वामी स्वय 'ईडव' थे। भक्तिकाल के सत कवियों की तरह उन्होने भी एक जाति, एक धर्म और एक 'ईश्वर' का नारा लगाया। केरल के यह महान उद्धारक १६२८ ई० में समाधिस्थ हुए।

हिन्दुओं के बाद संख्या की दृष्टि से इसाई सबसे ज्यादा हैं। वे कुल आबादी का प्राय एक तिहाई है, जो भारत के किसी भी प्रदेश मे इनका सब से बड़ा अनुपात है। केरल निवासियो का इसाई धर्म के साथ सम्पर्क ईसा की पहली शताब्दी से ही चला आ रहा है, जब ईसु मसीह के शिष्य सेंट टामस

और उनके बाद सेंट् फ्रांसिस ने इस देश मे पदार्पण किया था। केरल के ईसाइयो मे प्राचीन सीरियन चर्च से लेकर रोमन् कैथोलिक् और अंग्रेजी प्रोटेस्टन्ट चर्च् तक सभी सम्प्रदायो के लोग हैं। अधिकतर रोमन् कैथोलिक् अर्थात रोम के पोप के अनुयायी हैं। सब जगहो की तरह केरल मे भी अधिकतर ईसाइ जनता पददलित निचली जातियो के लोगो से निर्मित हुई है। ये धर्म-परिवर्तन के बावजूद अपने पुराने सस्कारो और ऊँच-नीच की भावनाओ का परित्याग नही कर सके। ईसाइयो मे भी जाति-पाति के भेद-भाव उसी तरह चलते हैं, जिस तरह कि हिन्दुओं म। फिर भी केरल मे ईसाइयो की भारी सख्या मे उपस्थिति से राजनीतिक क्षेत्र मे अनेक समस्याओ और जटिलताओ की उत्पत्ति हुई है, जिनका एक विकट उदाहरण भूतपूर्व साम्यवादी सरकार के विरुद्ध ईसाइयों और नायरो के सयुक्त मोर्चे के रूप मे देखने मे आया था, और जिसके बाद से केरल की राजनीति म ईसाइ चर्च का खुला हस्तक्षेप चिंता का विषय बन गया है।

मोपले

भारत मे इस्लाम भी सबसे पहले केरल मे ही आया। वहाँ यह धर्म सम्भवत. आठवी शती के अन्त मे अरब व्यापारियो द्वारा पहुँचा। उत्तरी भाग मलाबार उससे विशेष प्रभावित हुआ। मलाबार मे बहुत से अरब सौदागर बस गए। उन्होने स्थानीय मलयाली औरतो से शादियाँ की। इस से जो सतान हुई, वही आज के 'मोप्पल्ले' हैं। स्वय 'मलाबार' शब्द भी अरब-द्रविड सम्मिश्रण का एक दिलचस्प नमूना माना जाता है। इसका अर्थ 'पहाडी भूमि' है। 'बार' अरबी 'बर्र' (जमीन) से बना है और 'मल' मलयालम में पहाड को कहते हैं। मलाबार मे इस्लाम को 'चौथा वेदम्' कहा जाता है। अन्य तीन वेद अथवा विद्याएँ हैं, हिन्दू, ईसाइ और यहूदी धर्म।

'मोप्पल्ला' शब्द 'महा' अर्थात् बडा और 'पिल्ला' अर्थात् बच्चा के सयोजन से बना है, ऐसा भी माना जाता है। यह आदरसूचक शब्द किसी काल म अरब सौदागरो के लिए प्रयुक्त होता था। वर्तमान मोपले लोग मलयाली भाषी हैं,

परन्तु अपने लोक गीतो मे अरबी शब्दो का बाहुलता से प्रयोग करते हैं। कई मोपले परिवार व्यापार आदि और राजनीति से धन कमा कर बहुत अमीर हो गए हैं। परन्तु साधारण जनता कृषक, मल्लाह और मजदूरो के रूप मे गरीब ही है। ये प्रकृति से उजड्ड, हिंसक और सम्प्रदायवादी लोग हैं। भारत के स्वतत्रता सग्राम के दिनो मे १६२१ मे जब खिलाफत का आन्दोलन चला था, तब इन लोगों ने मुहम्मद हाजी नामक एक व्यक्ति को अपना बादशाह घोषित कर हिन्दुओ का सहार शुरू कर दिया था। ये लोग आज भी एक राजनीतिक समस्या हैं। इनके यहाँ मुस्लिम लीग की राष्ट्रविरोधी प्रतिक्रियावादी राजनीति को आज भी मान्यता प्राप्त है।

केरलीय समाज पर उपर्युक्त विभिन्न विदेशी प्रभावो के बावजूद उसकी मूल प्रकृति हिन्दू प्रधान ही रही है। सम्पूर्ण हिन्दू राष्ट्र के दृष्टिकोण से यह बात अविस्मरणीय है कि भारत म हिन्दू सनातन धर्म को पुनर्स्थापित करने का कार्य जिस महापुरुष के हाथो सम्पन्न हुआ था, वह इसी पुण्य भूमि केरल मे जन्म लेने वाले एक नम्बूदरी ब्राह्मण थे। आद्य शकराचार्य की जीवन-कथा हिन्दू धार्मिक साहित्य का एक ऐसा सुपरिचित अग है कि यहाँ उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक विस्तार ही होगी। शकर ने केवल बौद्ध विचार-धारा का सफल विरोध ही नही किया, अपितु हिन्दू धर्म की तत्कालीन अराजकता और विशृ खलता को दूर कर हिन्दुओ को फिर से एक सयुक्त राष्ट्र होने की भावना भी प्रदान की। उनके द्वारा देश के चार कोनो मे चार स्थायी मठो की स्थापना हिन्दू जाति की सास्कृतिक एकता का एक चिरकालीन प्रमाण बन गई। प० नेहरू के शब्दो मे 'शकर ने अपनी ३२ वर्ष की अल्प आयु मे वस्तुतः कई जन्मों का कार्य सम्पन्न किया।'

रीति-रिवाज

केरल के रीति-रिवाज शेष भारत से कुछ भिन्न हैं। वास्तव म यहाँ के लोगो की शुरू ही से एक विशिष्ट सस्कृति और सभ्यता रही है। आर्यों के

मनोवृत्ति को त्याग कर धीरे-धीरे परिवर्तित हो रहा है। आज कितने ही नम्बूदरी ब्राह्मण आधुनिक कार्य क्षेत्रों म अग्रणी हैं। भूतपूर्व कम्यूनिस्ट सरकार के मुख्यमत्री श्री ई० एम० एस० नम्बूदरीपाद ऐसे प्रगतिशील नम्बूदरियों का एक प्रशसनीय उदाहरण हैं।

भाषा और साहित्य

केरल निवासियो की भाषा मलयालम् है, जिसे कुछ विद्वान तमिल की पुत्री और कुछ उसकी बहन बतलाते हैं। परन्तु बहुमत यही है कि प्रारम्भ म यह तमिल की एक बोली मात्र थी, जो आगे चल कर अपेक्षाकृत सस्कृत के अधिक निकट आ जाने से एक अलग समृद्ध भाषा के रूप में विकसित हुई। केरल प्रदेश की भौगोलिक पृथकता स भी इस प्रक्रिया को बल मिला, और इस प्रकार साहित्यिक मलयालम् का रूप तमिल से बहुत कुछ भिन्न हो गया। वास्तव में केरल की सदा से एक विशेष सांस्कृतिक और सामाजिक भिन्नता रही है।

मलयालम की लिपि तमिल को छोड कर अन्य द्रविड लिपियो की भाँति वृत्ताकार है, अर्थात् पुराने जमाने में भोज-पत्रों पर जो गोल-गोल अक्षर बनाए जाते थे, और जिन्हें 'वट्टेलत्तु' कहते थे, उन्हीं से यह लिपि आगे विकसित हुई। वर्णमाला बहुत कुछ सस्कृत के अनुरूप है, परन्तु कुछ ध्वनियाँ मलयालम की अपनी हैं, जिनका उच्चारण उत्तर भारतीयो के लिए असम्भव प्राय है।

मलयालम में कुछ प्राचीन साहित्य लोक-काव्य के रूप में मिलता है। परन्तु लिखित साहित्य आठवी शती से अधिक पुराना उपलब्ध नहीं है। उस शती में एक नम्बूदरी ब्राह्मण तोल्लन न काव्य में एक नया प्रयोग आरम्भ किया। उसके अनुसार प्रत्येक श्लोक की एक पंक्ति शुद्ध सस्कृत म और दूसरी मलयालम म होती थी। इस रूप को 'मणिप्रवालम्, कहते थे। इस से मलयालम में अगणित संस्कृत शब्द आ गए।

सब से पुरानी काव्य-पुस्तक, जो मलयामल में मिलती है, 'रामचरितम्' है। यह बारहवीं से चौदहवीं शती के बीच की रचना मानी जाती है। उसी

युग की एक और साहित्यिक विधा 'चम्पू' कहलाती है। चम्पू का अर्थ है गद्य और पद्य मिश्रित रचना। मलयालम गद्य का सबसे पुराना ग्रंथ माधव पणिक्कर की 'भाषा भगवद्-गीता' है, जो चौदहवीं शती की रचना मानी जाती है।

शुरू में जो मलयालम गद्य लिखा जाता था, वह मलयालम लिपि में प्राय संस्कृत गद्य ही होता था। मध्ययुग की कविता में भी संस्कृत का प्रभाव बहुत अधिक था। वास्तव में उस पुरानी साहित्यिक मलयालम में संस्कृत शब्दों का इतना बाहुल्य रहता था कि आज के मलयाली भाषी की अपेक्षा संस्कृत ज्ञाता के लिए उसे समझना ज्यादा आसान है। परन्तु अब आधुनिक प्रभावों से मलयालम की वह पुरानी संस्कृत युक्त कृत्रिम शैली प्राय समाप्त सी हो चली है। बहुत थोड़े लेखक ही अब उसका अनुसरण करते हैं।

मलयालम भाषा के सरलीकरण की प्रक्रिया चौदहवीं शती से ही शुरू हो गई थी, जब चरुश्शेरी ने सरल मलयालम् में 'कृष्ण-गाथा' लिखी। इस काव्य की तुलना विषय और शैली दोनों दृष्टियों से सूरदास के बाल कृष्ण सम्बन्धी पदों से की जा सकती है। असल में जिस प्रकार उत्तरी भारत में भक्ति की लहर चली थी, उसी प्रकार मलयालम में भी संत काव्य की रचना हुई। और जैसे उत्तर-भारत में संत तुलसीदास प्रसिद्ध हैं, वैसे ही मलयालम में ऐलुत्तच्छन का स्थान श्रेष्ठ है, यद्यपि वह अब्राह्मण थे। उन्होंने अध्यात्म-रामायण का अनुवाद किया और मलयालम भाषा का स्तर निर्माण किया।

मलयालम में आधुनिक काल का प्रारम्भ केरल वर्मा से माना जाता है, जिन्होंने कालीदास के 'शकुंतला' का अनुवाद किया और 'मयुर-संदेशम्, के नाम से मलयालम में एक महाकाव्य लिखा। परन्तु उनकी भाषा संस्कृत रूपों से भरी हुई पांडित्यपूर्ण थी। केरल वर्मा की मृत्यु १९१५ में हुई। उनके साथ आधुनिक युग के दो और बड़े नाम हैं वेण्मणि नम्पूतिरिप्पाडु और राजराज वर्मा। वेण्मणि ने जन साधारण की भाषा का प्रयोग किया, और इस दृष्टि से उन्हें मलयालम का सबसे पहला आधुनिक लेखक कहा जा सकता है। परन्तु भाषा को उसका वर्तमान स्तर और एकरूपता प्रदान करने वाले थे राजराज वर्मा। मलयालम का पहला अधिकृत व्याकरण भी उन्हीं की कृति है।

वर्तमान युग की त्रिमूर्ति, जिसने मलयामम् साहित्य मे नवीन आन्दोलन का नेतृत्व किया है, वल्लत्तोल नारायण मेनन, उल्लूर परमेश्वर अय्यर और कुमारन आशान्, इन तीन महान साहित्यकारों से निर्मित हुई। इनमे वल्लत्तोल केवल केरल के ही नहीं, वरन् समस्त भारत के राष्ट्रीय कवि के रूप मे प्रतिष्ठित हुए। वह पहले पुरानी शैली के कवि थे। पूरे ऋग्वेद और वाल्मीकि रामायण, का समश्लोकी अनुवाद उन्होने किया था। परन्तु महान राष्ट्रीय आन्दोलन ने उन्हें पूरी तरह परिवर्तित कर दिया। वह सच्ची राष्ट्रीयता, प्रगतिवाद सामाजिक न्याय के भाष्यकार बने, और महाकवि वल्लत्तोल के नाम से सारे भारत में सम्मानित और प्रशसित हुए। उनकी सब कविताएँ सात जिल्दो मे प्रकाशित हुई हैं, जिनमे 'पहाड़ी चूहे का खत' (शिवाजी का पत्र) और 'मगदलन मरियम' नामक ईसा की शिष्या के जीवन पर लिखा महाकाव्य विशेष प्रसिद्ध है।

उल्लूर पुराने ढग के कवि थे। उन्होने केरल वर्मा के अनुकरण मे 'उमाकेरलम्' के नाम से एक उपदेशात्मक महाकाव्य लिखा था। मिस कॅथराइन मयो की कुख्यात 'मदर इडिया' के जवाब में भारतीय नारी की महानता पर एक लम्बी कविता 'चित्रमाला' भी उन्होंने लिखी थी। परन्तु उनकी सस्कृत ढग की अलकृत भाषा के कारण उनकी रचनाएँ कुछ अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाई।

कुमारन आशान महाकवि वल्लत्तोल से भी अधिक क्रांतिवादी निकले। उन्होंने अपनी अल्पायु मे समाज के दलितो और पतितो के पक्ष लेने मे अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया। 'दुरावस्था,' 'च ण्डाल भिक्षुकी' और 'करुणा' उनकी तीन महान कृतियाँ हैं। इनमे द्वितीय रचना तो इतनी ही उत्तम और लोकप्रिय, है जितनी कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'चाण्डालिका'।

मलयालम के अ धुनिक लेखको में सुप्रसिद्ध सरदार के० एम० पणिक्कर, जी० शकर कुरुप्प, कुट्टूर नारायण मेनन और कृष्ण पिल्लई आदि कितने ही व्यक्तिगत उल्लेख योग्य हैं। इनमें सरदार पणिक्कर राजदूत, इतिहासकार और अग्रेजी लेखक के नाते इतने अधिक प्रसिद्ध हैं कि केरल के बाहर बहुत

थोड़े लोग जानते हैं कि वह मलयालम के भी सुयोग्य कवि, उपन्यासकार और आलोचक हैं। मलयालम गद्य में उनकी 'आत्मकथा' और ऐतिहासिक उपन्यास 'केरल सिंहम्' विशेष प्रसिद्ध हैं। 'केरलसिंह' हिन्दी में भी उपलब्ध है।

बंगला की तरह वर्तमान मलयालम् साहित्य मे भी वामपक्षी विचार-धारा की प्रधानता है। इस धारा के अग्रणी लेखको और आलोचकों मे भूतपूर्व कम्यूनिस्ट सरकार के शिक्षामंत्री जोसेफ़ मुडश्शेरी और तकषी, केशोदेव, रामवर्मा, टी० मुहम्मद, कुट्टी कृष्णन्, पोटेक्कट और सरस्वती अम्मा आदि कितने ही उल्लेखनीय नाम हैं। वास्तव मे मलयालम साहित्य, विशेषकर कहानी और उपन्यास के क्षेत्र मे आज बहुत ही समुन्नत और सम्पन्न है। तकषी का उपन्यास 'दो सेर धान' हिन्दी मे भी उपलब्ध है। उनके एक और उपन्यास 'चैम्मीन' पर, जिसमे मछेरों का जीवन-चित्र प्रस्तुत किया गया है, १६५७ मे साहित्य अकादेमी का पुरस्कार दिया गया था। उनकी कहानियाँ मोपासाँ या चेखोव के तुल्य मानी जाती हैं। केरल प्रदेश मे साक्षरता के उच्च स्तर के कारण पुस्तक-प्रकाशन और पत्रकारिता का कार्य विस्तृत परिमाण मे होता है।

कला और कथकली

केरल की कला संस्कृति की प्रतिनिधि वस्तु है 'कथकली'। यह केरल का अपना विशिष्ट नृत्य-नाटक है। महाकवि वल्लत्तोल ने उसे 'सब ललित कलाओ की रानी' कहा है। वस्तुत उसमे कथा, काव्य, नृत्य, संगीत, अभिनय और चित्रकारी का जो अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

कथकली मे कथा का विकास काव्य पंक्तियो द्वारा होता है, और उसके साथ अनुरूप संगीत का संगठन किया जाता है। अभिनेता केवल पैरो की गति, हाथो और उँगलियों के संचालन तथा आँख, नाक, भौं, ओठ आदि की विभिन्न मुद्राओ द्वारा भाव व्यक्त करते हैं। वैसे वे बिल्कुल मौन रहते हैं। कथकली के दक्ष अभिनेताओ को अंग-संचालन सम्बन्धी नियमो और मुद्राओ का इतना परिपक्व ज्ञान और अभ्यास होता है कि वे केवल आँखो से ही हर प्रकार का भाव व्यक्त कर सकते हैं। आँखों की गति द्वारा वृत्त, आठ का अंग्रेजी अंक

ग्रौर त्रिकोण ग्रादि बनाना उनके वाँयें हाथ का खेल है। यहाँ तक कि ग्राध चेहरे से घृणा ग्रथवा क्रोध ग्रौर बाकी ग्राधे चेहरे से प्रसन्नता-भाव व्यक्त करना भी उनके लिए ग्रसम्भव नही। कथकली मे साधारणत रामायण की कहानिया चलती हैं। परन्तु ग्रब ग्राधुनिक शिक्षा ग्रौर राजनीतिक दलों की प्रचार सम्बन्धी ग्रावश्यकताग्रों के कारण ग्रन्य विषयों को भी इस नाट्य शैली द्वारा प्रस्तुत किया जाने लगा है।

केरल के एक प्राचीन राजा कोय्यरकर को कथकली का ग्राविष्कारक माना जाता है। कथा के ग्रनुसार उस राजा ने स्वप्नावस्था मे कथकली के पात्रो को समुद्री तरगो पर नृत्य करते देखा था। यह कहानी निरर्थक नही जान पडती, *क्योंकि कथकली के ग्रभिनेताग्रो की जो रूप सज्जा की जाती है, उस* से न्यूज़ीलैंड के ग्रादिवासी माग्रोरियो की याद ग्रा जाती है, जो ग्रपने चेहरो पर इसी प्रकार की चित्रकारी करते थे। मुमकिन है, कथकली म चेहरो के ग्राकार बनाने वाले किसी ग्रादि गुरु ने समुद्र-यात्रा करते हुए हिन्द महासागर म कही पर कुछ माग्रोरियो को देखा हो।

कथकली म रूप-सज्जा का विशेष महत्त्व है। वास्तव म यह एक ग्रलग ही प्रकार की चित्र कला है इससे विभिन्न भावो को प्रकट करने म बडी सहायता मिलती है। चावल की पीठी से दोनो कानो के बीच सारे निचले चेहरे पर एक गोल उभार सा बना दिया जाता है। उसके भीतर के स्थान को ग्रावश्यकतानुसार हरे, लाल ग्रथवा पीले रग से रगा जाता है। रगो के पात्रानुसार पाँच प्रकार हैं। उत्तम चरित्रवाले नायक के लिए हल्के हरे रग ग्रौर उजली चुट्टी का प्रयोग किया जाता है। राक्षसों तथा दुष्ट पात्रो के चेहरे पर चुट्टी की कई परतें बनाकर नाक क चारो ग्रोर लाल रग, ग्राँखों के चारो ग्रोर काले रग ग्रौर लाल दाढ़ी का प्रयोग किया जाता है। स्त्रियो के मेक ग्रप म पीले ग्रथवा हलके गुलाबी रग की ज़मीन पर उजली चुट्टी बनाई जाती है। इस प्रकार विशेष ग्रायोजन से बनाए गए चहरो म एक विलक्षण रस क दर्शन होत हैं जो कागज या लकडी के बनावटी चहरा म नहीं बन पाती।

कथकली की नृत्य-शैली को समझना सब लोगो के लिए सम्भव नही है।

शास्त्रीय संगीत की तरह इस कला के रसानुभव के लिए भी पर्याप्त जानकारी आवश्यक है। परन्तु केरल मे तो सभी लोग इन नृत्य-नाटको से पूरी तरह आनन्दित होते हैं। गाँव-गाँव में ऐसे नाटक रात-रात भर चलते हैं। कथकली को भारत की चार प्रधान शास्त्रीय नृत्य-शैलियो में से एक माना जाता है।

केरल की अन्य विशिष्ट नृत्य शैलियो के 'तुल्लल' नाम का ग्रामीण नृत्य-नाटक बहुत लोक-प्रिय है। तुल्लल का अर्थ 'कूदना' है। केरल में इसे 'गरीब की कथकली' कहा जाता है, क्योंकि इसके आयोजन में इतना खर्च नही आता। यह प्रायः हास्य, रसयुक्त नृत्य होते हैं। इनमें खूब उछल-कूद मचाई जाती है, और बहुधा पौराणिक कहानियो का उपहास किया जाता है। आजकल राज-नीतिक दल अपने मत-प्रचार के लिए इस शैली का सफल प्रयोग करते हैं। अधिक हास्यरस वाले नृत्य को 'ओट्टम तुल्लल' कहते हैं। 'ओट्टम' का अर्थ दौड़ना है। युवतियो का एक नृत्य बहुत ही सुन्दर और मनमोहक होता है। इसका नाम 'मोहिनी आटम' है। इसमें एक या कई लड़कियाँ दीपको के थाल लेकर मोहक ढग से नाचती हैं। इसकी शैली में भरत-नाट्यम और कथकली दोनो का समावेश है। मलयाली बहुत ही नृत्य-प्रिय तथा कला और सौंदर्य के रसिया हैं। प्रायः नित्य ही कही न कही कोई पौराणिक अथवा आधुनिक नृत्य-नाटक चलता रहता है। हजारो की सख्या में लोग इन्हे देखते और सुनते हैं।

नृत्य-नाटक, और सगीत आदि के अलावा चित्रकला और स्थापत्य मे भी केरल की अपनी विशेषता है। चित्रकारो मे केरलीय कलाकार रविवर्मा का नाम तो विश्व मे प्रसिद्ध है। स्थापत्य मे केरल की विशेषता, जैसा कि पीछे किसी स्थल पर सकेत किया गया है, वह चीनी प्रभाव है, जो उसके प्राचीन और मध्यकालीन मन्दिरो और भवनों में दृष्टिगोचर होता है। इन मदिरो की छतें बहुत कुछ चीनी अथवा बर्मी पगोडो जैसी होती हैं। भवन-निर्माण का यह चीनी रूप भारत मे और कही भी नहीं मिलता। यह प्राचीन काल मे केरल और चीन के बीच व्यापारिक तथा सास्कृतिक सम्बन्धो का परिचायक है। केरल मे एक और चीनी वस्तु मछलियाँ पकड़ने का जाल है। ये विशेष प्रकार के चौखटे वाले चीनी जाल भारत मे और कहीं प्रयुक्त नही होते।

श्रोणम् और नाग-पूजा

केरल का देशीय त्योहार 'ओणम्' है, जो सावन में पड़ता है। इसे सब जातियों और धर्म-सम्प्रदायों के लोग समान उत्साह के साथ मानते हैं। चेर वंश के प्रथम पुरुष महाबलि को इसका संस्थापक बतलाया जाता है। कथा के अनुसार महाबलि ने वामन अवतार को तीन कदम भूमि दान की थी, परन्तु वामन के दो ही पगों में सारा ब्रह्मांड समाप्त हो गया। तब तीसरे पग पर महाबलि ने स्वयं अपना सिर अर्पित कर दिया। तब से वह प्रति वर्ष अपने राज्य में आता है। इस अवसर पर सारे केरल में बड़ी खुशियाँ मनाई जाती हैं। इस समय फसल भी कटने के लिए तैयार होती है। इसलिए यह एक प्रकार से उत्तर-भारत के बैशाखी त्योहार जैसा है। दस दिन तक उत्सव रहता है। प्रति दिन सायंकाल बालक-बालिकाएँ फूल इकट्ठे करके लाती हैं, जिन्हें अगले दिन प्रातः घर के सामने गोबर से लिपे एक विशेष स्थान पर गोलाकार सजाया जाता है। यह लक्ष्मी के स्वागतार्थ होता है। ज्यों-ज्यों त्योहार के दिन बीतते हैं, त्यों-त्यों फूलों की संख्या और घेरा बढ़ता जाता है। उत्तराषाढ़ की रात को सावन देव की मिट्टी की मूर्ति तैयार की जाती है। यह प्रायः शिवलिंग जैसी ही होती है। उसके सामने अष्ट-मांगल्य और दीप भी सजाए जाते हैं। दूसरे दिन, जिसे 'तिरु ओणम्' कहते हैं, धार्मिक कार्यक्रम होता है, जिसमें कुमारी लड़कियों द्वारा सावनदेव और फूलों की देवी को बल्लसन नाम के पकवान की भेंट, तथा बालकों द्वारा तीर चलाकर बल्सन वापस लेने की विधि है।

दसवें दिन सब लोग नए कपड़े पहनते हैं और सुबह नाश्ते में भुने हुए अथवा भाप में बनाए हुए पक्के केले खाते हैं। यह विशेष केला केवल केरल में होता है। इसे 'नेन्द्रकाय' कहते हैं। अरनमलई में 'वल्लुमकली' (नावों की दौड़) भी उसी दिन होती है। लम्बी, मुड़े हुए सिरों वाली, पतली नावें होती हैं। प्रत्येक में सौ खेवट सवार होते हैं, और वे नदी में नाव खेने की प्रतियोगिता करते हैं। इसके साथ ही ओणम् का त्योहार सम्पन्न होता है। कई स्थानों पर सजे हुए हाथियों के जलूस भी निकलते हैं, और आतिशबाजी छोड़ी जाती है।

मार्च अप्रैल में मलयाली नए साल का त्योहार 'विषु' के नाम से मनाया जाता है। यह उत्तर-भारत की वैशाखी के सदृश है। इस दिन सब नई चीजें खरीदी जाती हैं और गरीबों में दान बांटा जाता है। इसे 'कयेनितम्' कहते हैं, अर्थात् 'हाथ बढ़ा कर देना'। अप्रैल-मई में 'पूरम्' की तिथि पड़ती है। यह त्रिचूर के वड़क्कुनाथन मंदिर में विशेष रूप से मनाया जाता है। यहाँ इस अवसर पर हजारों यात्री एकत्र होते हैं, और सजे हुए हाथियों का भव्य जलूस निकलता है।

अन्य बड़े त्योहारों में सरस्वती-पूजा प्रमुख है। उत्तर-भारत में जब दशहरा दीवाली के दिन होते हैं, तब केरल में सरस्वती-पूजा की धूम मचती है। दशहरे से दो दिन पहले अर्थात् अष्टमी को सब पुस्तकें आदि सरस्वती माता की प्रतिमा के आगे रखकर उन की पूजा की जाती है। बच्चों की पढ़ाई भी उसी दिन से शुरू होती है।

केरल के मलाबार क्षेत्र में नाग-पूजा का त्योहार अपनी अलग विशेषता रखता है। यहाँ के निवासी नाग को देवता स्वरूप मानते हैं। प्रायः प्रत्येक मलाबारी घर के आस पास नागदेवता के मंदिर बने हुए हैं, जिन्हें 'चित्रकूटम्' कहते हैं। नाग-पंचमी के दिन बड़ी धूम-धाम से पूजा होती है। मलाबार में नम्बूदरियों की एक अलग शाखा है, जो केवल नाग के पुजारी हैं। पंप नामक स्थान पर नागों का एक बड़ा तीर्थस्थान है, जहाँ चार सौ के करीब नाग मूर्तियाँ बनी हुई हैं। यहाँ प्रति वर्ष बड़ा भारी मेला लगता है। एक विचित्र प्रथा यह भी है कि युवतियाँ नागराज से ब्याही जाती हैं। इसीलिए स्त्रियाँ कभी नागदेव की ओर आँख उठा कर नहीं देखतीं। मलाबारी लोग नाग-हत्या को गौ-हत्या से भी बड़ा पाप समझते हैं।

वस्त्र और भोजन

केरलियों के देशीय वस्त्र की विशेषता उसकी सादगी, स्वच्छता और रंगों का अभाव है। सब नरनारी सर्वदा बिल्कुल साफ और सफेद परिधान किए रहते हैं। 'सफेद' तो मानो केरलियों का 'राष्ट्रीय रंग' है। इसका कारण

सम्भवतः यह है कि केरल मे प्रकृति स्वयं 'रंगीन है, हरे-भरे और फल-फूलो से लदे प्रदेश मे लोगो का झुकाव स्वभावतः सफ़ेदी की ओर हो जाता है, उसके विपरीत शुष्क मरूदेश में लोग रग-विरगे कपडे अधिक पसन्द करते हैं।

केरल में पुरुषों के लिए केवल धोती और चादर का रिवाज है, जिन्हे क्रमशः 'मडु' और 'तोरतु' कहते हैं। मुंडु केवल दो गज की होती है और इसे बाँधने का ढंग वैसा ही है, जैसा कि तमिल प्रदेश मे परन्तु इस अन्तर के साथ कि जहाँ तमिल प्रदेश मे मुंडु का बाहर वाला किनारा बाईं ओर रहता है, वहाँ केरल में उसे दाईं ओर रखा जाता है। मुंडु के ढग से बँधी हुई छोटी धोती तमिलियो और मलयालियों का प्रचूक चिन्ह है, और बाहर वाले किनारे की स्थिति उनके मलयाली अथवा तमिल होने का पता देती हैं। 'तोरतु' साधारण चादर है, जिसे कन्धो के गिर्द लपेट लिया जाता है। इन वस्त्रो के साथ जूतों का प्रयोग नहीं किया जाता। खडाँव होती है, अथवा नंगे पाँव चलते हैं।

स्त्रियो का वस्त्र भी 'मुंडु' है, जो कुछ बडी होती है। उसे वे वक्षस्थल के ऊपर तक सीधा बाँध लेती हैं, अथवा ऊपर के अंग के लिए एक अलग वस्त्र का प्रयोग करती हैं। साधारणत. आधी साडी मुडु के ढंग से सीधी बाँधकर बाकी आधी ऊपर के शरीर के गिर्द कलात्मक ढग से लपेट लेती हैं। मुंडु के नीचे एक और वस्त्र रहता है, परन्तु चोली का रिवाज नही है। मुसलमान स्त्रियाँ पूरी आस्तीनो वाले कुर्ते पहनती हैं, जिन्हे 'जिब्बा' कहते हैं।

मलयाली लोगों की व्यक्तिगत स्वच्छता प्रसिद्ध है। सब लोग दिन में दो बार जरूर नहाते हैं। कपडो की सफ़ाई का तो इतना ख्याल है कि यदि किसी स्त्री के पास केवल एक ही साड़ी हो, तो वह आधी पहन कर बाकी आधी धो लेती है, और फिर उसके सूखने पर दूसरा हिस्सा धोती है।

परन्तु मलयाली सुन्दरी की विशेषता उसका जूड़ा बनाने का ढग है। बाल गूँथे नहीं जाते, बल्कि यो ही खुले रहते हैं, उन्हें कानों के ऊपर से थोड़ा सा नीचे गिराकर सिर पर इकट्ठा कर लिया जाता है और माथे के ऊपर साँप के फन जैसा जूडा बनाया जाता है। जूड़े में सफ़ेद फूल भी लगाए जाते हैं। कुछ लोगों का मत है कि जूड़ा बनाने की यह कलात्मक प्रणाली प्राचीन आस्ट्रिक

सभ्यता की देन है। उडीसा में कोणार्क के मदिर मे एक नर्तकी की मूर्ति है, जिसके माथे पर इस प्रकार का जूडा बना हुआ है। असम की नागा स्त्रियाँ आज भी इसी तरह साँप के फन जैसा जूडा बनाती है। केरल की युवतियाँ अपनी विशेष वेश-भूषा में बडी सुन्दर और आकर्षक दीखती हैं, उन में सोने के आभूषणों का रिवाज न होने के बराबर है। नम्बूदरी स्त्रियाँ जो प्राय सभी बहुत सुन्दर होती हैं, आभूषणो का बिल्कुल ही प्रयोग नहीं करती।

सभी दक्षिण भारतीयो की तरह मलयालियो का मुख्य भोजन भी चावल है। भोजन की प्रधान वस्तुएँ प्राय वही है जो की तमिलनाडु मे हैं, जैसे साधारण भात, सांबर, रसम इत्यादि और नाश्ते मे इडली, दोसा आदि। परन्तु कुछ वस्तुएँ केरल की अपनी हैं, जैसे 'पुट्टु, पायसम और नेन्द्रकय आदि। पुट्टु बनाने के लिए चावल और नारियल के चूरे को बाँस मे रखकर भाप मे पकाया जाता है। नारियल तो केरल के प्राय. सभी खानो म पडता है। सब्जियाँ आदि भी सब नारियल के तेल में पकाई जाती हैं। पायसम् (खीर) केरल की सबसे स्वादिष्ट वस्तु है। नारियल के दूध मे चावल, दाल और मेवे आदि डाल कर इसे बनाया जाता है। केरलीय लोग साधारणत पका हुआ खाना पसन्द करते हैं, यहाँ तक कि पानी को भी उबाल कर पीते है। कई तरह के पके हुए फलो को घी नारियल आदि के साथ भाप मे पकाते हैं। इनमे एक विशेष प्रकार का सिंदूरी केला, जो केवल केरल मे होता है। भाप मे पका कर बडे चाव से खाया जाता है। इसी को नेन्द्रकाय कहते हैं। नम्बूदरी ब्राह्मण मांस मछली नही खाते। बाकी सब लोगो के लिए दूसरी मुख्य वस्तु है मछली। यह बात उल्लेखनीय है कि केरल के सीमित क्षेत्र मे उसकी भारी जन-संख्या के लिए पर्याप्त खाद्यान्न उत्पन्न नही होता। अतः इस प्रदेश को अपनी प्राय आधी जरूरत बाहर से चावल आयात करके पूरी करनी पडती है। इन कारणो से गरीब जनता को चावल बहुत कम नसीब होता है। गरीबो की सामान्य खुराक 'कप्पा' नाम की एक जड और समुद्री मछली है। यह कप्पा कोरा माँड होता है और पेट में जल्दी फूल जाता है। पीने की चीजों में एक तो 'दक्षिण भारतीयो का राष्ट्रीय पेय 'काफी है, और दूसरी कांजी'। कांजी भी केवल कप्पा का पानी

मात्र है, जिसमे खटाई मिला ली जाती है।

मलयाली साहसिकता

भारत के राष्ट्रीय जीवन मे केरल निवासियो के नाम इतनी अधिकता से आते हैं कि शायद ही कोई पढा लिखा व्यक्ति हो, जो किसी न किसी प्रसिद्ध मेनन, मय्यर, पिल्लई अथवा पणिक्कर के नाम से परिचित न हो। केरल ने देश को कितने ही धर्म-गुरु, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रदान किए हैं। यह परम्परा तो जैसे आद्य शकराचार्य से ही चली आ रही है जिन्होंने इतिहास मे सम्भवत. पहली बार देश की मूल एकता को क्रियात्मक रूप दिया था।

आज के केरल-निवासी अखिल भारतीय नेताओ म वर्तमान प्रतिरक्षा मत्री श्री कृष्ण मेनन, भूतपूर्व मास्को स्थित भारतीय राजदूत श्री के० पी० एस० मेनन, और प्रतिभाशाली साहित्यिक और इतिहासकार सरदार के० एम० पणिक्कर विश्व-विख्यात हैं। वामपक्षी नेताओं में श्री ए० के० गोपालन और भूतपूर्व कम्यूनिस्ट् मुख्य मत्री श्री नम्बूदरीपाद भी कुछ कम प्रसिद्ध नहीं हैं।

केरल मे शिक्षा का अधिक प्रचार रहने से प्राय सभी लोग साक्षर हैं। अग्रेजी तो एक प्रकार से बहुत से लोगो की द्वितीय भाषा का स्थान ग्रहण कर गई है। छोटे-छोटे कस्बो में भी सुगमता के साथ अग्रेजी बोलने वाले बालक मिल जाते हैं। अग्रेजी भाषा पर इस विशेष अधिकार के बल पर ही केरल का मध्यम्-वर्ग शैक्षणिक, प्रशासनिक और राजकीय क्षेत्रो म सदेव आगे रहा है। बौद्धिक व शिल्प सम्बन्धी कार्यों म भी वे बहुत अग्रणी हैं।

शिक्षा और साक्षरता के उच्च स्तर के कारण केरल के लोगो मे राजनीतिक जागृति और साधारण सूझ-बूझ भी अपेक्षया अधिक है। कहना चाहिए कि वे सारे भारत मे सब से ज्यादा जागरूक लोग हैं। साथ ही वे प्रकृति से सरल स्वभाव, उदार हृदय और पराक्रमी हैं। दुनिया का शायद ही कोई देश हो, जहाँ वे न गए हों, और कोई काम ऐसा नहीं, जिसे वे न कर सकते हों।

इसमे कुछ केरल की गरीबी का भी हाथ है, परन्तु प्रधानत. यह मलयाली लोगो की एक विशेषता ही है।

बहुत कम लोग जानते हैं कि भारत और विदेशो मे जिस व्यवसाय को 'हिन्दुस्तानी सरकस' कहा जाता है, वह दरग्रसल मलयाली है। भारत मे सरकस की कला मलयालियो की देन है। तथाकथित भारतीय सरकस के सब बड़े ग्रभिनेता और विशेषकर जान-जोखिम के खेल दिखाने वाले निर्भीक कलाकार केरल निवासी हैं। सरकस की प्रसिद्ध निर्देशक श्रीमती कल्याणी सम्भवतः सारे एशिया मे एक-मात्र महिला हैं, जो खाली हाथ शेरो के पिंजरे मे एक-एक दर्जन शेरो के साथ खेल दिखाती हैं।

मलयाली पुरुषों की तरह उनकी स्त्रियाँ भी बहुत समुन्नत, शिक्षित और साहसी हैं। मातृ-सत्ता-पद्धति के कारण उनका सामाजिक स्तर सदैव ही ऊँचा रहा है। किसी युग मे केरलीय स्त्रियो के लिए घुड़सवारी और तलवार चलाने की प्रशिक्षा ग्रनिवार्य थी। इतिहास मे कितनी ही मलयाली योद्धा स्त्रियो के नाम आते हैं।

परन्तु अपने लोगों की इन सब अच्छाइयो और प्राकृतिक साधनो से सुसम्पन्न होने के बावजूद केरल एक गरीब प्रदेश है। एक तो वह समस्त भारत में सब से छोटा प्रदेश है, ग्रौर दूसरे वहाँ आबादी की घनता सबसे ज्यादा है। केवल १४ हजार वर्ग-मील क्षेत्र मे प्राय डेढ करोड जनता वास करती है। फिर उसके साधनो का समुचित उपयोग अभी हो नही पाया है। इन सब कारणो से प्रदेश मे राजनीतिक गुट-बदी और वर्ग-सघर्ष चरम बिन्दु पर रहता है।

प्रदेश मे बड़े उद्योग धधे बहुत कम हैं। प्राय डेढ़ करोड की जन-सख्या मे से ५-६ लाख लोग ही बड़े कारखानो मे काम करते हैं। शेष सब कृषक अथवा छोटे कारीगर हैं। मध्यम-वर्ग में बेरोजगारी व्याप्त है। इस प्रकार केरल की तीन मुख्य समस्याएँ हैं—बढती हुई आबादी, शिक्षित वर्ग मे बेरोजगारी और भूमि का अभाव, जन-शक्ति और प्राकृतिक साधनो के समुचित उपयोग से पर्याप्त औद्योगिक प्रगति ही इन समस्याओ के समाधान का एक मात्र उपाय है।

आन्ध्र

भूतपूर्व मद्रास महाप्रांत के उत्तरी तेलुगु भाषी क्षेत्रो से निर्मित आन्ध्र प्रदेश के निवासियों का नाम है 'आन्ध्र' अथवा 'तेलुगु'। यह दोनो शब्द पर्यायवाची हैं। भाषा का नाम है आन्ध्र, अथवा तेलुगु, और प्रदेश का नाम है 'आन्ध्र देशम्' अथवा 'तेलुगु देशम्' परन्तु साधारणत: केवल भाषा को ही 'तेलुगु और देश व जनता को 'आन्ध्र' कहा जाता है। इस समूह की एक महान सांस्कृतिक परम्परा है। इनका इतिहास इतना ही पुराना है, जितना कि भारत मे सभ्यता का उदय।

ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण मे, जो ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व का माना जाता है, आन्ध्रो को ऋषि विश्वामित्र की संतान बतलाया गया है, कहते हैं कि 'पिता द्वारा शापित' होकर वे विन्ध्याचल के दक्षिण मे जा बसे। वहाँ उन्होंने स्थानीय दस्यु जाति की स्त्रियो से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किए। इस प्रकार जो संतान उत्पन्न हुई, उसी से आन्ध्रो का आगे विकास हुआ। इससे प्रकट होता है कि इन लोगो मे आर्य और द्राविड रक्त का सम्मिश्रण था।

उपनिषदो म आन्ध्रो को परमपुरुष के ज्ञान का अन्वेषण करने वाले बतलाया गया है। रामायण और महाभारत म भी उनका उल्लेख आया है। बौद्ध साहित्य मे उनका नाम साधारणत तमिलो के साथ लिया गया है। परन्तु तमिल पुराणो मे उन्हें 'वडुगार' अर्थात् उत्तरी लोग कहा गया है। अन्य भारतीय ग्रन्थो से भी आन्ध्रो की प्राचीनता का पता चलता है। ईसा स ८००

वर्ष पूर्व भी ये लोग कृष्णा नदी के डेल्टे पर आबाद थे ।

'ग्रान्ध्र' नाम की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कई कथाएँ प्रचलित है । एक कथा के अनुसार, चूँकि ये लोग दण्डकारण्य के घने जगलो मे जाकर बसे थे—जहाँ सूर्य की किरणे धरती को स्पर्श नही करती—इसलिए उनका नाम 'ग्रधिका' ग्रर्थात 'रात वाले' पड गया । यही शब्द ग्रागे चलकर 'ग्रन्ध्र' ग्रौर फिर ग्रान्ध्र बना । परन्तु भागवत मे ग्राया है कि बली के पाँच पुत्रो के ग्रतिरिक्त एक छठा पुत्र 'ग्रान्ध्र' ग्रथवा ग्राँध्रदु' भी था । उसी की सतान ग्रथवा प्रजा होने के नाते इन लोगों का नाम 'ग्रान्ध्र पडा । यह प्रारम्भ मे लोग ग्रथवा जाति थे, न कि देश ।

'ग्रान्ध्र' ग्रथवा तेलुगु के सम्बन्ध म एक ग्रौर कथा इस प्रकार है कि इस देश के एक 'ग्रन्धे' राजा ने सूर्यदेव की ग्राराधना एक विलक्षण भाषा में की कि उसकी ईक्षरा-शक्ति तुरत लौट ग्राई । वह देव-प्रिय भाषा, जिससे यह चमत्कार घटित हुग्रा, 'तेलुगु' कहलाई क्योकि उसके प्रयोग से 'ग्रधे' को ज्योति प्राप्त हुई थी । इस कथा से ग्रान्ध्रो के फिर ग्रार्य परिधि मे लौट ग्राने का बोध होता है । यो भी कहते हैं कि यह घटना चूँकि तेलिवाह नदी के तट पर घटी हुई थी, इसलिए भी उस भाषा का नाम 'तेलुगु' पडा । बौद्ध जातक कहानियो मे भी तत्कालीन तेलुगु लोगों को 'तेलिवाह से तिरुपति' तक बसा हुग्रा बतलाया गया है, ग्रौर उनकी राजधानी का नाम ग्रधकपुर उल्लेखित हुग्रा है ।

'तेलुगु' के सम्बन्ध मे एक धारणा इस प्रकार है कि यह शब्द मूलत. 'तेनुगु' ग्रर्थात 'मधु की तरह मधुर' है । तेलुगु मधुर भाषा है, क्योकि इसके सब शब्द स्वरात होते हैं । ग्रागे चल कर इस भाषा के बोलने वाले भी तेलुगु कहलाए, तथा उनके देश को 'तेलुगु-देशम्' कहा गया ।

परन्तु इन सब दतकथाग्रो के बावजूद तथ्य यह जान पडता है कि तेलुगु का सम्बन्ध प्राचीन कलिंग से है । कलिंग जब दो भागो मे विभक्त हुग्रा, तब उत्तरी भाग को उत्कल ग्रौर दक्षिणी भाग को 'त्रिकलिंग' कहा गया । त्रिकलिंग का सक्षिप्त रूप 'कलिंग' बना जो इस भूभाग के तीन कोनो पर तीन शिव-मदिरो की विद्यमानता के विचार से ग्रधिक उपयुक्त भी था । इसी त्रिलिंग से

क्रमश तिलिंग, तिलगा, तिलगाना, तिलगु और तेलुगु आदि शब्द बने। 'तिलगाना' इस प्रदेश का मुस्लिम कालीननाम था, जो वर्तमान आन्ध्र के तिलगाना (भूतपूर्व हैदराबाद) क्षत्र के नाम के रूप म आज भी विद्यमान है।

इतिहास—

ईसा से तीन शताब्दी पूर्व, जब उत्तर भारत म मौर्य साम्राज्य की स्थापना हो रही थी, तब विन्ध्या के दक्षिण मे आन्ध्र नाम का विशाल साम्राज्य शक्ति के चरमोत्कर्ष पर था। यूनानी इतिहासकार टोलेमी ने उसका उल्लेख करते हुए लिखा है। आन्ध्र का शक्तिशाली राज्य मौर्य साम्राज्य की दक्षिणी सीमाम्रा तक विस्तृत है। उसके पास चालीस बडे किले एक लाख पदसेना, २० हजार अश्वारोही और एक हजार हाथी हैं। ३०० ईसा पूर्व मे मेगस्थनीज ने प्राचीन आन्ध्र को कलिंग के दक्षिण मे 'समुद्रतटवर्ती विशाल राज्य' लिखा है, और उसके तीस बडे नगरों का उल्लेख किया है।

चन्द्रगुप्त मौर्य ने आन्ध्रो को अपना आधिपत्य स्वीकार करने पर बाध्य किया, और अशोक ने वहाँ अपने शिला-लेख स्थापित किए। उस समय तक यह लोग बौद्ध धर्मावलम्बी बन चुके थे। और सारा आन्ध्र एक बौद्ध सघम् बना हुआ था। गुतुर जिले मे स्थित अमरावती के सग-मर्मर के भव्य स्तूप तथा कृष्णा और गुतुर की बौद्ध शालाएँ तत्कालीन स्थापत्य के नमूने कहे जाते हैं। प्राचीन आन्ध्रा के सीसे के सिक्के भी पुरातत्व विज्ञान की दृष्टि से एक विचित्र वस्तु हैं। ऐसे बहुत से सिक्के मेदक जिन म स्थित कडापुर नामक स्थान से उपलब्ध हुए हैं।

अशोक की मृत्यु के बाद आन्ध्रा ने अपने आप को स्वतत्र घोषित कर दिया, और उनकी सतवाहन नामक शाखा ने अपने योग्य नेता सिमुक (२२५ ई० पू०) के नेतृत्व म राज्य का विस्तार करना आरम्भ किया। यह सतवाहन पहले *'आन्ध्र भृत्य'* कहलाते थे, और अशोक के *प्रधान स्थानीय अधिकारी* थे। इस वश के तृतीय राजा सतकरनी ने साम्राज्य को अधिक वृद्धि दी। उसन समस्त विदर्भ और महाराष्ट्र का अधिकाश भाग जीत कर अपने राज्य म

मिलाया, और अंत में मगध पर भी चढ़ाई की और पाटलिपुत्र पर अपनी विजय-पताका फहराई। उसकी राजधानी अमरावती में और उसके बाद गोदावरी तट पर स्थित प्रतिष्ठानपुर (वर्तमान पैठन, महाराष्ट्र) में थी।

इस वंश का सत्रहवाँ राजा हाल भी बहुत प्रसिद्ध हुआ। वह संस्कृत और प्राकृत का प्रकाण्ड पंडित और महाराष्ट्री प्राकृत में लिखी 'सप्तशती' नामक पुस्तक का रचयिता था। तेईसवाँ राजा गौतमीपुत्र सतकरनी इस वंश का सब से बड़ा राजा माना जाता है। वह १०६ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ, उसने शकों को मध्य-देश से मार भगाया, और सौराष्ट्र, गुजरात, और मालवा के क्षेत्र उन से छीन लिए। उसके युग में आन्ध्र साम्राज्य दोनों समुद्रतटों के बीच समस्त *मध्य-दक्षिण में फैला हुआ था, और भारत की केन्द्रीय शक्ति आन्ध्र में स्थित* थी।

सतवाहनों के साम्राज्य-काल में आन्ध्र, के समुद्री-यान दूर-दूर के देशों में जाते थे। पहली-दूसरी शताब्दियों में आन्ध्रों और रोमनों के बीच विस्तृत परिमाण में व्यापार-वाणिज्य होने का पता चलता है। टोलेमी ने आन्ध्र की कई बन्दरगाहों का उल्लेख किया है। सतवाहन सम्राटों के जो सिक्के उपलब्ध हुए हैं, उन पर समुद्री-यान का चित्र अंकित है, जिससे प्रकट होता है कि उनके युग में आन्ध्र का समुद्री व्यापार बहुत समुन्नत था। इन्हीं समुद्री शक्ति के कारण *आन्ध्र सतवाहन सम्राटों के नाम में 'त्रिसमुद्राधिपति' की उपाधि मिलती है।*

सतकरनी के बाद उसका पुत्र पुलमयी सम्राट बना। उसे सौराष्ट्र के एक शक सरदार रुद्रदमन से युद्ध करना पड़ा, परन्तु अंतत उनमें विवाह सम्बंध स्थापित हो गए। पुलुमयी के बाद से ही आन्ध्र साम्राज्य क्षीण होता चला गया, यहाँ तक कि तीसरी शती ईस्वी के प्रारम्भ में सतवाहनों की शक्ति का अंत हो गया। उसके साथ ही आन्ध्र में बौद्ध धर्म का स्वर्ण-युग भी समाप्त हुआ।

सतवाहनों का अन्त होने पर कृष्णा और गोदावरी के बीच कौशल के इक्ष्वाकु राजाओं का स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुआ। ये राजे पहले सतवाहनों के अधीन थे। इनकी राजधानी नागार्जुनकंडा की घाटी में स्थित विजयपुरी में

थी। एक और राजवंश, जो महानदी और गोदावरी के बीच के क्षेत्र में सत्तारूढ़ हुआ, पूर्वी गंगा आर्यों का था। इनके एक प्रसिद्ध राजा अनन्त वर्मा चोड गंगा ने उत्कल को जीत कर अपनी राजधानी मुखलिंगम् से कटक में स्थानांतरित की। चौथी शती ईसवी में द्वितीय गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त ने कई दक्षिणी राजाओं को अपने अधीन किया।

पाँचवीं शती ईस्वी में अयोध्या से आन के दावेदार चालुक्य वंश के राजाओं ने, जो सम्भवत सबसे पहले सूर्यवंशी राजपूत थे, मध्य-दक्षिण में अपना आधिपत्य स्थापित किया। प्रसिद्ध चालुक्य राजा पुलकेशी ने ६१५ ई० में पल्लव राजा महेन्द्रवर्मा को पराजित कर अपने भाई कुब्ज वैष्णव वर्द्धन के अधीन वेंगी में नया राज्य स्थापित किया। तभी से चालुक्य वंश पश्चिमी और पूर्वी दो शाखाओं में विभाजित हो गया। उसी काल में चीनी यात्री ह्यूनसांग ने आन्ध्र का भ्रमण किया था। उसके लेखों में *'आन-तो-लो'* *(आन्ध्र)* और *'पेंग चि-लो'* *(वेंगी)* के नाम मिलते हैं। उस समय इस देश को *'वेंगीनाडु'* भी कहते थे। वेंगी अथवा पूर्वी चालुक्यों के एक प्रसिद्ध राजा राज-राज ने गोदावरी तट पर राजमहेन्द्रवरम् के नाम से नई राजधानी स्थापित की। इसी राज राज अथवा राजमहेन्द्र के आश्रय में तेलुगु के पहले महाकाव्य 'आन्ध्र महा भारतम्' की रचना आरम्भ हुई। राजमहेन्द्र का पुत्र, जो चोल सम्राट् का दौहित्र था, तंजोर में चोल सिंहासन पर आसीन हो कुलोत्तुंग चोल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार आन्ध्र वेंगी और चोल राज्य एक हो गए।

चालुक्यों के बाद उत्तरी आन्ध्र के तिलंगाना क्षेत्र में काकतीय राजाओं का अभ्युदय हुआ। इनकी राजधानी वारंगल में थी। यह राजे ढाई शताब्दी तक खूब शक्तिशाली बने रहे। इनके राजाश्रय में तेलुगु साहित्य, कला-स्थापत्य और व्यापार वाणिज्य की अभूतपूर्व उन्नति हुई। इसीलिए इनके राज्यकाल को आन्ध्र का स्वर्णयुग कहा जाता है। इस युग में शैव धर्म का पुनरुत्थान हुआ, और तेलुगु साहित्य ने अपना स्वतन्त्र रूप धारण किया। प्रसिद्ध इटैलियन यात्री मार्कोपोलो ने इसी काल में इस देश का भ्रमण किया था। काकतीय रानी रुद्रम् देवी के राज्यकाल में विद्यानाथ, मल्लिनाथ और कुमार स्वामी जैसे संस्कृत

के महारथी हुए। इनके द्वारा आन्ध्र ने संस्कृत के विकास मे महत्त्वपूर्ण योग दिया। वारंगल का हजार स्तम्भ वाला प्रसिद्ध मंदिर भी इसी युग मे निर्मित हुआ।

काकतीय राजाओ को देहली के पठान बादशाहो ने १३२३ मे परास्त किया। परन्तु वे आन्ध्र प्रदेश को अपने अधीन न कर सके। कृष्णा नदी की घाटियो मे रेड्डी सरदारो ने अपने छोटे-छोटे किले बना कर प्रजा को पठान आक्रमणो से पूरे सौ वर्ष तक बचाए रखा। 'कडाविड्डु' का रेड्डी राज्य विशेष प्रसिद्ध हुआ। ये रेड्डी नायक किसी समय महाराष्ट्र के राष्ट्रकूट सम्राटो के अधीन सामंत थे। राष्ट्रकूट को 'रट्ठ' भी कहते थे, जिससे इन सरदारो का नाम 'रट्ठवाडी' पड़ा। यही शब्द प्रयोग मे 'रेड्डी' हो गया। यह लोग सदैव ही बड़े पराक्रमी और प्रतिभाशाली रहे हैं। आज के लोकतन्त्रीय युग मे भी यह पूर्वभूत सामंत आन्ध्र के जन-जीवन मे बडी शक्ति और प्रभाव रखते हैं। वर्तमान आन्ध्र राज्य के प्रायः आधे जन-नायक रेड्डी हैं।

दक्षिण पर मलिक काफूर के व्यापक आक्रमण के २६ वर्ष बाद १३३६ ई० मे तुगभद्रा के तट पर महान विजयनगर साम्राज्य की नींव रखी गई। इस का श्रेय विद्यारण्य स्वामी नामक उस ब्राह्मण राजनीतिज्ञ को प्राप्त था, जिन्हे 'दक्षिण का वशिष्ठ' भी कहा जाता है। हरिहर पहला राजा बना। हरिहर और उसके भाई बुक्काराय की कहानी भारतीय इतिहास का एक अभूतपूर्व अध्याय है। उन्हे मलिक काफूर बन्दी बनाकर दिल्ली ले गया था, जहाँ उन्होने इस्लाम धर्म ग्रहण किया, और सुल्तान अलाउद्दीन की ओर से दक्षिण को पूरी तरह दिल्ली के अधीन करने का बीड़ा उठाया। परन्तु यहाँ आकर फिर हिन्दू धर्म मे लौट आए, और विजयनगर साम्राज्य के निर्माता बने।

इस शक्तिशाली साम्राज्य के देवराय सम्राटो ने समस्त दक्षिण भारत पर राज्य किया, और २५० वर्ष तक दक्षिण मे मुसलमानी विस्तार को रोके रखा। सबसे प्रसिद्ध सम्राट कृष्णदेवराय (१५०९--१५३० ई०) था, जिसके राज्यकाल मे विजयनगर साम्राज्य अपनी शक्ति और वैभव के चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। सम्राट कृष्णदेवराय संस्कृत और तेलुगु का विशेष संरक्षक और स्वयं एक उत्तम

साहित्यकार और कवि था। तिरुपति में स्थित भगवान वेंकटेश्वर के प्रसिद्ध मंदिर में, जो हिन्दू मात्र के लिए एक पुण्य स्थान है, सम्राट कृष्णदेव और उसकी रानियों की मूर्तियाँ आज भी विद्यमान हैं, और देव-मूर्तियों का सा स्थान रखती हैं। विजयनगर साम्राज्य यद्यपि कटक से गोवा तक समस्त दक्षिण में विस्तृत था, परन्तु उसके आश्रय में तेलुगु कला और साहित्य की ही विशेष उन्नति हुई।

कृष्णदेव के बाद साम्राज्य की शक्ति का ह्रास होता गया, यहाँ तक कि १५६५ ई० में उसके जामाता रामराय को टेलिकोट की लड़ाई में बहमनी सुल्तानों की संयुक्त शक्ति के आगे हार मान कर दक्षिण की ओर भागना पड़ा। उसके बाद धीरे-धीरे विजयनगर का अंत हो गया।

मध्य-दक्षिण में बहमनी वंश की स्थापना १३४७ ई० में हुई थी। हसन गंगू नामक एक अफगान योद्धा को इस वंश का संस्थापक माना जाता था। १५वीं शती के अन्त में यह साम्राज्य पांच अलग-अलग राज्यों में बँट गया। इनमें बीदर, बीजापुर और गोलकुंडा के राज्य ही अधिक प्रसिद्ध हुए। आन्ध्र में गोलकुंडा का राज्य बहुत सुदृढ और समृद्ध था। हीरों की खानें बहुत प्राचीन काल से यहाँ का प्रधान धन स्रोत थी। विश्व विख्यात 'कोहे-नूर' हीरा, जिसकी कहानी पूरे भारतीय इतिहास पर छाई हुई है, इसी गोलकुंडा की उपज है।

गोलकुंडा में कुतबशाही वंश के आठ बादशाह हुए। मुहम्मदकुली कुतबशाह ने भागनगर (वर्तमान हैदराबाद) को राजधानी बनाया, और वहाँ भारत-विख्यात चारमीनार द्वार-भवन का निर्माण कराया। अंतिम सुल्तान अबुलहसन तानाशाह को औरंगजेब ने अपना प्रभुत्व स्वीकार करने पर बाध्य कर गोल-कुंडा को पूर्णतः मुगल साम्राज्य में सम्मिलित किया। परन्तु औरंगजेब की मृत्यु के कुछ वर्ष बाद १७२४ ई० में मुग़ल उपराज आसफ़जाह निज़ामुल्मुल्क ने स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर पुराने हैदराबाद राज्य के आसफ़शाही वंश की स्थापना की। चौथे निज़ाम सलाबतजंग ने उत्तर के कुछ क्षेत्र, जो 'सरकार' कहलाते हैं, सैनिक सहायता के बदले फ्रांसीसियों को दे दिए। बाद में यूरोप में एक ब्रिटिश फ्रांसीसी युद्ध से लाभ उठाते हुए क्लाइव ने इन सरकारों पर

अधिकार कर लिया। इसी प्रकार अंग्रेजो ने दक्षिण के कुछ क्षेत्र नावाब आर्कट से छीने, जो पहले निजाम के अधीन था। अततः १८०० में निजाम और अंग्रेजो के बीच सैनिक सधि के परिणामस्वरूप दक्षिण-पूर्वी आध्र के सब समुद्रतटवर्ती क्षेत्र अंग्रेजो के अधिकार में चले गए, इस प्रकार आध्र प्रदेश के दो भाग हो गए। निजाम के अधीन केवल तिलगाना का क्षेत्र रह गया, और शेष आध्र प्रदेश को मद्रास महाप्रांत में विलीन कर दिया गया।

भारत के स्वतत्रता-सग्राम मे आन्ध्र नेताओं और युवको ने तन-मन-धन से योग दिया। इसके साथ ही, वर्तमान शती के प्रथम दशक से, आन्ध्रवासियो मे अपने प्रदेश के एकीकरण की भावना जागृत हुई। स्वतत्रता-प्राप्ति के बाद से प्रादेशिक सयुक्तकरण की यह उत्कठा और अधिक तीव्र हो उठी। यहाँ तक कि पोट्टि श्री रामलु नामक एक गाँधीवादी कार्यकर्ता ने आन्ध्र स्थापना के लिए अपने प्राणो का बलिदान दिया। फलस्वरूप अक्तूबर १९५३ में मद्रास के तेलुगु भाषी क्षेत्रो को पृथक कर आन्ध्र का स्वायत्त राज्य स्थापित किया गया। यह भाषा के आधार पर भारत सघ का पहला राज्य था।

१९५६ में सीमा आयोग की सिफारिशो के अनुसार पुराने बहुभाषिक हैदराबाद राज्य के टुकडे कर उन्हे सम्बधित भाषिक राज्यो में मिला दिया गया। तिलगाना का क्षेत्र आन्ध्र को मिला इस प्रकार नवम्बर १९५६ में वर्तमान विशाल आन्ध्र का निर्माण हुआ।

तेलुगु भाषियो की सख्या ३ करोड से भी अधिक है। इस दृष्टि से वे वर्तमान भारत में वही स्थान रखते हैं, जो विभाजन से पूर्व सयुक्त बगाल को प्राप्त थी, अर्थात वे हिन्दी भाषियो के बाद दूसरे नम्बर पर हैं। यह बात भी उल्लेखनीय है कि आन्ध्र के निर्माण से ही भारत सघ में भाषिक राज्यो की परिपाटी का सूत्रपात हुआ, जिससे भारत के राजनीतिक मानचित्र मे क्रांतिकारी परिवर्तन हो गए हैं।

जाति

आन्ध्रो की जातीय उत्पत्ति के विषय मे बडा मत-भेद है। कुछ विद्वान उन्हे ऋषि विश्वामित्र के पुत्रो की सतान होने की कथा के आधार पर आर्य मानते हैं,

परन्तु विश्वामित्र की 'सतान' मे आन्ध्रो के साथ दस्यु, शबर, पुलिंद और मुतिब आदि विशुद्ध द्राविड और मगोली गणो के नाम भी आते हैं। इससे वे अनार्य ठहरते हैं। रामायण और महाभारत मे भी उन्हें द्राविडों मे गिना गया है। अशोक के शिला-लेखों मे जहा 'आन्ध्रों' का उल्लेख आया है, वहा उनके साथ 'पुलिंद' का नाम भी है, परन्तु कोई देश निर्दिष्ट नही किया गया है। सतवाहनों के युग मे आकर परिस्थिति और भी उलझ जाती है, क्योकि सतवाहन साम्राज्य यद्यपि पूर्वी समुद्रतट पर था। परन्तु उसके अधिकतर अवशेष पश्चिमी दक्षिण में उपलब्ध हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक आन्ध्र या तो ऐसे आर्य थे, जो आर्यवर्त से बाहर जाकर अथवा जाने पर बाध्य होकर द्राविडो मे मिल गए, या फिर वे उत्तरी द्राविड थे, जो आर्यों से मिलकर अन्य द्राविडो से पृथक हो गए। तुमिल पुराणों में उन्हे 'द्राविड भूमि से बाहर का बतलाया गया है। चीनी यात्री ह्यून सियांग ने सातवी शती के आन्ध्रो का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ये काले रग के अत्यत वीर और हिंसक लोग हैं, परन्तु ये विभिन्न कलाओ म निपुण हैं।

वर्तमान आन्ध्रो मे केवल कुछ प्राचीन जन-जातियाँ ही विशुद्ध रह पाई हैं, शेष सब, अन्य मध्य भारतीय भाषिक समूहो की भाँति, मिली जुली नस्ल से हैं परन्तु आन्ध्रों मे यह विशेषता है कि वे न तो स्पष्टत उत्तर के दिखाई पडते हैं, और न दक्षिण के, बल्कि जैसी कि उनकी भौगोलिक स्थिति है वे जातीय दृष्टि से भी उत्तर और दक्षिण के बीच में कुछ मिले-जुले से पर अलग पहचाने जा सकते हैं। आर्य-द्राविड के अलावा उनमे कुछ मगोली तत्व भी मिश्रित है, जैसा कि कुछ खास 'आन्ध्रो की भारी ठोडी और ऊँचे गालो से प्रकट होता है। आन्ध्र साधारणत लम्बे कद के और सुदृढ़ हाथ पाँव वाले लोग हैं।

आन्ध्रो मे गहरे काले और चाक्लेट रग से लेकर हल्के भूरे और गेहुँए रग तक के लोग भी मिल जाते हैं। कुछ तो वस्तुत बहुत सजीले और सुन्दर होते हैं।

धर्म और रीति-रिवाज

आन्ध्रों का हिन्दू धर्म शैव और वैष्णव मता का समन्वित रूप है। जहाँ-

जहाँ शिव-मंदिर हैं, वहाँ नियमित रूप से विष्णु के पूजा-मंडप भी स्थापित हैं, अवतारों में नृसिंहम् की पूजा अधिक प्रचलित है। अनंतपुर जिले में स्थित कादिरि और पेन्नाहोविलम् के प्रसिद्ध मंदिर तथा करनूल में अहोबलम् और विशाखपट्टनम् में सिंहचालम् के तीर्थस्थान उन्हीं के नाम पर हैं। शिव-मंदिरों में श्रीशैलम्, कालेश्वरम और द्वारवेशरम के 'त्रिलिंग' तो इस प्रदेश के नामकरण का आधार ही हैं। इनके अलावा लेपक्षी, महानन्दी और विजयवाड के शिव मंदिर भी हैं। परन्तु आंध्रों के धार्मिक समन्वय का उत्कृष्टतम उदाहरण चित्तूर जिले में स्थित तिरुपति के श्री बालाजी मंदिर में दृष्टिगोचर होता है, जहाँ भगवान वेंकटेश्वर की मूर्ति में शिव और विष्णु को संयुक्त माना जाता है। यह समस्त भारत में अपने प्रकार का एक ही मंदिर है, और हिन्दू मात्र के लिए सर्वाधिक पवित्र स्थानों में से है। आंध्रों का धार्मिक जीवन तो इसी के इर्द-गिर्द घूमता है। गोदावरी तट पर स्थित भद्राचलम का राम मंदिर, जहाँ प्रतिवर्ष बड़ा भारी मेला लगता है, आंध्र का एक और महत्वपूर्ण तीर्थस्थान है। आंध्र की नदियाँ अपना एक अलग महत्व रखती हैं। गोदावरी, कृष्णा, पेन्नार और तुंगभद्रा की विशाल नदियों के नाम रामायण और महाभारत में आए हैं, वास्तव में उत्तर-भारत में जो माहात्म्य गंगा और यमुना का है, वही दक्षिण में गोदावरी और कृष्णा को प्राप्त है। वही धार्मिक भावनाएं और आर्थिक कल्याण के प्रत्यक्ष सामाजिक हित इन नदियों से सम्बद्ध है।

इतनी विपुल धार्मिक सम्पत्ति के बावजूद आन्ध्र के लोग तमिलों की भाँति कट्टरपंथी नहीं हैं, जाति-पाँति के बन्धन तो हैं, परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में जनसाधारण की स्वाभाविक प्रवृत्ति उदारता की ओर रही है। संतों की वाणी तथा भक्ति और सुधार के आन्दोलन खूब चलते हैं। बंगाल के श्री रामकृष्ण परमहंस और ब्रह्म समाज से लेकर पंजाब के आर्य समाज तक सभी सुधारवादी धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव इस प्रदेश में दिखाई देता है। आन्ध्र के अपने भक्त संतों में हरनाथ, रामदास, साईं बाबा, हरबाबा और रामन्ना महर्षि आदि कितने ही नाम आते हैं। संक्षेप में, आन्ध्रों की धार्मिक प्रवृत्तियाँ बंगालियों से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं।

समाज-व्यवस्था मे भी वह उग्र जाति भेद, तनातनी और साम्प्रदायिक कटुताएँ देखने मे नही आती, जो कि तमिल प्रदेश की विशेषताएँ रही हैं, आन्ध्र मे ब्राह्मण और अब्राह्मण का परम्परित दक्षिण-भारतीय संघर्ष प्रायः न होने के बराबर है। यहाँ ब्राह्मण और अब्राह्मण मे सामाजिक स्तर पर अंतर भी बहुत कम है। शिक्षित वर्ग में तो उन्हें अलग-अलग पहचानना भी प्राय. इतना ही कठिन है, जितना कि उत्तर-भारत मे। इन्ही सब कारणो से इस प्रदेश की राजनीति मे साम्प्रदायिक दलो अथवा धर्म और जाति के आधार पर गुटबंदियो की सम्भावना बहुत कम है।

आन्ध्रो के रीति-रिवाजों मे एक विशेष प्रथा, जो आज तक चली आ रही है, मामा अथवा फूफी की लड़की से विवाह करने की छूट है। यह प्रथा किसी हद तक तमिलनाडु मे भी प्रचलित है और इसके कई रूप हैं। यह प्रकटतः हिन्दू स्मृतियो के प्रतिकूल तथा उत्तर-भारतीय हिन्दुओ के निकट नितांत *अकल्पनीय है। परन्तु आन्ध्र के विधि कर्त्ता ऋषि आपस्तम्ब ने, जिनसे* अधिकतर आन्ध्र ब्राह्मण अपने गोत्र जोडते हैं, इसकी स्वीकृति दी है। फलत. एक देशीय रिवाज के रूप में यह आज तक मान्य और प्रचलित है।

भाषा और साहित्य

आन्ध्रो की भाषा तेलुगु है, जिसे सामान्यत तमिल, मलयालम् और कन्नड के साथ द्राविड भाषा कुल मे गिना जाता है। कर्नाटक की भाषा कन्नड से इस का निकट सम्बन्ध है, और लिपि भी दोनो की मिलती जुलती सी है। आज कल इन दो भाषाओ के लिए एक ही लिपि अपनाने के प्रयत्न हो रहे हैं, जो सम्भवत. सफलिभूत होंगे। तमिल से भिन्न परन्तु मलयालम और कन्नड के सदृश तेलुगु की वर्णमाला देवनागरी के अनुरूप है, केवल कुछ अक्षर उसके अपने हैं।

तेलुगु मे संस्कृत शब्द व रूप इतने प्राचीन समय से, तथा इतनी अधिक *मात्रा मे चले आ रहे हैं कि कई विद्वान तो उस भाषा को एक द्राविड भाषा* मानने मे भी आपत्ति उठाते हैं। स्वर्गीय डा० सी० नारायण राव जैसे भाषा शास्त्रियो के मतानुसार आदि आन्ध्र, जिससे वर्तमान तेलुगु भाषा निकली,

प्राकृतो मे से एक थी—पैशाची, उसी प्राकृत मे गुणाढ्य ने 'बृहत-कथा' और सातवाहन सम्राट हाल ने गाथा-सप्तशती' की रचना की। कुछ भी हो इतनी बात अवश्य सत्य है कि तेलुगु से संस्कृत को निकाल देने के बाद कोई सार्थक वाक्य बनाना सम्भव नही रहता। यही बात कन्नड और मलयालम के लिए भी सही है, वास्तव मे आन्ध्र और कर्नाटक अथवा तेलुगु और कन्नड़ उत्तर और दक्षिण के बीच ऐसी स्थिति म हैं कि उन्हे आर्य और द्राविड संस्कृतियो के मिलाप और समन्वय की कड़ियाँ कहना उपयुक्त होगा। या फिर यो कहना चाहिए कि इन दो भाषाओ मे भारतीय संस्कृति का समन्वय अपने पूर्ण रूप मे अभिव्यजित हुआ है, तेलुगु शब्द स्वरात होते है, जिससे वे बड़ी आसानी के साथ संस्कृत शब्दो मे गुम्फित किए जा सकते हैं, यही कारण है कि यह भाषा 'मधुर' कहलाती है।

तेलुगु साहित्य का क्रमबद्ध विकास पूर्वी चालुक्य राज्य के समय से माना जाता है, जबकि चालुक्य सम्राट राज-राज अथवा राजमहेन्द्र के आश्रय मे तेलुगु के पहले श्रेष्ठ महाकाव्य आन्ध्र महाभारतम् की रचना आरम्भ हुई। यह वास्तव म संस्कृत महाभारत का तेलुगु रूपातर ही है, जिसको पूर्ण करने मे तीन शताब्दियाँ लगी। ११ वी शती मे नन्नटय भट्टु ने यह कार्य आरम्भ किया, १३ वी शती मे तिक्कन ने उसे जारी रखा और १४ वी शती मे एर्र प्रागडु से उसे सम्पन्न किया, इन तीन महाकवियो को 'कवित्रयम्' कहा जाता है, और इन मे नन्नटय भट्टु को वर्तमान तेलुगु का प्रथम साहित्यकार माना जाता है। तिक्कन को 'कविब्रह्म' भी कहते है। महाभारतम् से पहले का जो तेलुगु साहित्य मिलता है, वह लोक गीतो और लोक गाथाओ के रूप मे है। इसमे बहुत सा जैन धर्म सम्बधी साहित्य भी मिलता है।

१२ वीं शती मे नन्नय चोड ने कालीदास के 'कुमार सम्भव' का तेलुगु म अनुवाद किया। १३ वी शती मे भास्कर ने 'वाल्मीकि रामायण' का तेलुगु रूपातर किया और १५ वी शती मे रेड्डी युग के महाकवि पोतन्न ने भागवत् तेलुगु मे लिखा। इस प्रकार ११ वी से १५ वीं शती तक तेलुगु कवियो ने सभी संस्कृत महाकाव्यो, पुराण और इतिहास को अपने जन-साधारण तक पहुँचा

दिया। जिस प्रकार उत्तर भारत मे तुलसी के 'रामचरित मानस' और सूरदास के कृष्ण भक्ति प्रधान काव्य का व्यापक प्रभाव है, उसी प्रकार तेलुगु देश मे कविन्य का आन्ध्र महाभारतम्, पोतन्न का आन्ध्र भागवतम् और श्रीनाथ का 'नैषधम् आदि तेलुगु जन-साधारण के जीवन को निर्देशित करते हैं। श्रीनाथ ने तेलुगु कविता को समृद्धि सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाया और इस कारण वह 'कविसार्वभौम' अर्थात 'कवियो के सम्राट' कहलाए।

विजयनगर साम्राज्य का दीर्घ काल-खड तेलुगु साहित्य का स्वर्ण-युग था। इस काल मे सस्कृत से अनुवादके साथ-साथ मौलिक सस्कृत और तेलुगु साहित्य निर्मित हुआ। 'प्रबन्ध' के नाम से एक नई साहित्यिक विधा विकसित हुई, जिस के कारण इस काल खड को 'प्रबध-युग' भी कहते हैं। तेलुगु प्रबध गद्य-पद्य मिश्रत लम्बी कविता का नाम है, जिसम किसी राजसी अथवा दैवी नायक या नायिका का चरित्र वर्णन होता है। विजयनगर सम्राट कृष्णदेवराय के राज्य काल म तेलुगु कविता अपने चरमोत्कर्ष पर पहुची। उनके दरबार में 'अष्ट दिग्गज' के नाम से आठ कवि रत्न हुए। जिनमें पेद्दन्न आन्ध्र कविता पिता कहलाए। १६ वी शती में रचित नन्दी तिमन्न का 'पारिजात अप-हरण और १७वी शती म राम भद्र का रामायण पर आधारित 'राम बुदय' भी प्रबध शैली के उत्तम नमूने कहे जाते हैं। उसी काल में भद्रचाल रामदास न गोदावरी तट पर स्थित प्रसिद्ध राममदिर का पुन निर्माण कराया और तेलुगु मे राम-भक्ति प्रधान कविता को प्रोत्साहन दिया। कितने ही तेलुगु कवियो तथा रचनाकारो को अन्य भाषिक क्षेत्रों में भी बडा यश मिला है, जैसे अठारहवी शती में हुए कर्णाटक सगीत के प्रसिद्ध आचार्य और तेलुगु कवि त्यागराज तथा अन्नमाचार्य आदि नाट्य प्रदर्शक समस्त दक्षिण में देवता स्वरूप पूज्य हैं।

तेलुगु साहित्य के इतिहास में दो अ ग्रेजो के नाम विशेष सम्मान के साथ लिए जाते हैं। मि० सी० पी० ब्राउन आई० सी० एस० ने तेलुगु का पहला शब्द कोश तैयार किया था, और रेड्डी युग के महान कवि वेमन्न की रचनाओ का अ ग्रेजी अनुवाद किया था। दूसरे थे पादरी कॅडवेल, जिन्होंने द्राविड भाषाओ का तुलनात्मक व्याकरण लिखा, और तलुगु भाषा को द्राविड भाषा

प्रमाणित किया।

आधुनिक तेलुगु साहित्य के अग्रदूत थे वीरेश-लिंगम् पंतुलु, जिनका 'राजशेखर चरित्रम्' तेलुगु का पहला उपन्यास माना जाता है। यह विगत शताब्दी के अष्टम दशक में प्रकाशित हुआ था। वीरेशलिंगम् धर्म से ब्राह्मी और प्रकृति से विद्रोही थे। उन्होंने खड्ग को पूर्ण रूप से अपनाया, और अपने से बीस वर्ष बाद साहित्यिक क्षितिज पर उदित होने वाले रवीन्द्रनाथ ठाकुर की वाणी का पूर्व कल्पित रूप प्रस्तुत किया। उन्हें 'आधुनिक तेलुगु साहित्य का जनक' कहा जाता है; इस साहित्य की सब नवीन विधाएँ उन्हीं से शुरू हुईं।

उत्तरी साहित्य का प्रभाव दक्षिण भारत में सब से ज्यादा तेलुगु पर पड़ा है। वेंकट कपुलु ने कई बंगला उपन्यासों का अनुवाद किया, जिनमें बंकिमचन्द्र की श्रेष्ठ कृतियाँ भी हैं। वीरेशलिंगम के अनुयायियों में लक्ष्मी नृसिंहम् ने 'राजस्थान कथावली' के नाम से 'टाड राजस्थान' का अनुवाद किया। एक अन्य शिष्य सोमनाथराव ने रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजली' का तेलुगु रूपांतर प्रस्तुत किया, और आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द की जीवनी लिखी। उसी काल में अनन्त कृष्ण शर्मा ने हाल की 'सप्तशती' को आधुनिक तेलुगु में लिखा। इस प्रकार उन्नीसवीं शती के अन्त तक तेलुगु में बहुत सा आधुनिक साहित्य निर्मित हो चुका था।

उन्नीसवीं और बीसवीं शती के यूरोपियन तथा बंगला साहित्य के प्रभावांतर्गत १९१५ और १९३५ के बीच तेलुगु का सर्वोत्तम साहित्य रचा गया। इस साहित्य के निर्माण में शिवशंकर शास्त्री द्वारा संस्थापित साहिती समिति नामक संस्था ने बड़ा योग दिया। शिवशंकर शास्त्री संस्कृत के महान पंडित और अंग्रेजी के भी अच्छे ज्ञाता थे। अपने समय में वह आन्ध्र कथाकारों, कवियों और साहित्यक निबंधकारों के 'अन्नागुरु' अर्थात 'बड़े भैया' कहलाते थे। इसी युग में दो तरुण चचेरे भाई बसवराजु अप्पाराव और नंडुरि सुब्बाराव गीतकारों के रूप में बहुत प्रसिद्ध हुए। उनके भावपूर्ण गीत आज प्राय प्रत्येक आन्ध्रवासी के होंठों पर रहते हैं। १९३५ के बाद कुछ काल तक अन्य भारतीय भाषाओं की तरह तेलुगु में भी 'प्रगतिशील' विचारों की ओर झुकाव रहा,

ग्रौर श्रीनिवास राव (श्री श्री) जैसे कवियो ने इस ग्रान्दोलन को ग्रागे बढाया।

तेलुगु में सफल कहानी लेखको की सख्या बहुत बडी है, ग्रान्ध्र के कथा साहित्य मे दीक्षितुल का वही स्थान है, जो कि हिन्दी में मुन्शी प्रेमचन्द का है तेलुगु कहानी के ऊँचे स्तर का एक प्रमाण यह है कि कुछ वर्ष पूर्व की एक विश्व-कहानी प्रतियोगिता मे द्वितीय पुरस्कार श्री पद्मराजु की कहानी 'तूफान' को मिला था, ग्रन्य कहानीकारो मे ग्रडिवि बापिराजु, जिनकी मृत्यु १६५२ मे हुई, ग्रौर विश्वनाथ सत्य-नारायण को भी बडी लोक प्रियता मिली है, तेलुगु मे यूरोपीयन भाषाग्रो तथा बगला ग्रौर हिन्दी से शरत्चन्द एव प्रेमचन्द की कहानियाँ ग्रौर उपन्यास बडा भारी सख्या मे ग्रनुदित हुए हैं।

तेलुगु मे सभी ग्राधुनिक विषयो पर उच्च स्तर की पुस्तकें मिलती हैं, ग्रन्य भारतीय भाषाग्रो पर व्याख्यात्मक ग्रालोचना का विकास भी प्रशसनीय है। इस क्षेत्र मे जयशकर प्रसाद की हिन्दी 'कामायनी' पर कर्ण राजशेषगिरि राव का निबन्ध ग्रौर बगाली कवि नजरुल इस्लाम पर रहमान के निबन्ध विशेषकर उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार सभी दृष्टियों से तेलुगु की साहित्यिक निधि महान ग्रौर विकसनशील है। भारत की साहित्यिक सम्पत्ति मे उसे एक सम्मानयुक्त स्थान प्राप्त है।

कुचिपुडि ग्रौर बुर्र-कथा—

नाटय कला के क्षेत्र म ग्रान्ध्र की एक ग्रमूल्य निधि है। कुचिपुडि नृत्य, जो कृष्णा नदी के तट पर स्थित इसी नाम के एक ग्राम की विशेष उपज है। कुचिपुडि नृत्य वास्तव मे भरत-नाट्यम् के पुनरुत्थान का ही नया रूप है, जिस मे मुद्राग्रो ग्रौर ग्रग सचालन के साथ-साथ कथोपकथन से भी काम लिया जाता है। कुचिपुडि नृत्य की उत्पत्ति कई प्रकार से बतलाई जाती है। एक कहानी यो है कि १५ वी शती के ग्रत म कुचिपुडि ग्राम की एक नृत्य मडली ने वीर राजा नृसिहम् के सामने यह नृत्य प्रस्तुत किया। इसमे राज्य के एक भाग म चल रही ग्रव्यवस्था का ग्रत्यन्त भावोत्पादक चित्रण किया गया था।

राजा और रानी दोनो इससे बहुत प्रभावित हुए, और इस प्रकार यह नृत्य-शैली शीघ्र ही बहुत लोक-प्रिय हो गई। तत्पश्चात् संस्कृत और तेलुगु कहानियो पर आधारित अनेक नृत्य सगठित किए। भागवत् और पुराण इन नृत्यों का मुख्य विषय रहा है, इसलिए इस शैली मे नाचने वालो को 'भागवतुल्लु' भी कहा जाता है।

एक और कथा इस प्रकार है कि तेलुगु ब्राह्मण सिद्धेन्द्र योगी को श्री कृष्ण के दर्शन हुए, और यह प्रेरणा मिली कि यदि वह 'परिजातापहरण' की कथा को नाट्य-बद्ध कर सके, तो उसे निर्वाण प्राप्त होगा। ब्राह्मण ने यह दैवी चुनौती स्वीकार कर ली और उक्त कथा को नाट्यबद्ध कर योग्य नर्तकों की खोज आरम्भ की। ऐसे दक्ष नर्तक उसे कुचिपुडि ग्राम मे मिले, जिन्होने उक्त कथा को विशेष अंग-संचालन और कथोपकथन द्वारा वर्णित किया। इसीलिये इस नृत्य का नाम 'कुचिपुडि' पड़ा।

सिद्धेन्द्र योगी को ही इस नाट्य शैली का प्रवर्त्तक माना जाता है। उनके 'भाम् कल्पम्' नामक नृत्य-सगठन से यह शैली परिमार्जित हुई, तथा अखिल भारतीय महत्त्व और मान्यता प्राप्त कर पाई। गोलकुडा के कुतुबशाही सुलतान अबुलहसन तानाशाह ने, जो ललित कलाओ का विशेष गुणग्राहक और आश्रय-दाता था, इस नृत्य शैली से प्रसन्न होकर कुचिपुडि ग्राम योगी के अनुयायिओ को जागीर के रूप मे दान कर दिया था। साथ ही यह शर्त लगा दी थी कि गाँव के प्रत्येक ब्राह्मण के लिए इस नृत्य-शैली मे सिद्धहस्त होना आवश्यक होगा। कुचिपुडि ग्राम के ब्राह्मणो की यह परम्परा आज तक चली आ रही है।

'भाम-कल्पम्' के कुचिपुडि नृत्य मे पाँच पात्रो की आवश्यकता होती है, और सात से दस रातो मे श्री कृष्ण के स्वर्गलोक से परिजात पुष्प लाने की पूरी कथा कही जाती है। कुचिपुडि के और भी कई प्रकार है, जैसे, ब्राह्मण और ग्वालिन के दार्शनिक वार्तालाप सम्बन्धी 'गोल्लकल्पम्' नृत्य इस शैली का एक नवीन विस्तार है।

यह बात उल्लेखनीय है कि केरलीय कथकली की पुरानी परम्परा की तरह कुचिपुडि नृत्य मे भी स्त्री के लिए कोई स्थान नही है। स्त्रियो की भूमिका मे

भी पुरुष ही भाग लेते हैं। पर यह इतने कुशल कलाकार होते हैं कि मच पर उन्हे पहचानना असम्भव प्राय. होता है। यह आन्ध्र ब्राह्मणों की विशेष कला है, और कितने ही घरानो में वश-परम्परा के रूप मे चली आ रही है। आचार्यों मे चिता वेंकटरमय्या और वेम्पति वेंकटनारायण के नाम विशेषकर प्रसिद्ध हैं।

'बुररकथा' गीतो के माध्यम से कथा कहने की एक विशिष्ट तेलुगु कला है। इसे आन्ध्र का अपना सगीत-नाटक कहा जाए, तो अनुपयुक्त न होगा। वर्तमान युग मे यह नाट्य-शैली राजनीतिक प्रचार का एक महत्त्वपूर्ण सुगम साधन बन गई है। निर्वाचन आदि के क्षेत्र मे प्रत्येक उम्मीदवार को इस प्रभावी साधन का अवलम्बन लेना पडता है। यह देहाती किसानों का प्रिय सगीत-नाटक है। इसलिए देहात मे विविध उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी इसका अधिकाधिक उपयोग हो रहा है।

तिलगाना क्षेत्र मे स्त्रियो का एक नृत्य 'बात कम्मा' कहलाता है। यह एक प्राचीन राजपूत नरेश की एक मात्र पुत्री सँजनबाई की कथा पर आधारित लोक नृत्य है। उक्त राजकुमारी विवाह के बाद ससुराल में लाछित हो कर मैके लौट आई थी। नववधुएँ इस नृत्य मे बडी भावुकता के साथ भाग लेती हैं।

वस्त्र और खान-पान

लम्बी धोती और चुस्त कमरी आन्ध्र पुरुषों का साधारण वस्त्र हुआ करती थी, परन्तु आजकल बगाली ढग से बधी हुई ढीली-ढाली धोती और खुले आस्तीनो वाला बगाली कुर्ता ही अधिक प्रचलित है। इस दृष्टि से आन्ध्रो का देशीय वस्त्र बगालियो से बहुत कुछ मिलता जुलता है। यदि कुछ अतर है, तो केवल पगडी का। बगाल मे तो पगडी अब रही नही, परन्तु आन्ध्र में यह आज भी सम्मान की वस्तु है। जैसे राजपूती पगडी, मैसूरी पगडी और महाराष्ट्री पगडी है, वैसे ही आन्ध्र की पगडी भी अपनी विशेषता रखती है। वर्तमान उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् के सिर पर सर्वदा जो पगडी रहती है, वही आन्ध्र की पगडी है। यह हल्की और चुस्त बँधी हुई होती है, तथा सामने

से नाक की तरह थोडी सी उभरी रहती है। पीछे से सामने को इकट्ठा करके गाँठ लगा ली जाती है। तेलुगु पुरुष कुछ विशेष प्रकार की मूंछें रखने के बहुत शौकीन हैं। देहाती और पुराने विचारो के लोग राजपूती ढग की घनी घुमावदार मूंछें रखते हैं।

स्त्रियो का साधारण वस्त्र हथकरघे की रग बिरगी साडी है, जिसे वे कही-कही महाराष्ट्रियो की तरह लाँग लगा कर भी बाँधती हैं। आन्ध्र स्त्रियाँ साधारणतः खूब हृष्टपुष्ट और गठीली होती हैं, और कहीं-कहीं तीखे नाकनक्शे वाली कोई आकर्षक नारी भी दिखाई पड जाती है। परन्तु उत्तरभारतीयों के दृष्टिकोण से औसत तेलुगु औरत को सुन्दर कहना जरा कठिन ही है। फिर आभूषणो की भरमार भी कुछ प्रिय नही लगती। आन्ध्र स्त्रियाँ सिर से पाँव तक गहनो से ढकी रहती हैं। गरीब से गरीब घर की औरतें भी चाँदी के अगणित जेवर लादे रखती हैं। नथनो के बीच मे लटकती हुई भारी कील इनका एक विशेष आभूषण है। केसर या हल्दी से बदन को पीला करने तथा निचले वर्ग की औरतो मे बदन गुदवाने का भी काफी रिवाज है। परन्तु औरतें महनती और साहसी होती हैं। बगाल की चटकलो मे जहाँ हजारो तेलुगु मजदूर काम करते हैं, वहाँ उनकी स्त्रियाँ भी इस धधे मे उनका हाथ बटाती हैं।

आन्ध्रो का दैनिक भोजन तो प्राय वही है, जो सामान्यत दक्षिण भारतीय भोजन कहलाता है। वही चावल, साबर और रसम आदि तथा खटाई और मिर्चों का अधिक प्रयोग यहाँ भी चलता है। परन्तु मिर्चों के विषय मे आन्ध्रवासी तमिलियो से शायद कुछ आगे ही हैं। जिस प्रकार आन्ध्र मे लाल मिर्चें बहुत भारी परिमाण मे पैदा होती हैं, वैसे ही यहाँ के प्राय प्रत्येक खाने मे इस कटु तत्व की मात्रा भी कुछ अधिक ही रहती है। मिर्चों के बाद, आन्ध्र की दूसरी सौगात है नाना प्रकार के उत्तम आम। आन्ध्र के आम विश्व-विख्यात हैं। और इन दो वस्तुओ अर्थात् आम और लाल मिर्चों को जब 'एकत्र' कर दिया जाता है, तो आन्ध्र का वह 'उत्तम खाद्य' अस्तित्व मे आता है, जिसे तेलुगु मे 'आवकाय' कहते हैं। यह आन्ध्र की विशिष्ट और विचित्र वस्तु है, तथा इडली, साँबर और दोसा आदि दक्षिण की अन्य वस्तुओ की तरह इस

चीज के अखिल भारतीय प्रचलन की भी बडी सम्भावना है। आन्ध्र मे मूगफली का बडा उत्पादन है । इसलिए यहां चिकनाई के नाम पर नारियल के तेल के अलावा मूगफली के तेल का भी प्रयोग किया जाता है । कही-कही तो अरडी का तेल भी खाने के काम आता है ।

मिर्च और मूंगफली के बाद तीसरी वस्तु, जिसे आन्ध्रो के जीवन का अभिन्न अग कहना चाहिए, तम्बाकू है । भारत भर मे जितना तम्बाकू पैदा होता है, उसका आधा भाग अकेला आन्ध्र उपलब्ध कराता है । यह बात उल्लेखनीय है कि भारत मे उत्तम प्रकार का तथाकथित 'वर्जीनिया' तम्बाकू केवल आन्ध्र के गंतूर जिले में पैदा होता है । आन्ध्र में तम्बाकू की खपत भी बहुत ज्यादा है। सच पूछिए तो अन्ध्रों के चरित्र पर तम्बाकू का बडा प्रभाव है । इसे पीने से लेकर खाने तक हर तरह इस्तेमाल किया जाता है । बूढे लोग देशी चुरूट पसन्द करते हैं, जिसे 'चुट्ट' कहते हैं । पान के साथ 'पट्टी' (जर्दा) के रूप मे खाते हैं । नसवार के क्षेत्र मे आन्ध्र की 'अम्बल' नास बहुत प्रसिद्ध है, और इसमें इत्र आदि सुगन्धियां मिलाई जाती हैं ।

जन-जातियाँ

आंध्र प्रदेश की अधिकतर आदिवासी जन-जातियां तेलुगु भाषी हैं । इस दृष्टि से वे आंध्र की सांस्कृतिक विरासत मे साझेदार हैं । पूर्व गोदावरी और विशाखापट्टनम् के जगलो से ढके पहाडी क्षेत्र इनका मुख्य आवास है । यहां प्राय बीस जन-जातियां बसती हैं । आदिलाबाद, वारगल और करीमनगर के जिलों मे भी इनकी काफ़ी सख्या है । सारे आंध्र मे ये आठ लाख से ज्यादा हैं, और इनम गोड, खोड, शवर, कोया, चेच, कनारेड्डी, वडुर, कोरवा और वजारे उल्लेखनीय हैं । आंध्र की ये आदिवासी जन-जातियां सुदूर दक्षिण की अन्य जन-जातियों की अपेक्षा अधिक आकर्षक, सुसगठित, नृत्य और सगीत की अधिक रसिया तथा आर्थिक और पराविधिक दृष्टि से अधिक समुन्नत हैं ।

गोड मध्य दक्षिण के सर्वाधिक महत्वपूर्ण और बहुसख्यक आदिवासी हैं । ये गोंडी बोली बोलते हैं जो मुंडा बोलियों मे गिनी जाती है । ये काले रग, चौडे

और चपटे चेहरे, ऊंचे गाल, छोटी नाक और नोकीली ठोढ़ी वाले दरमियाने कद के मजबूत, बहादुर और लड़ाके लोग हैं। किसी युग मे इनमे बड़े शक्तिशाली सरदार और सामंत रहे हैं। मुर्दों का दाहसंस्कार और पुनर्जन्म में विश्वास इनके हिन्दूपन के दो बड़े चिन्ह हैं, परन्तु भैंसे आदि का मांस खाने में ये कोई विशेष संकोच नहीं करते। गोंडो का डंडारिया नृत्य बहुत प्रसिद्ध है।

कोया गोदावरी की घाटी गोंड कबीलो की सब से दक्षिणी शाखा है। 'कोया' का अर्थ है, 'पहाड़ी लोग'। मुर्दों को जलाने के सिवा हिन्दुओं की और कोई रसम इनमें नहीं पाई जाती। भैंसे के सींग लगा कर नाचना और कभी-कभी गोमांस-भक्षण करना इनकी विशेषताएँ हैं।

'चेंचु' वैदिक काल से भी पूर्व की जाति है, और आंध्र के आदिवासीयों में सबसे प्राचीन है। यह काले रंग, छोटे कद और चमकीले बालों वाले लोग हैं, और सम्भवतः आस्ट्रिक नस्ल से हैं। इनमे 'रेड-डी' भी शामिल हैं, जो खेती बिल्कुल नहीं करते और केवल जंगली फलों और शिकार पर गुजारा करते हैं। यह बहुत ही शांति-प्रिय और अलग-अलग रहने वाले है, यह तेलुगु बोलते हैं, तेलुगु देहात में भी अन्य लोगों से दूर अपनी अलग बस्ती बसाते हैं।

भूतपूर्व अभियुक्त जातियों में 'चेंचु' के अलावा बजारे-लम्बाड़े, बड्डर, इस-कल और पारधी उल्लेखनीय हैं। बजारे लम्बाड़े तिलगाना और मरहटवाड़ मे काफी सख्या में मिलते हैं। इनका मूल देश उत्तरी-भारत में सम्भवतः राजपुताना है। यह मुगल सेनाओ के साथ व्यापारियों के रूप में आए थे। 'बजारा' शब्द 'बजर' अर्थात् व्यापारी से बना है, और लम्बाड़े का अर्थ है लवण अर्थात् नमक वाले। यह लोग समुद्रतट से नमक लेकर देश में दूर-दूर तक जाते थे, और फिर वापसी में बंदरगाहो पर अनाज पहुँचाते थे। सेनाओं को रसद पहुँचाने और उनका सामान ढोने का काम भी इन्ही लोगो के हाथ में था।

बजारे लम्बे कद के बड़े सुदृढ़ और डील-डौल वाले लोग हैं। इनका रंग साधारणतः उजला और आँखें हल्की भूरी होती हैं। ये हथियारो के इस्तेमाल से भी भली-भाँति परिचित हैं, और पराक्रमी जीवन बिताना पसन्द करते हैं, बंजारो की सबसे प्रकट विशेषता उनकी औरतो का रंग-बिरंगा राजस्थानी

वस्त्र है, जिसे वे कई तरह से सजाती हैं। इसमें एक तो किसी गहरे रंग का भारी भरकम घाघरा होता है और दूसरी चीज होती है बीच से कटी हुई चोली, जिसमें से प्राय आधा अंग दिखाई देता रहता है। सिर पर ओढ़नी होती है, और गले, हाथों और पैरों में दर्जनों चाँदी के कड़े पड़े रहते हैं। परन्तु इतने भारी वस्त्र और गहनों के बावजूद यह औरतें बड़ी चुस्त, चालाक और फुर-तीली होती हैं। वे हमेशा प्रसन्नचित दीखती हैं, और अक्सर नाचती-गाती रहती हैं। बंजारों के नृत्य सरल पर आकर्षक होते हैं। इनके गीत इनकी अपनी बोली में और प्रायः कृष्ण जी की प्रशंसा में होते हैं। यह लोग स्थाई रूप से घर बनाकर नहीं रहते, और न स्थाई रूप से खेती ही करते हैं। यह छोटे-छोटे गिरोहों में जिन्हें तांडा कहते हैं स्थान स्थान पर घूमते फिरते हैं। प्रत्येक 'तांडे' का अपना एक पैतृक सरदार होता है, जिसे 'नायक' कहते हैं, जिसकी आज्ञा का पालन करना सबके लिए अनिवार्य है। बंजारों ने अपनी बोली पर किसी अन्य भाषा का प्रभाव नहीं पड़ने दिया, यद्यपि उसकी कोई लिपि नहीं है। बंजारों के यहाँ केवल विवाहित व्यक्तियों को ही मरने पर जलाया जाता है, शेष सब को दफनाने का नियम है।

'पारधी' भी खानाबदोश कबीला है। यह पुराने हैदराबाद राज्य में ज्यादा पाए जाते थे। इनका उदभव स्थान सम्भवत गुजरात है, क्योंकि यह आज भी एक बिगड़ी हुई गुजराती बोली बोलते हैं।

आन्ध्र-व्यक्तिवाद

आन्ध्र प्रदेश अपने गौरवमय प्राचीन इतिहास, धार्मिक महात्म्य तथा कला-संस्कृति की समृद्ध निधि के साथ भारत के सांस्कृतिक मानचित्र मे एक महत्व-पूर्ण स्थान रखता है। ऐसे प्रदेश के निवासियों मे अपने अतीत पर गर्व की भावना तथा गहरी प्रादेशिक मनोवृत्तियाँ स्वाभाविक ही हैं। परन्तु इस कारण आन्ध्र-वासियो मे कोई अनुचित पक्षपात अथवा अंध-विश्वास जड नहीं पकड सका, यह उनकी सरल उदारता और सहिष्णुता का प्रकट प्रमाण है।

भारत के कई अन्य भाषिक समूहों, और विशेषकर तमिलों और बंगालियों

की तरह, आन्ध्रो मे भी दूसरो से अलग-अलग अपने 'तेलुगुपन' को देर तक बनाए रखने की प्रबल शक्ति है। जहाँ कही भी वे बसते हैं, वहाँ वे अपना एक 'आन्ध्र सघम्' अवश्य स्थापित करते हैं। (सुना है कि अमरीका की न्यूयार्क, महानगरी मे भी आन्ध्रो का एक संघ है) इन सघो के माध्यम से वे अपनी सास्कृतिक गतिविधियाँ जारी रखते हैं।

सभी दक्षिण भारतीयो की तरह आन्ध्र भी उत्तर-भारत की आधुनिक भाषाओ की ओर सहज मे प्रवृत्त नही होते। परन्तु तेलुगु जनता मे किसी भाषा विशेष के प्रति कोई स्वाभाविक विरोध-भावना कभी उत्पन्न नही है। पुराने हैदराबाद राज्य की मुसलमानी सत्ता के अधीन तिलगाना क्षेत्र मे उर्दू का दीर्घ-कालीन आधिपत्य रहने के कारण हिन्दुस्तानी शब्द-रूप आन्ध्रो के निकट बिलकुल अपरिचित नही रहे हैं, यही कारण है कि आन्ध्र ने वर्तमान केन्द्रीय राज-भाषा हिन्दी को अपनाने और उसकी शिक्षा आरम्भ करने मे समस्त दक्षिण का पथप्रदर्शन किया है। इसके साथ ही वह कश्मीर को छोड़ कर भारत सघ का एक मात्र सदस्य राज्य है, जहाँ (तिलगाना क्षेत्र मे) उर्दू को आज भी एक क्षेत्रीय भाषा का स्थान प्राप्त है।

भाषा की तरह धर्म के क्षेत्र में भी उदार हृदयता और सहिष्णुता आन्ध्रों की विशेषताएँ हैं। सामाजिक विचार-धारा की दृष्टि से वे तमिल भाषियों की भाँति उग्र जाति-पूजक और पुरातनवादी तो नही हैं, परन्तु स्वय को परिस्थितियों के अनुसार तेजी से ढालने की क्षमता उनमें भी बहुत कम है, जैसा कि पीछे बताया गया, वे अपने 'तेलुगुपन' को बहुत कठिनाई से ही त्यागने पर आमादा होते हैं। सभी कला-प्रिय लोगो की तरह आन्ध्र की कुछ भावुक और सहज में उत्तेजित होने वाले लोग हैं, परन्तु वे कोरे आदर्शवादी बिलकुल नही है। सम्भवतः यही कारण है कि उन्हे अपने काव्य और नाटक में रामायण की अपेक्षा महाभारत की वीर-रसयुक्त कहानियाँ और पात्र अधिक पसन्द हैं।

आन्ध्रो की ठोस यथार्थ प्रियता और सासारिकता का एक और उदाहरण विवाह-सम्बधी उनके दृष्टिकोण में मिलता है। बगाल के विपरीत आन्ध्र में वर का चुनाव करते समय उसकी शैक्षणिक योग्यताओ पर बहुत कम जोर दिया

जाता है। ज्यादा जोर इस बात पर होता है कि लड़के के पास चन्द एकड़ कृषि-भूमि है कि नहीं, परन्तु एक बात, जिसमें म्रान्ध्रवासी बंगालियों से बिल्कुल मिलते हैं, प्रत्येक विषय में बहस करने की प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति वास्तव में व्यक्तिवाद का व्यवहारिक रूप होती है। बंगाल की तरह म्रान्ध्र के लोग भी घोर व्यक्तिवादी हैं। जहाँ देखिए, लोग भीषण विवाद में व्यस्त दिखाई देते हैं। इन बहसों में, जो म्रनिवार्यतः किसी न किसी राजनीतिक विषय पर होती हैं, जहाँ एक म्रोर शिक्षित म्रान्ध्रों की बौद्धिक तीक्ष्णता तथा पहल करने की क्षमता का परिचय मिलता है, वहाँ दूसरी म्रोर उनमें संगठन-शक्ति म्रौर मिल कर काम करने की योग्यता का म्रभाव भी प्रकट होता है। यों तो यह बात एक प्रकार से सारे ही भारत पर लागू होती है, परन्तु इस क्षेत्र में भी म्रान्ध्र म्रौर उनसे कुछ कम या ज्यादा, बंगाली विशेष हैं। इनकी इसी मनोवृत्ति का कुफल है कि उनके यहाँ कोई काम भी सुचारु रूप से नहीं हो पाता। जब प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को 'नेता' समझता हो, तो संगठन म्रौर म्रनुशासन कैसे कायम रह सकते हैं?

परन्तु इन सामयिक त्रुटियों के बावजूद म्रान्ध्र का भविष्य म्रपेक्षाकृत म्रधिक उज्ज्वल म्रौर म्राशाप्रद है। समतल उपजाऊ भूमि, नीची पहाड़ियों म्रौर लम्बी नदियों का यह देश बहुत धन-धान्य पूर्ण म्रौर सौभाग्यशाली है। यह भारत के उन चन्द भागों में से है, जहाँ खाद्यान्न का फालतू उत्पादन होता है। इसीलिए इस प्रदेश को 'भारत का चावल का कटोरा' कहा जाता है, यहाँ पानी के रूप में शक्ति म्रौर सिंचाई के महान स्रोत म्रौर खनिज पदार्थों के प्रचुर भंडार हैं। जन-साधारण की परिश्रम-क्षमता भी पर्याप्त है। यह सारी बातें इस प्रदेश के शीघ्रकालिक म्रौद्योगिक विकास तथा सर्वांगीण प्रगति की प्रकट सम्भावनाओं की म्रोर संकेत करती हैं।

कन्नड़ी

दक्षिण भारतीय प्रायद्वीप के पश्चिमी भाग में स्थित वर्तमान मैसूर का जो राज्य है, उसी का परम्परागत शास्त्रीय नाम है कर्नाटक। ब्रिटिश काल का मैसूर राज्य छोटा था। उसके साथ, सीमा आयोग की सिफ़ारिशों के अनुसार, बम्बई, मद्रास और हैदराबाद के निकटवर्ती क्षेत्रों तथा कुर्ग को मिला कर वर्तमान वृहत मैसूर अथवा कर्नाटक प्रदेश का निर्माण हुआ है। यहाँ के लोग स्वयं को 'कन्नडिग' तथा अपनी भाषा और कला-संस्कृति को 'कन्नड़' कहते हैं। 'कन्नड' के लिए बहुधा 'कन्नडी' शब्द का भी प्रयोग होता है।

'कर्नाटक' शब्द की व्युत्पत्ति सम्भवत. तमिल 'करईनाड्डु' से है, जिसका अर्थ है 'वह देश' जो समुद्रतटों के बीच में स्थित हो'। कर्नाटक प्रदेश किसी काल में पश्चिमी घाट से पूर्वी घाट तक फैला हुआ था और सम्भवत. यही कारण है कि अंग्रेजी शासन-काल के कुछ पहले तमिल प्रदेश के एक क्षेत्र को गलती से कर्नाटक कहा जाने लगा था। इस धारणावश वहाँ के एक अंतिम मुस्लिम शासक नवाब अर्काट को इतिहासों में कहीं-कहीं 'नवाब कर्नाटक' भी लिखा गया है। परन्तु वास्तव में कर्नाटक भूतपूर्व मैसूर राज्य का ही प्राचीन विस्तृत रूप था, जो आज फिर अपने पुराने विस्तार और वैभव के साथ पुनः स्थापित हुआ है। इस निर्मित प्रदेश का क्षेत्रफल करीब ८५ हजार वर्गमील और जनसंख्या लगभग ढाई करोड़ है। इस जनता का एक समृद्ध इतिहास है, और भारतीय राष्ट्रीयता, धर्म, संस्कृति, कला और स्थापत्य के विकास में इन

का महत्वपूर्ण योग है ।

इस प्रदेश का वैधानिक नाम, भूतपूर्व मैसूर राज्य के विचार से, मैसूर ही रहने दिया गया है । मैसूर शब्द की उत्पत्ति 'महिषासुर' से बतलाई जाती है जो इस भूभाग का एक प्राचीन अनार्य राजा था और जिसे आर्य देवी दुर्गा चामुंडा ने मारा था । इसी से दुर्गा का एक नाम 'महिषमर्दिनी' भी है । एक और धारणा इस प्रकार है कि संस्कृत का महिष' (भैंसा) कन्नड़ में 'मैंस' हो गया, जिसके साथ कन्नड़ 'उरु' अर्थात् नगर या देश के संयोजन से मैसूर शब्द बना । अशोक के समय में इस देश को 'महिषमंडल' कहा जाता था । परन्तु महाभारत और अन्य प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में इसका नाम 'कर्णाट अथवा कर्नाटक ही लिखा है । ६वीं शती ईसवी के एक कन्नड़ कवि ने इसे गोदावरी से कावेरी तक पश्चिमी समुद्रतट के साथ-साथ फैला हुआ बतलाया है ।

इतिहास

पौराणिक आर्यवर्त्त के दक्षिण में पाँच बड़े राज्य थे आन्ध्र, चोल, पाँडय, चेर और कर्नाटक । परन्तु उस आदि कर्नाटक राज्य का कोई प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं होता। रामायण में श्री राम के इस भूभाग में जाने का उल्लेख अवश्य मिलता है । किष्किंधादेश, जहाँ की वानर कहलाने वाली जाति के राजा बाली का उन्होंने वध किया, तथा उसके भाई सुग्रीव और सेनापति हनुमान की सहायता से लंका विजय की, इसी प्रदेश के एक भाग का प्राचीन नाम था । परन्तु क्रमबद्ध इतिहास सिकन्दर के भारत-आक्रमण के बाद जब प्राय सारे उत्तरी भारत में चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य था, तब दक्षिण में आन्ध्र और कर्नाटक, दो राज्य सर्वाधिक शक्तिशाली थे । कुछ इतिहासज्ञों का मत है कि तत्कालीन कर्नाटक मौर्य साम्राज्य का अंग था । बंगलौर के निकट रोमन सिक्कों की उपलब्धि से, जो ५१ से २१ ईसा-पूर्व तक के हैं, उस काल में इस प्रदेश के विस्तृत समुद्री व्यापार और सांस्कृतिक सम्बन्धों का पता चलता है ।

जैन धर्म-ग्रन्थों के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने अंतिम दिन वर्तमान मैसूर में बिताए थे । तत्सम्बन्धी कथा का विस्तार इस प्रकार है कि चन्द्रगुप्त के

राज्यन्काल मे राज-गुरु भद्रबाहु ने बारह वर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी की थी। उस अकाल के प्रारम्भ पर चन्द्रगुप्त ने सिंहासन त्याग दिया और वह धर्म-तपस्या के लिए गुरु भद्रबाहु तथा अन्य यात्रियो के साथ दक्षिण मे चला गया। वर्तमान भद्रबाहु के समाविष्ट हो जाने के बाद चन्द्रगुप्त बारह वर्ष और जिया था। उसने यह सारी अवधि श्रावनबेलगोल के स्थान पर ही बिताई थी। इस जैन कथा मे सत्य का अश चाहे थोडा हो, परन्तु उत्तर-पूर्वी मैसूर मे अशोक के शिला-लेखो की विद्यमानता इस क्षेत्र के मौर्य साम्राज्य का अग होने का चिह्न है। अशोक के धर्म प्रचारक महिष-मडल और बनवासी मे गए थे, यह बात भी बौद्ध ग्रथो से सिद्ध है।

मौर्य साम्राज्य के बाद कर्नाटक के उत्तरी भागो पर आंध्र के सत्वाहन सम्राटों का आधिपत्य हुआ। दूसरी शती ईसा पूर्व से दूसरी शती ईस्वी तक की चार शताब्दियाँ इस वश का उत्थान-काल मानी जाती हैं। उस युग में कर्नाटक के स्थानीय राजाओ का नाम सतकरनी था। आंध्र सम्राटो का आधिपत्य समाप्त होने पर उत्तर पश्चिमी कर्नाटक में कदम्ब के महान साम्राज्य का अभ्युदय हुआ। यह साम्राज्य किसी न किसी रूप मे प्राय एक हजार वर्ष तक विद्यमान रहा। कदम्ब की राजधानी बनवासी मे थी। सस्कृत साहित्य में कदम्ब से सम्बधित कितनी ही कथाएँ मिलती हैं। दक्षिण कर्नाटक मे कदम्ब का समकालीन राज्य तमिलनाडु के पल्लव राजाओ का था।

उसी युग मे उत्तर-भारत के गगा-आर्य कहलाने वाले दो सूर्यवशी राजकुमारो द्विग और माधव ने जैन मुनि सिंहनन्दी की सहायता से कर्नाटक के कुछ क्षेत्रों मे अपना राज्य स्थापित किया। कोलाल या कोलार उनकी राजधानी थी। नन्दगिरि किले को उन से सम्बधित बतलाया जाता है। ये गगा-आर्य अथवा गगारिदाई यूनानी और रोमन लेखको के कथानुसार चन्द्रगुप्त मौर्य की प्रजा थे। बाद मे उन्होने स्वय अपने राज्य स्थापित किए। उनका एक राज्य कलिंग (उडीसा) मे था। इस वश के सब राजाओं के नामो मे 'गगोनी वर्मा' का वश-नाम आता है। यह आठवीं शती मे शक्ति और वैभव के उच्च शिखर पर थे। इनके राज्य को सौभाग्यशाली होने के नाते 'श्री राज्य' कहा जाता था।

दसवीं शती मे महाराष्ट्र के राष्ट्रकूट राजाओं ने कुछ काल तक कर्नाटक के उत्तरी भाग पर राज्य किया। परन्तु बाद मे सम्भवतः राष्ट्रकूट सम्राट गोविन्द अथवा प्रभुतवर्ष ने गंगा राजा को राज्य लौटा दिया। गंगा राजा नृपतुंग अथवा अमोघवर्ष का दीर्घ राज्य-काल कर्नाटक के इतिहास मे सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है। कन्नड का बहुत सा धार्मिक साहित्य उसी युग मे निर्मित हुआ। उस काल मे यहाँ जैन धर्म का बहुत अधिक प्रभाव था। गोमतेश्वर की नग्न मूर्तियाँ इस प्रदेश मे जैन-धर्म के उत्थान-काल की स्मृति दिलाती हैं। करकल मे इन्द्रगिरि पहाड़ी पर ३५ फुट ऊँची मूर्ति है, और श्रवनबेलगोल गोमतेश्वर-मूर्ति, गंगा-राज्य के मन्त्री चामुंडाराम ने बनवाई थी, ५७ फुट ऊँची है। दुनिया भर से लोग इन विशालकाय मूर्तियों को देखने के लिए आते हैं। नन्दी साड इस देश के प्रस्तर-शिल्पियों की एक और महान कृति है।

दसवीं शती के अंतिम दशक मे तमिल देश के चोल सम्राट राजराज ने कर्नाटक पर चढ़ाई की और ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ मे राजेन्द्रनाथ चोल ने कर्नाटक को अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार कर्नाटक में गंगा राज्य का अंत हुआ। उसी काल मे पश्चिमी चालुक्यों ने, जो सातवीं शती मे चालुक्य राज्य के दो शाखाओं मे बट जाने के बाद से बादामी (बीजापुर) और फिर कल्याण से राज्य करते आ रहे थे, कर्नाटक के उत्तर-पश्चिमी भाग पर अपनी सत्ता स्थापित की। उनका सबसे प्रसिद्ध और शक्तिशाली राजा पुलकेशिन द्वितीय विक्रमादित्य था, जिसकी राजधानी बेलगांव मे थी। तब इस राज्य का नाम 'कुन्तल' था। उत्तरी कर्नाटक पर चालुक्यों का राज्य प्राय दो शताब्दियों तक बना रहा। जैन, वैष्णव और शैव धर्म सम्बधी कितने ही शक्तिशाली मन्दिर और मठ उसी युग में निर्मित हुए।

बारहवीं शती म चालुक्यों के स्थान पर स्थानीय कलचुरी राजाओं के एक मन्त्री बिज्जाल ने अपना राज्य स्थापित किया। उसी के राज्य-काल म कर्नाटक मे विशुद्ध शैव धर्म का पुनरुत्थान हुआ। महान धर्म-प्रवर्त्तक बसवेश्वर ने लिंगायत धर्म की स्थापना की, जो कन्नड जनता मे एक लोकप्रिय धर्म के रूप मे आज भी सजीव है।

शेष कर्नाटक मे, जो अभी तक कदम्ब के नाम से चला आ रहा था, गंग वश का राज्य समाप्त होने पर पश्चिमी घाट के स्थानीय सरदारो का एक परिवार 'होयसल' के नाम से सत्तारूढ हुआ। इस वश का सस्थापक 'सल' नामक एक सामन्त था, जिसने किसी जैन मुनि के 'पोय सल' (सल, मारो) कहकर चिल्ला उठने पर एक शेर को मार दिया था। इसी से उस वश का नाम 'पोयसल' पडा, जो कालातर मे 'होयसल' हो गया। होयसल राजे स्वय को यादव अर्थात् चन्द्रवशी कहते थे। इस वश के राजा वत्तिदेव ने रामानुज के प्रभाव से जैन मत त्याग कर विष्णुवर्धन नाम, धारण किया और कर्नाटक में चोलों की बची-खुची सत्ता समाप्त की। रामानुजाचार्य ने चोल सम्राट द्वारा उत्पीडित होकर ही होयसल राज्य मे आश्रय लिया था। वेलूर का विश्वविख्यात चन्नकेशव मदिर, जिस में पत्थर की खुदाई का काम दर्शक को आश्चर्य चकित कर देता है, उसी होयसल राजा विष्णुवर्धन का बनाया हुआ है। हेलबिद के मदिर भी उसी काल की अति समुन्नत हिन्दू स्थापत्य कला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

तेरहवी शती के अत मे होयसल राजा बल्लाल तृतीय ने उत्तरी कर्नाटक से चालुक्यो को मार भगाया। इस प्रकार कर्नाटक प्रदेश होयसल्लो के अधीन फिर एक बार सयुक्त राज्य बना। परन्तु इसी बल्लाल तृतीय के राज्य-काल मे दक्षिण पर मुसलमानी आक्रमण आरम्भ हुए। अलाउद्दीन खिल्जी के सेनापति मलिक काफूर ने अन्य राज्यो के साथ कर्नाटक को भी नष्ट-भ्रष्ट किया। १३२६ ई० मे दिल्ली-सम्राट मुहम्मद तुगलक ने स्वय आक्रमण कर राजधानी हेल्बिद को भीषण हानि पहुँचाई, होयसल राजा मुसलमान आक्रमणकारियो के विरुद्ध लडता हुआ मारा गया।

उसी युग मे—१३३६ ई० मे—तु गभद्रा नदी के तट पर दक्षिण भारत के अंतिम हिन्दू साम्राज्य विजयनगर की स्थापना हुई। विजयनगर की राजधानी हाम्पी मे थी, जो बेलारी जिले मे स्थित वर्तमान कर्नाटक का सब से महत्वपूर्ण स्थान है। हाम्पी के ध्वसावशेष विश्वविख्यात हैं। इनके कारण इस स्थान को भारत का पोम्पई भी कहा जाता है।

विजयनगर साम्राज्य के अधीन श्रीरगपट्टनम मे गगारायल के नाम से उप-राज रहते थे। १५६५ ई० मे जब बहमनी सुलतानो की सयुक्त शक्ति द्वारा टिल्ली कोट की लडाई मे विजयनगर का विध्वस हुआ तब कर्नाटक के स्थानीय सरदार स्वतत्र हो गए। इनमे मैसूर के 'वडेयर सरदार' सब से योग्य निकले। उन्होने दक्षिण कर्नाटक के अन्य सामतो को अपने अधीन कर १६१० ई० म श्रीरगपट्टनम् पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार मैसूर के वर्तमान वडेयर राजवश की स्थापना हुई।

वडेयरो के सम्बन्ध मे यह दत कथा है कि उनके पूर्वज सौराष्ट्र से आए थे। विजयनगर साम्राज्य-काल मे यादव वश के दो राजकुमार विजय और कृष्ण द्वारका (सौराष्ट्र) से आकर महिषपुर (मैसूर) में रहने लगे थे। उन्होंने सुना कि एक स्थानीय वडेयर सरदार किसी मानसिक रोग से ग्रस्त हो जगल मे निकल गया है। उसकी अनुपस्थिति में एक निम्न जातीय सरदार उसकी पुत्री से बलात विवाह कर रहा है। यह सब सुनकर दोनो राजकुमारों ने उक्त वडेयर परिवार की रक्षा करने का निश्चय किया और ठीक लगन के समय विवाह-मडप पर सहसा आक्रमण कर दुष्ट सरदार को मार दिया। तत्पश्चात् बडे भाई विजय ने उस लडकी से विवाह कर लिया और स्वय वडेयर नाम ग्रहण कर वर्तमान वडेयर वश की स्थापना की। उसी राजकुमार विजय के वशजों ने १६१० ई० मे मैसूर राज्य को नीव रखी।

औरगजेब जिन दिनो दक्षिण म मुगल उपराज था तब बीजापुर पर मुगल अधिकार होने के पश्चात् मैसूर पर भी चढ़ाई की गई। अन्दौलाखाँ और शाहजी (शिवाजी के पिता) के नेतृत्व मे मुगल सेनाओ ने राजधानी श्रीरगपट्टनम् पर आक्रमण किया, उस समय तो तत्कालीन वडेयर राजा कठिराव ने भीषण युद्ध कर उत्तरी भागो को मुगल बीजापुर मे विलीन कर नया सूबा निर्मित किया। शाहजी उसके प्रथम सूबेदार नियुक्त हुए। उनके शासन-काल म कर्नाटक में बहुत से मरहठा तत्व का समावेश हुआ।

औरगजेब के राज्य काल मे १६९१ ई० तक उत्तरी कर्नाटक का काफी भाग फिर से मुगल साम्राज्य म सम्मिलित कर 'सीर' के नाम से नया सूबा

सगठित किया गया और खास मैसूर मे बगलौर नगर को वडेयर राजा के हाथ तीन लाख रुपए मे बेच कर वहाँ उसकी सत्ता स्वीकार कर ली गई।

इस बीच मैसूर राज्य पर मरहठा आक्रमण भी बराबर होते रहे। अठारहवीं शती मे मैसूरी सेना का एक मामूली अनपढ़ सवार हैदरअली बहुत शक्तिशाली हो उठा। १७६१ ई० मे उसने वडेयर राजा को प्रायः पदच्युत कर राज्य-सत्ता अपने हाथ मे ले ली। उसके बेटे टीपू ने वडेयर राजा का दिखावा भी समाप्त कर दिया और स्वयं सुलतान बन बैठा। अंग्रेजों के विरुद्ध हैदरअली और टीपू के युद्ध भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय हैं। दोनो शासकों ने मैसूर राज्य को विस्तार दिया और शक्तिशाली बनाया परन्तु टीपू ने सम्प्रदायिक आधार पर अत्याचार भी बहुत किए। आखिर १७६६ मे अंग्रेजो के हाथों टीपू की पराजय और मृत्यु के बाद वडेयर वश के एक बालक कृष्णराज को मैसूर के सिंहासन पर बिठाया गया और बहुत-सा क्षेत्र अंग्रेजी साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया गया। कृष्णराज १८११ ई० मे वयस्क होने पर ब्रिटिश युग के मैसूर राज्य का पहला राजा बना। वर्तमान राजा जयचमाराज वडेयर उसी के वशज हैं। वह १६४० ई० मे गद्दी पर बैठे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद वह कुछ काल तक मैसूर के राजप्रमुख रहे और अब नए विशाल कर्नाटक प्रदेश के राज्यपाल है।

दर्शनीय देश

कर्नाटक बड़ी-बड़ी नदियो, भव्य जल-प्रपातो, सुन्दर पहाडियों और घने जगलो का देश है। छोटी-बड़ी पचास से अधिक नदियाँ इस भूमि मे बहती हैं, जिनमे कावेरी, कृष्णा, शरावती और तुगभद्रा प्रमुख हैं। जल-प्रपातो मे जोग शिवसमुद्र और गोकाक महत्वपूर्ण हैं। नदियो के अलावा हजारो छोटे-बड़े तालाब हैं, जिनसे यहाँ की कृषि के लिए पानी के अभाव की समस्या कभी उपस्थित नही होती। कर्नाटक मे अकाल नाम की कोई वस्तु नहीं है।

खनिज पदार्थों के विषय मे भी यह प्रदेश बहुत समृद्ध है। सारे भारत मे सोने के उत्पादन का ६५ प्रतिशत अश मैसूर की कोलार और हुट्टी खानो से

निकलता है। यहाँ लोहे का भी पर्याप्त भंडार है। प्राय. १५ हजार वर्गमील क्षेत्र में सरकारी जगल है, जिनमे हर प्रकार की मूल्यवान लकडी उपलब्ध होती है। सारी दुनिया मे उत्कृष्टतम् चदन की लकडी केवल मैसूर मे पैदा होती है। कई जगल केवल जीव-जन्तुओ के लिए सुरक्षित हैं। जिनमे तरह-तरह के पशु-पक्षी और जगली जानवर रहते हैं इन मे हाथी, जगली सॉड, शेर, चीते और हिरन विशेष हैं।

मैसूर राज्य अपने सोने, लोहे और अन्य धातुओं की खानो, रेशम और चंदन के उद्योग धधों तथा साबुन, सिमेन्ट, कागज और मशिनरी के कारखानो के लिए प्रसिद्ध है, राजकीय क्षेत्र के कई उत्तम उद्योग धधे मैसूर मे हैं।

उपर्युक्त प्राकृतिक और आर्थिक विशेषताओं के अलावा कर्नाटक प्रदेश अपने ऐतिहासिक अवशेषो तथा आधुनिक उद्यानों के लिए भी विश्वविख्यात् है। प्राचीन राजधानियो के खडहर, महान रणभूमियों के चिन्ह, भव्यशाली मदिर, विशाल मूर्त्तियाँ, तीर्थस्थान और मध्यकालीन हिन्दू स्थापत्य के उत्कृष्ट नमूने पग-पग पर मिलते हैं। मैसूर जिले मे स्थित कृष्णाराजसागर के वृन्दावन उद्यान की सुन्दरता वर्णनातीत है। वस्तुतः मैसूर राज्य मे देखने योग्य इतना कुछ है कि उनकी सूची मात्र से एक पूरी पुस्तक भरी जा सकती है। इसीलिए इसे 'पर्यटकों का स्वर्ग' कहा जाता है।

कन्नड समाज

कर्नाटक की हिन्दू जनता को जाति और धर्म की दृष्टि से चार बड़े समूहों म विभक्त किया जा सकता है। ये समूह हैं, ब्राह्मण, वोक्कलिग, लिंगायत और शूद्र। इनके अलावा बहुत से जैन-धर्मावलम्बी भी कर्नाटकी हिन्दुओं में गिने जाते हैं। सब से ऊपर ब्राह्मण हैं, जो अपना सम्बन्ध 'पच द्राविड़' अर्थात् दक्षिण की पाँच ब्राह्मण जातियों से जोड़ते हैं। विद्वानो का मत है कि कर्नाटक के स्थानीय ब्राह्मण विशुद्ध आर्य वशज नहीं हैं। बल्कि तमिलनाडु की तरह यहाँ भी प्रारम्भिक उत्तरी ब्राह्मणो ने बहुत से स्थानीय द्राविड धर्माचार्यों और

पुरोहितों को अपने समाज में सम्मिलित कर लिया था। यह भी स्पष्ट है कि कर्नाटक मे आर्य दक्षिण के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा कहीं पहले आए थे। कर्नाटकी ब्राह्मणों की तीन बडी शाखाएँ मानी जाती हैं, जो स्वय को शकराचार्य, माधवाचार्य और रामानुजाचार्य की अनुयायी बतलाती हैं।

अब्राह्मण हिन्दुओ मे सख्या और सम्मान की दृष्टि से 'वोक्कलिग' प्रमुख हैं। इनकी कई उपजातियाँ स्वय को क्षत्रियवशी बतलाती हैं। इनमे प्राय: आधे 'गगाडेकर' कहलाते हैं, जिसका अर्थ है कि यह लोग प्राचीन गगा राज्य की प्रजा अथवा गगा राजकुमारो के साथ आने वाले क्षत्रियों के वशज हैं। यह लोग कर्नाटक के जमीनदार, राजकीय अधिकारी और सेना-नायक रहे हैं।

'लिंगायत' वर्ण-व्यवस्था के अतर्गत कोई विशेष जाति न हो कर कर्नाटक का एक विशिष्ट धर्म अथवा सम्प्रदाय है। इसके अनुयायी सख्या की दृष्टि से दूसरे नम्बर पर हैं। यह विशुद्ध शिव-भक्ति और लिंग-पूजा पर आधारित धर्म है। इसमे वेद-पुराण और ब्राह्मण की सत्ता तथा जाति-पाति और श्राद्ध आदि के लिए स्थान नही है। इसके अनुयायी ब्राह्मण-धर्म के किसी भी आधारभूत सिद्धांत को स्वीकार नही करते। कई विषयो मे तो साधारण हिन्दू धर्म के बिलकुल विपरीत आचरण किया जाता है। उदाहरणार्थ इनके यहाँ दाह-सस्कार के स्थान पर मुर्दे को दफनाने की प्रथा है। कट्टरपथी लिंगायत बच्चे के जन्म लेते ही उसके गले मे शिवलिंग बाँध देते हैं, जो उम्र भर साथ रहता है, और मरने पर कब्र मे साथ ही गाडा जाता है। बहुत से लोग आज भी माथे पर गोल सफेद चिन्ह बनाए रखते है, जो 'लिंगायत' होने का सूचक होता है।

कर्नाटक मे इस विशेष सम्प्रदाय अथवा धर्म की स्थापना ११६० ई० मे, अर्थात् रामानुजाचार्य द्वारा कर्नाटक से जैन धर्म के उन्मूलन और वैष्णव धर्म की पुनर्स्थापना के लगभग चालीस वर्ष बाद हुई। कलचुरि राजा विज्जल के एक मत्री बसु अथवा बसवेश्वर को इसका प्रवर्तक माना जाता है। १३५० ई० से १६१० ई० अर्थात वर्तमान वडेयर राजवश का उदय होने तक यह कर्नाटक के अधिकाश क्षेत्र का राजधर्म था। इस दीर्घ अवधि मे, जैनियो के बाद, कन्नड साहित्यकला और सगीत का नेतृत्व लिंगायत कलाकारो ने किया। इनकी

उनका बिना लाइसेन्स हथियार रखने का विशेष अधिकार आज तक चला आ रहा है।

'कोडगु' आर्य नस्ल के लम्बे कद वाले गोरे-चिट्टे सुन्दर लोग हैं। उन्हें द्राविड-प्रधान दक्षिण भारत में एक 'आर्य द्वीप' के समान समझना चाहिए। परन्तु उनका धर्म साधारण हिन्दू धर्म से बहुत कुछ भिन्न है। वे ब्राह्मण की सत्ता और जाति-पाँति व्यवस्था को नहीं मानते। उनके यहाँ पूर्वजों की पूजा तथा बहुत सी शुभ और अशुभ प्रेतात्माओं की पूजा प्रचलित है। कावेरी नदी उनकी इष्ट देवी और धर्म का आधार है। कावेरी-स्नान उनका सब से बड़ा पर्व है। हथियारों की पूजा, नृत्य प्रदर्शन और प्रतियोगिता तथा क्रिकेट आदि उनके विशेष खेल और त्यौहार हैं। यह लोग सदा से बड़े वीर योद्धा रहे हैं। प्रायः प्रत्येक पुरुष बन्दूक तलवार आदि हथियार रखता है। इनके देहात में बड़ों की सत्ता चलती है, जिनके संघ को 'टक्क' कहा जाता है, और उनका निर्णय 'नाड' कहलाता है। 'नाड' गाँव को भी कहते हैं। सब त्यौहारों, खेलों और शिकार आदि में सारा 'नाड' भाग लेता है। कोडगु पुरुष पान खाने, नाचने-गाने और बन्दूक लेकर शिकार खेलने के बहुत शौकीन हैं।

कोडगु लोगों के उजले रंग, सुन्दर सुगठित शरीर और प्रभावी चाल-ढाल के अलावा जो वस्तु विशेषकर ध्यान को आकृष्ट करती है, वह है उनकी जातीय पोशाक। घुटनों से नीचे तक लम्बा काला कोट अथवा अंगरखा रहता है, जिसे 'कुपास' कहते हैं। इसके आस्तीन आधे होते हैं, जिससे कोहनियों से नीचे अन्दर के सफ़ेद कुर्ते अथवा कमीज के आस्तीन दिखाई देते हैं। अंगरखे को सामने से बाँध कर कमर के गिर्द कस लिया जाता है, और नीले अथवा लाल रंग का कमरबंद कई फेर देकर बाईं तरफ बाँधा जाता है। दाईं तरफ मुर्गी छुरा रहता है, जिसे 'पिच्चकात्ति' कहते हैं। कभी-कभी चौड़े फल वाली 'आड़िकत्ति' भी रहती है, जो गोरखों की कुकरी जैसी चीज है। आजकल इस हथियार का प्रयोग केवल शक्ति-परीक्षा के लिए ही होता है, जैसे ब्याह शादी के अवसर पर दुल्हा को इसके द्वारा एक वार में केले का तना काट कर अपने पौरुष का प्रदर्शन करना पड़ता है। सिर पर लाल रूमाल अथवा विशेष प्रकार

की पगडी रहती है, जो ऊपर से बिल्कुल चपटी होती है। मैसूरी पगड़ी की तरह इसमें भी सुनेहला किनारा लगा रहता है, परन्तु इसके बांधने का ढंग भिन्न है।

कुर्गी पुरुषों की तरह उनकी स्त्रियों के वस्त्र भी विशिष्ट होते हैं। लम्बे आस्तीनों वाला चुस्त कुर्ता होता है, और नीचे सफेद मलमल अथवा नीले सूती कपड़े का घाघरा रहता है। सिर पर सुनहले किनारे वाला सफेद अथवा रंगीन मलमल का रूमाल एक किनारे से बांध कर दो कोने कंधों पर डाल दिए जाते हैं। इस वस्त्र में कुर्गी युवतियां बिल्कुल परियों जैसी दिखाई देती हैं।

कोडगु लोगों के यूरोपियन, विशेषकर अंग्रेज, प्रवासियों के साथ बड़े घनिष्ठ सम्बन्ध रहे हैं। उनकी तरह इन लोगों में भी मद्यपान आदि की आदतें आम हैं। अंग्रेजी एक प्रकार से इनकी द्वितीय भाषा बन गई है, यद्यपि इनकी अपनी बोली 'कोडगु' है, जो कन्नड से अधिक मलयालम से मिलती जुलती है। परन्तु लिखने के लिए कन्नडी लिपि का ही प्रयोग किया जाता है। ये लोग अपनी परम्परित शूरवीरता और युद्ध-प्रियता के लिए प्रसिद्ध हैं। इन्होंने भारतीय सेनाओं को अनेक कुशल सेनापति प्रदान किए हैं। स्वतन्त्र भारत के प्रथम भारतीय सेनापति जनरल करिअप्पा और पिछले/सेनाध्यक्ष जनरल थिमय्या दोनों कुर्गी हैं।

भाषा और साहित्य

कर्नाटक की भाषा 'कन्नड' है, जो दक्षिण भारतीय द्राविड-परिवार की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है। कन्नड की लिपि तेलेगु से मिलती-जुलती है। इसी भाषा को पंडितों ने संस्कृत युक्त शैली में लिख कर 'कर्णाट' अथवा 'कर्णाटकी' कहा और यूरोपियन लेखकों ने इसे 'कनारी' अथवा 'कैनरीज़' का नाम दिया। इस भाषा में बहुत समृद्ध प्राचीन साहित्य है। मैसूर में उत्तरी मुसलमानों के कारण 'हिन्दुस्तानी' का भी काफी प्रचार है, जिससे हिन्दी-उर्दू आदि यहां इतनी अपरिचित भाषाएँ नहीं हैं, जितनी कि तमिल प्रदेश अथवा केरल में हैं। वर्तमान कर्नाटक में कुछ तमिल, तेलगु, मलयालम और मराठी भाषी क्षेत्र भी

सम्मिलित हैं। इस कारण मैसूर के साथ सम्बन्धित पड़ौसी राज्यो के भाषाई झगड़े चलते हैं।

कन्नड साहित्य का इतिहास बहुत पुराना है। पुरातनता की दृष्टि से कन्नड का नाम तमिल के बाद लिया जाता है। कन्नड का आदि साहित्य जैन-धर्म सम्बन्धी है, और छटी-सातवी शतियो के शिला-लेखो मे उस काल की भाषा का सार्थक रूप मिलता है। नवी-दसवी शतियो मे गगा राजाओ का दीर्घ राज्य-काल कन्नड साहित्य के इतिहास मे बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस काल-खण्ड में प्राचीन कन्नड मे बहुत सा धार्मिक साहित्य निर्मित हुआ।

बारहवी शती के मध्य से चौदहवी शती के मध्य तक की दो शताब्दियाँ लिंगायत (वीरशैव) धर्म के उत्थान का क्रांति-युग थी। उस काल मे कन्नड साहित्य का नेतृत्व लिंगायत लेखको ने किया। उसके बाद महान विजयनगर साम्राज्य के स्वर्ण-युग में तमिल और तेलगु के साथ कन्नड साहित्य भी अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। तत्कालीन साहित्य मे 'दासो' अथवा वैष्णव संत-कवियो और वीर-शैव रहस्यवादियो की रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। विजयनगर साम्राज्य के विध्वस के बाद पुरानी परम्पराएँ और विषय-वस्तु ही आगे चलती रही। यहाँ तक कि अठारहवी शती मे मैसूर राज्य के चिक्कदेव राय के राजा-श्रय मे इतिहास लिखने के लिए गद्य का विशेष रूप से पुनर्गठन हुआ। परन्तु गद्य-प्रधान आधुनिक काल का आरम्भ, अन्य भारतीय भाषाओ की तरह, कन्नड मे भी उन्नीसवी शती के शुरू से ही माना जाता है।

उन्नीसवीं शती मे कन्नड पर अंग्रेजी साहित्य का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। विदेशी लेखको और ईसाई मिशनरियों ने भी बोल-चाल की कन्नड म, जिसे वे 'कनारी' अथवा 'कैनरीज' कहते थे, बहुत कुछ लिखा।

१८२३ ई० मे रचित 'मुद्रामजुषा' को, जिस मे प्रसिद्ध संस्कृत नाटक 'मुद्राराक्षस' की कथा-वस्तु को मौलिक ढग से प्रस्तुत किया गया, आधुनिक कन्नड का पहला ग्रन्थ माना जाता है। उसी काल मे मैसूर के राजा मुम्मडि कृष्णराय (१७९४-१८६८) ने, जो स्वय एक उत्तम साहित्यकार थे, कन्नड गद्य के विकास म विशेष योग दिया।

१९ वी शती के उत्तरार्ध मे राष्ट्रीय पुनर्जागरण के नए प्रभावो के सबसे पहले ग्रहणकर्त्ताओ मे से थे बसप्प शास्त्री। उन्होने जहां एक ओर 'ओथेलो' का उत्कृष्ट अनुवाद किया, वहां दूसरी ओर कालीदास के 'शकुन्तला' का कन्नड रूपातर भी प्रस्तुत किया। मुल बागल ने 'उत्तर रामचरित' और तुरमरी ने 'कादम्बरी' को आधुनिक कन्नड मे लिखा। पुराणों के अनुवाद भी हुए। इस प्रकार आधुनिक कन्नड मे सस्कृत के श्रेष्ठ ग्रन्थो के नए अनुवादो की एक परम्परा सी चल पडी।

कन्नड साहित्य को जनता के अधिक निकट लाने वालो मे कथाकार पुट्टण्ण और कवि मुद्दण्ण विशेष प्रसिद्ध हैं। मुद्दण्ण का 'रामाश्वमेध' नामक महाकाव्य कन्नड मे जनतान्त्रिक चेतना का प्रतीक माना जाता है।

१९०० से १९२० तक के काल-खड मे बी० रामाराव आलुर, केरूर और श्री कठय्य जैसे महान साहित्यकार हुए। परन्तु वास्तविक उत्थान-युग १९२१ के असहयोग आन्दोलन के बाद से शुरू हुआ। तब से राष्ट्रीय साहित्य की एक बाढ सी आ गई। अगणित सुन्दर कविताओ, कहानियो और उपन्यासो मे उस युग के बढ़ते हुए देश-प्रेम और स्वातन्त्र्य सग्राम की प्रतिछाया परिलक्षित होती है। इस काल के एक महान साहित्यकार थे मास्ती वैंकटेश आयगार। जैसा स्थान हिन्दी मे मु शी प्रेमचन्द का है, वैसा ही कन्नड मे मास्ती को प्राप्त है। दोनो समकालीन थे। मास्ती को ही आधुनिक कन्नड कहानी का जनक कहा जाता है।

१९३० मे भारतीय साहित्य मे प्रगतिशील आन्दोलन के सूत्रपात से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक, और उसके बाद की सभी राष्ट्रीय घटनाओ की प्रतिछाया कनड साहित्य मे बरावर परिलक्षित होती है। इस काल मे पुट्टप्प ने अपनी 'रामायण' पूरी की, और मास्ती ने 'नवरात्रि' के नाम से अपना कथाचक्र प्रस्तुत किया। यह सारा साहित्य मुख्यत राष्ट्रीय अर्थात् भारत-व्यापी समस्याओ और विचारों पर आधारित है। इसी काल मे कन्नड पर अतर्राष्ट्रीय प्रभाव भी पडे, और उसमे विश्वशाति, अतर्राष्ट्रीय मैत्री और मानव कल्याण के गीत गाए जाने लगे। इस दृष्टि से कन्नड और बगला साहित्य मे बहुत सादृश है।

कन्नड साहित्यकारो म शरीफ साहब जैसे प्राय निराक्षर लोग भी हैं, और कैलासम् जैसे महान विद्वान भी। कन्नड के कुछ साहित्यकार राजनीतिक कार्य-कर्त्ता होने के नाते बहुत ऊँचे पदो पर पहुँचे हैं, जैसे बिहार के भूतपूर्व राज्य-पाल आर० आर० दीवाकर, जिन्होने अँग्रेजी मे बिहार के बृहत इतिहास का सम्पादन कर अतर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त की है।

आज के कन्नड साहित्य मे प्रादेशिक, राष्ट्रीय तथा अतर्राष्ट्रीय ये तीनो दृष्टिकोण विचित्र रूप से सम्मिश्रित और सतुलित मिलते हैं। यदि एक ओर कर्नाटक की कला, सस्कृति, इतिहास और प्राकृतिक सौंदर्य का भावपूर्ण वर्णन है, तो दूसरी ओर भारत माता और राष्ट्रीयता के प्रति अगाध श्रद्धाजली भी है। तीसरी दिशा म वह एक अतर्राष्ट्रीय साहित्य है, जिसम विश्व-कल्याण, शाति और मानवता के साथ-साथ गरीबो और दलितो का चीत्कार तथा क्राति की ध्वनि भी सुनाई पडती है।

अँग्रेजी के साथ दीर्घकालीन सम्पर्क के परिणामस्वरूप कन्नड मे सम्भवत अन्य सब भारतीय भाषाओ से ज्यादा वैज्ञानिक लेखन की प्रेरणा हुई है। आज इस भाषा मे प्राय सभी प्रमुख भौतिक और सामाजिक विषयो पर उत्तम पुस्तकें मिलती हैं। शीघ्र ही जब कर्नाटक के विश्वविद्यालयों म शिक्षा का माध्यम कन्नड हो जाएगा, तब इस क्षेत्र म निस्सदेह और अधिक प्रगति होगी।

त्योहार

कर्नाटक के अधिकतर त्योहार उत्तर-भारत से मिलते-जुलते हैं। इनम दशहरा, जो बगाल की तरह दुर्गा-पूजा के लिए नियत है, सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। मैसूर म दशहरे की एक अलग ही विशेषता है। पुराने मैसूर राज्य म तो इस अवसर पर राजा के ऐश्वर्य और प्रजा के उत्साह का कोई ठिकाना नही रहता था। दुर्गा-चामुडा मैसूर राजवश की इष्ट देवी है। इसलिए विजय-दशमी के दिन राजा की भव्य सवारी निकलती थी। आतिशबाजी, सजावट और दीपमाला तो ऐसी होती थी कि दूर-दूर से लोग उसे देखने के लिए आते थे। आजकल वह देशी राज्यो वाली अगव्ययिता तो नहीं रही, परन्तु मैसूर

नगर में भूतपूर्व राजा और वर्तमान राज्यपाल की सवारी अब भी निकलती है। राजा-राज्यपाल राजकीय पोशाक में सजे हुए हाथी पर आरूढ़ होते हैं, और चमकीली वर्दियाँ पहने और हथियार उठाए हुए महल के कर्मचारियों तथा बैंड बाजों के साथ शोभा-यात्रा चलती है। सायंकाल नियमानुसार दीपमाला और आतिशबाजी होती है। यह सब कुछ आज भी दर्शनीय होता है।

दशहरे के अलावा होली, दीवाली और बैसाखी आदि के त्योहार थोड़े से अंतर के साथ मनाए जाते हैं। कर्नाटक में बैसाखी (नया साल) को 'युगादि' कहते हैं। दक्षिण भारत का सामान्य फसली त्योहार 'पोंगल' भी 'सुग्गकटोद' (फसल कटाई) के नाम से मनाया जाता है। इन त्योहारों के अवसर पर कर्नाटक के एक विशेष नृत्य नाटक का आयोजन किया जाता है, जिसे 'यक्षगान' कहते हैं। यह कथकली से मिलता-जुलता नृत्य है, जिसमें एक दल द्वारा कथोपकथन और दूसरे दल द्वारा नृत्य में भाव-व्यंजना और अभिनय चलता है।

मैसूर में जैनों का एक धार्मिक उत्सव विशेष उल्लेखनीय है। हर पन्द्रहवें वर्ष श्रवण बेलगोल में गोमतेश्वर की ५७ फुट ऊँची मूर्ति को सोने-चाँदी का चढ़ावा चढ़ता है। कई हजार जैन मुनि इस कार्यक्रम में भाग लेते हैं। गोमतेश्वर की इस विशाल मूर्ति के सम्बंध में पौराणिक कथा है कि दसवीं शती में गंग राज्य के मंत्री चामुंडराय ने अपनी अति श्रद्धालु माता की संतुष्टि के लिए इस विशाल मूर्ति का निर्माण कराया था। प्रसिद्ध पुरातत्त्व-विशेषज्ञ फर्गुसन ने इसके सम्बंध में लिखा है —मिस्र देश के बाहर कहीं भी कोई वस्तु इतनी भव्य और प्रभावशाली नहीं है। और मिस्र में भी कोई मूर्ति ऊँचाई में इससे ज्यादा अथवा कलात्मक उत्कृष्टता में इससे श्रेष्ठ नहीं है। गोमतेश्वर की दूसरी मूर्ति मंगलौर से ३१ मील दूर करकल में है, जो मैसूर में जैनों का दूसरा बड़ा तीर्थस्थान है।

खान-पान और वस्त्र

सभी दक्षिण भारतीयों की तरह कन्नड़ी लोगों का भी मुख्य भोजन चावल है। ब्राह्मणों और जैनों को छोड़ कर शेष प्रायः सारी जनसंख्या मांसाहारी है।

कई तरह के जंगली जीवजन्तु और पशु-पक्षी शिकार करके खाए जाते हैं। भोजन के मुख्य प्रकार प्रायः वैसे ही है, जैसे कि दक्षिण में सामान्यतः चलते हैं, परन्तु मछली का प्रयोग कुछ अधिक होता है। कर्नाटक का एक विशेष खाजा चावल की रोटी है। चावल की पीठी को आटे की तरह गूँध कर घी के साथ पराठे से बनाए जाते हैं। इन्हें मुर्गी अथवा सुअर के मांस के साथ बड़े चाव से खाया जाता है। यह वक्कलिग जमीनदारों का प्रिय भोजन है। खाने अधिकतर नारियल अथवा तिल के तेल में पकाए जाते हैं। मछली को भी नारियल के तेल में भूनते हैं। नारियल की गिरी तो प्रायः आधे खानों में पड़ती है। दूध, दही और मक्खन का प्रयोग कम है, यद्यपि कर्नाटक का पशुधन उत्तम कोटि का है।

वस्त्र में धोती प्रधान है, जिसे 'धोतरा' कहते हैं। इसके बाँधने का ढग बड़ी हद तक बगालियों का-सा है। एक छोर को झालर के रूप मे सामने छोड कर दूसरे छोर की लांग लगा लेते हैं। ऊपर के अंग के लिए चादर का प्रयोग होता है, जिसे 'कम्बली' कहते हैं। औपचारिक अवसरो पर लम्बे काले कोट और पगडी का प्रयोग किया जाता है। कर्नाटक की पगडी सहज ही मे पहचानी जा सकती है। यह हमेशा सफ़ेद होती है, और इसमे सुनेहली किनारी लगी रहती है। यह बलवान पुरुषो और सुन्दर युवकों के सिर पर खूब सजती है। मजदूर लोग काम-काज करते समय चमडे की टोपी पहन लेते हैं। अभी कुछ काल पूर्व तक देहात मे कमर से छुरा बाँधने का भी आम रिवाज था।

कर्नाटकी स्त्रियों का वस्त्र बहुत सुन्दर होता है। बहुत छोटी और कसी हुई चोली पर रगीन साडी साधारण तरीके से बाँधी जाती है। बाजू, गर्दन, कमर और पेट खाली रहता है, ऐसे ही जैसे कि आजकल उत्तर-भारत में तथाकथित अति आधुनिक सुन्दरियो ने अपना लिया है। उत्तर कर्नाटक में बहुत सी ब्राह्मण स्त्रियाँ महाराष्ट्री ढग से लांग लगाकर भी साडी बाँधती हैं। आन्ध्र की तरह कर्नाटक मे भी मुँह और बदन पर केसर या हल्दी मल कर रग को पीला करने का रिवाज है। इसके साथ ही एक और विचित्र सजावट दाँतों को काला करने की भी है। जूड़ा बनाने का ढग अवश्य आकर्षक होता है। माथे वालों का गोल गेंद सा बनाकर बाकी बालों की खुली चोटी को उसके

गिर्द लपेट दिया जाता है। यह जूडा सरल भी होता है और सुन्दर भी। जूडे म फूल लगाने का भी बहुत रिवाज है। परन्तु आभूषणो के विषय म बडी भर-मार की जाती है। कानो की बेडौल बालियो और गले मे भारी भरकम हारो के अतिरिक्त नाक की कीलें और नथ तथा हाथ पैरो की उँगलियो म अगणित अगूठियाँ अच्छी-भली स्त्री को कुरूप बना देती है। वैसे इसमे सदेह नही कि दक्षिण मे सबसे ज्यादा आकर्षक स्त्रियो मे कन्नडी हैं।

आकर्षक लोग .

कर्नाटक के लोग बडे सूझ बूझ वाले, मैत्रीपूर्ण और मिलनसार होते हैं। धर्म और रीति रिवाज की दृष्टि से पुरातनवादी होने पर भी भावनाओ की कटुता अथवा विचारो की सकीर्णता उनम बहुत कम दिखाई देती है। जाति, मत, सम्प्रदाय या भाषा को लेकर उग्रता या पक्षाधता का प्रदर्शन करना उनके स्वभाव के विरुद्ध है। वे अन्य भाषा-भाषी लोगो के प्रति लेश मात्र भी विद्वेष-भाव नहीं रखते, यद्यपि उन्हे अपने प्रदेश से अगाध प्रेम और उसकी कला सस्कृति पर विशेष गर्व है।

कई दृष्टियो से पुराना मैसूर राज्य उनके लिए एक वरदान सिद्ध हुआ है। इस देशी राज्य म, जो उनके भाषिक क्षेत्र का एक बडा भाग था, वे एक दीर्घ काल तक अपने प्रगतिशील राजाओ के अधीन प्रत्यक्ष ब्रिटिश शासन, दलीय राजनीति और कूटनीति से बचे रहे। इससे उनके सावजनिक जीवन मे उस प्रकार के आतरिक कलह और सामप्रदायिक असामजस्य का बीजारोपण नही हो पाया, जैसा कि अन्यत्र दिखाई देता है। उनमे सहिष्णुता की मात्रा कुछ अधिक ही है, यद्यपि वे नए विचारो को सहजता स स्वीकार नही करते। व्यवहारिक जीवन म वे साधारणत चिन्ताशील, दूसरो के प्रति उदार, तथा गभीर प्रकृति और व्यापक दृष्टिकोण वाले लोग हैं। कला, साहित्य और ज्ञान विज्ञान की ओर उनके शिक्षित वर्ग का विशेष झुकाव रहता है। उन्होने विविध विषयो म कई उच्च कोटि के विशेषज्ञ, अभियता और आविष्कारक देश को प्रदान किए हैं। शिक्षा, प्रशासन और उद्योग धंधो के क्षेत्रो मे भी वे पर्याप्त उन्नत हैं।

दक्षिण भारत मे बहुत सा व्यापार-वाणिज्य कर्नाटक के लोग करते हैं। उत्तर भारतमे कर्णाटक सगीतके अधिकतर शिक्षण केन्द्र कन्नड़ी सगीतज्ञों द्वारा सगठित और सचालित हैं। इस प्रकार यह विद्या-प्रेमी और कर्मशील लोग व्यवहारिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे शांति और गभीरता के साथ अपना कार्य करते हैं; और यद्यपि छोटी-छोटी बातो मे उलझने, बहस करने और बाल की खाल निकालने की प्रवृत्ति इनमें भी है, परन्तु इसमे सदेह नही कि वर्तमान भारत मे सबसे कम शोर मचाने वाले लोगो मे कन्नडी हैं। इनके सम्पर्क मे आना सतोष और प्रसन्नता का अनुभव कराने वाला है।

तृतीय खंड

पश्चिमी वर्ग

- महाराष्ट्री
- गुजराती
- राजस्थानी
- पंजाबी

महाराष्ट्री

पश्चिमी घाट के साथ-साथ तापती से कृष्णा तक फैले हुए विशाल महाराष्ट्र प्रदेश के मराठी-भाषी निवासियों का नाम है महाराष्ट्री अथवा महाराष्ट्रीय। वर्तमान महाराष्ट्र का समस्त क्षेत्र अभी हाल तक द्विभाषी बम्बई महाप्रांत का अंग था। उसके विघटन पर महाराष्ट्र और गुजरात के अलग-अलग एकभाषी प्रदेशों की स्थापना हुई।

परम्परा के अनुसार नर्मदा से कृष्णा तक और पूर्व में नागपुर गोंडिया तक का त्रिकोण 'महाराष्ट्र' है। नर्मदा और तापती के बीच का संदिग्ध क्षेत्र भी प्रकृति से महाराष्ट्रीय है। महाराष्ट्रियों की धार्मिक क्रियाओं में प्रदेश की इन्हीं सीमाओं का वर्णन किया जाता है। दक्षिणी पठार का अधिकांश भाग इसमें आ जाता है। यह मुख्यतः पर्वतीय प्रदेश है।

महाराष्ट्र, जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट है, महार+राष्ट्र अर्थात् 'बड़ा राज्य' है। परन्तु डा० अम्बेडकर के मतानुसार यह शब्द वास्तव में महा+राष्ट्र' है, अर्थात् जहाँ-जहाँ महार (चमारों की एक जाति) लोग बसे, वह 'महाराष्ट्र' हुआ। यह मत कुछ युक्तिसगत नहीं जान पड़ता। राजवाड़े ने अपने 'महाराष्ट्राचा वसाहतकाल' निबंध में महाराष्ट्रियों की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई है. ईसा पूर्व पाचवीं शती में बौद्ध क्रांति से घबरा कर बहुत से उत्तरी आर्य दक्षिण में चले गए। वहाँ उन्होंने अपने नए राज्य स्थापित किए। इनमें एक बड़ा और शक्तिशाली राज्य महाराष्ट्र कहलाया। यह महाराष्ट्र प्राकृत में, महा-

रट्ट' बना, तथा वहाँ के लोग 'महारट्ठा' कहलाए। यही 'महारट्ठा' शब्द आज का मरहठा अथवा मराठा है। इसी व्याख्या का दूसरा रूप इस प्रकार है कि 'रट्ट' नाम की कोई प्राचीन जाति यहाँ वास करती थी। उत्तर से आर्य लोग वैदिक संस्कृति और संस्कृत भाषा लेकर आए। दोनों के सम्मिश्रण और समन्वय के बाद उनमें जो वंश सत्तारूढ हुए, उन्होंने स्वयं को 'महारट्ठ' अर्थात 'बड़े रट्ट' कहा। उसी से देश का नाम 'महारट्ठ' अथवा महाराष्ट्र पड़ा।

ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों के संस्कृत साहित्य में 'महाराष्ट्र', 'महाराष्ट्रिक' और, एक प्राकृत विशेष के रूप में, 'महाराष्ट्री' के नाम अनेकों बार आते हैं। उस समय महाराष्ट्र के तीन अलग-अलग भाग थे, जिनमें से विदर्भ का नाम पुराणों में भी आया है। अन्य दो भाग थे: गोदावरी की घाटी में स्थित 'अश्मक' अथवा स्यूनदेश और कृष्णा की घाटी में स्थित 'कुन्तल,' जो अब कर्नाटक में है।

२५६ ईसा पूर्व में स्थापित अशोक के एक शिला-लेख में दक्षिणारण्य के पाँच भागों अथवा राष्ट्रों के निम्न नाम मिलते हैं:—राष्ट्रिक अथवा रास्टिक, पेठणिक, अपरांत, आन्ध्र और भोज। राजवाडे का कहना है कि अशोक के शिला-लेख में उल्लेखित 'रास्टिक' ही असल 'रट्ट' अर्थात् महाराष्ट्र के आदि-निवासी थे। उनमें उत्तरी आर्यों का सम्मिश्रण होकर नया राष्ट्र 'महारष्ट्रिक' बना। पहली शती ईस्वी में आन्ध्र के सतवाहन सम्राटों द्वारा निर्मित कही जाने वाली कार्ला गुफा में 'महारठो' और 'महारठिनी' के शब्द अंकित हैं, जिनसे वीर योद्धा और वीरांगना का बोध होता है। जुनार के निकट नाने घाट की गुफा में एक महारट्ठ योद्धा का भित्ति-चित्र आज भी विद्यमान है। छठी शती ईस्वी में हुए प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर ने 'महाराष्ट्र' का उल्लेख किया है, जिसके अन्य रूप 'महारट्ठा' अथवा 'मराठा' हैं। सातवीं शती में चीनी यात्री हुएन-सांग ने इस प्रदेश को 'महोलोच' लिखा है। नवीं शती में हुए संस्कृत और प्राकृत के ग्रंथकार राजशेखर ने 'मरहठी' को स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किया है, और अपनी 'बाल-रामायण' में विदर्भ और महाराष्ट्र को एक ही देश बतलाया है। बाद के भारतीय साहित्य में भी ये सब नाम अनेक रूपों में प्रयुक्त हुए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'महाराष्ट्र' या तो 'महारट्ठ' का मूल है अथवा उस का संस्कृत रूपांतर। कुछ भी हो, इतनी बात निर्विवाद है कि संस्कृत और प्राकृत साहित्य में महाराष्ट्र, महारष्ट्रिक, महारट्ठ, रट्ठ, रट्ठा, राठिका, रास्टिक और राष्ट्रिक आदि के जो विविध शब्द-रूप मिलते हैं, वे सब इसी देश के प्राचीन राजवंशों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अर्थात् 'मरहटा' अथवा 'मराठा' शब्द पुराने 'महारट्ठा' का ही आधुनिक रूप है।

इस प्रकार 'मरहठा' शब्द की उत्पत्ति तो प्रायः निश्चित है, परन्तु इसके प्रयोग में बड़ी गड़बड़ी है। स्वयं महाराष्ट्र में इस नाम का प्रयोग साधारणतः एक सैनिक प्रधान जाति विशेष के लिए होता है, परन्तु महाराष्ट्र के बाहर बहुधा 'मरहठा' और 'महाराष्ट्रीय' को पर्यायवाची भी मान लिया जाता है। यह भ्रमात्मक है। सब महाराष्ट्रीय मरहठे नहीं हैं, और न इस समय सब मरहठे महाराष्ट्रीय ही हैं। महाराष्ट्र सम्बंधी विवेचन करते समय इस भेद को दृष्टिगत रखना आवश्यक है।

इतिहास

वैदिक काल में नर्मदा और विन्ध्याचल के दक्षिण में दक्षिणापथ था, और तापती से गोदावरी तक दंडकारण्य का विशाल जगल फैला हुआ था। तब पश्चिमी घाट के साथ-साथ समुन्नत द्रविड़ों की बस्ती थी। यहाँ उनके अपने राज्य, अनेक किले, बन्दरगाहें और नगर थे। महादेव के रूप में शिव की पूजा, वन देवता पूजा और नाग-पूजा आदि की धार्मिक पद्धतियाँ उनमें प्रचलित थीं। एक हजार वर्ष ईसा पूर्व में बाबुल और मिस्र के साथ उनके व्यापारिक सम्बंध थे। लगभग उसी समय से यहाँ आर्यों का आगमन आरम्भ हुआ। आर्य ऋषियों ने विन्ध्या को लांघ कर यहाँ अपने आश्रम स्थापित किए। वे लोगों को धर्मोपदेश देने लगे। तब से लेकर पाँचवीं शती ईसा पूर्व तक का इतिहास रामायण, महाभारत और पुराणों का सामान्य विषय है। रामायण के अनुसार श्रीराम ने नासिक के निकट पंचवटी में आवास किया था। महाभारत काल में द्वारकाधीश श्री कृष्ण के साथ विदर्भ की राजकुमारी रुकमणी के विवाह का संदर्भ

रट्ठ' बना, तथा वहाँ के लोग 'महारट्ठा' कहलाए। वही 'महारट्ठा' शब्द मा. का मरहठा अथवा मराठा है। इसी व्याख्या का दूसरा रूप इस प्रकार है कि 'रट्ठ' नाम की कोई प्राचीन जाति यहाँ वास करती थी। उत्तर से आर्य लोग वैदिक संस्कृति और संस्कृत भाषा लेकर आए। दोनों के सम्मिश्रण और समन्वय के बाद उनमें जो वंश सत्तारूढ़ हुए, उन्होंने स्वयं को 'महारट्ठा' अर्थात 'बड़े रट्ठ' कहा। उसी से देश का नाम 'महारट्ठ' अथवा महाराष्ट्र पड़ा।

ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों के संस्कृत साहित्य में 'महाराष्ट्र', 'महाराष्ट्रिक' और, एक प्राकृत विशेष के रूप में, 'महाराष्ट्री' के नाम अनेकों बार आते हैं। उस समय महाराष्ट्र के तीन अलग-अलग भाग थे, जिनमें से विदर्भ का नाम पुराणों में भी आया है। अन्य दो भाग थे: गोदावरी की घाटी में स्थित 'अश्मक' अथवा स्यूनदेश और कृष्णा की घाटी में स्थित 'कुन्तल,' जो अब कर्नाटक में है।

२५६ ईसा पूर्व में स्थापित अशोक के एक शिला-लेख में दक्षिणारण्य के पाँच भागों अथवा राष्ट्रों के निम्न नाम मिलते हैं:—राष्ट्रिक अथवा रास्टिकः, पेठणिक, अपरांत, आन्ध्र और भोज। राजवाडे का कहना है कि अशोक के शिला-लेख में उल्लेखित 'रास्टिक' ही असल 'रट्ठ' अर्थात् महाराष्ट्र के आदि-निवासी थे। उनमें उत्तरी आर्यों का सम्मिश्रण होकर नया राष्ट्र 'महारष्ट्रिक' बना। पहली शती ईस्वी में आन्ध्र के सतवाहन सम्राटों द्वारा निर्मित कही जाने वाली कार्ला गुफा में 'महारट्ठी' और 'महारठिनी' के शब्द अंकित हैं, जिनसे वीर योद्धा और वीरांगना का बोध होता है। जुनार के निकट नाने घाट की गुफा में एक महारट्ठ योद्धा का भित्ति-चित्र आज भी विद्यमान है। छठी शती ईस्वी में हुए प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर ने 'महाराष्ट्र' का उल्लेख किया है, जिसके अन्य रूप 'महारट्ठा' अथवा 'मराठा' हैं। सातवीं शती में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इस प्रदेश को 'महोलोच' लिखा है। नवीं शती में हुए संस्कृत और प्राकृत के ग्रंथकार राजशेखर ने 'मरहठी' को स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किया है, और अपनी 'बाल-रामायण' में विदर्भ और महाराष्ट्र को एक ही देश बतलाया है। बाद के भारतीय साहित्य में भी ये सब नाम अनेक रूपों में प्रयुक्त हुए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'महाराष्ट्र' या तो 'महारट्ठ' का मूल है अथवा उस का संस्कृत रूपांतर। कुछ भी हो, इतनी बात निर्विवाद है कि संस्कृत और प्राकृत साहित्य मे महाराष्ट्र, महाराष्ट्रिक, महारट्ठ, रट्ठ, रट्ठा, राठिका, रास्टिक और राष्ट्रिक आदि के जो विविध शब्द-रूप मिलते हैं, वे सब इसी देश के प्राचीन राजवंशो के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अर्थात् 'मरहटा' अथवा 'मराठा' शब्द पुराने 'महारट्ठा' का ही आधुनिक रूप है।

इस प्रकार 'मरहठा' शब्द की उत्पत्ति तो प्राय. निश्चित है, परन्तु इसके प्रयोग मे बडी गडबडी है। स्वय महाराष्ट्र मे इस नाम का प्रयोग साधारणत. एक सैनिक प्रधान जाति विशेष के लिए होता है, परन्तु महाराष्ट्र के बाहर बहुधा 'मरहठा' और 'महाराष्ट्रीय' को पर्यायवाची भी मान लिया जाता है। यह भ्रमात्मक है। सब महाराष्ट्रीय मरहठे नही हैं, और न इस समय सब मरहठे महाराष्ट्रीय ही हैं। महाराष्ट्र सम्बधी विवेचन करते समय इस भेद को दृष्टिगत रखना आवश्यक है।

इतिहास

वैदिक काल मे नर्मदा और विन्ध्याचल के दक्षिण मे दक्षिणापथ था, और तापती से गोदावरी तक दडकारण्य का विशाल जगल फैला हुआ था। तब पश्चिमी घाट के साथ-साथ समुन्नत द्रविडो की बस्ती थी। यहां उनके अपने राज्य, अनेक किले, बन्दरगाह और नगर थे। महादेव के रूप मे शिव की पूजा, यक्ष देवता पूजा और नाग पूजा आदि की धार्मिक पद्धतियाँ उनमे प्रचलित थीं। एक हजार वर्ष ईसा पूर्व मे बाबुल और मिस्र के साथ उनके व्यापारिक सम्बध थे। लगभग उसी समय से यहाँ आर्यों का आगमन आरम्भ हुआ। आर्य ऋषियो ने विन्ध्या को लाघ कर यहां अपने आश्रम स्थापित किए। वे लोगों को धर्मोपदेश देने लगे। तब से लेकर पाँचवी शती ईसा पूर्व तक का इतिहास रामायण, महाभारत और पुराणो का सामान्य विषय है। रामायण के अनुसार श्रीराम ने नासिक के निकट पचवटी म आवास किया था। महाभारत काल मे द्वारकाधीश श्री कृष्ण के साथ विदर्भ की राजकुमारी रुक्मणी के विवाह का सदर्भ

आता है बौद्धकालीन भारत में गोदावरी की घाटी में स्थित 'अश्मक' १६ महाजनपदों में से एक था। उस समय तक समस्त दक्षिण भारत में आर्य सभ्यता फैल चुकी थी, और आर्य द्राविड़ समन्वय से अनेक नए राष्ट्र अस्तित्व में आ गए थे। इनमें एक राष्ट्रिक अथवा रास्टिक था, जिसकी प्रभु-सत्ता वर्तमान महाराष्ट्र में थी। यही लोग आगे चल कर 'रट्ठ' और 'महारट्ठ' कहलाए।

ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ में यह प्रदेश उज्जैन-स्थित मौर्य उपराज के अधीन साम्राज्य का अंग था। अशोक के बाद यहाँ कुछ समय तक उज्जैन का स्वतन्त्र राज्य रहा। परन्तु शीघ्र ही आन्ध्र वंश की सतवाहन शाखा ने यहाँ अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया, और गोदावरी तट पर स्थित प्रतिष्ठान (पैठन) को अपनी राजधानी बनाया। उस युग में पैठण कला-संस्कृति और व्यापार-वाणिज्य का एक प्रमुख केन्द्र था। नासिक, कार्ला, भज, बेड़सा और कन्हेरी की गुफाओं में निर्मित भव्य भित्ति-चित्रों और तत्कालीन सिक्कों आदि से सतवाहन युग की सांस्कृतिक प्रगति और उच्च कला स्तर का पता चलता है।

चौथी पाँचवी शती में मगध और उज्जैन के गुप्त सम्राटों ने दक्षिण के कई राजवंशों, जैसे वकटक, कलचुरी और कदम्ब आदि से अपनी प्रभु-सत्ता स्वीकार कराई। तृतीय गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का राज्य महाराष्ट्र तक विस्तृत था। हूणों द्वारा गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद यहाँ छठी शती के मध्य में चालुक्य नाम से एक नए वंश का अभ्युदय हुआ। यह चालुक्य स्वयं को अयोध्या के सूर्य वंशी बतलाते थे और इतिहास में पूर्व चालुक्यों के नाम से प्रसिद्ध हैं। महाराष्ट्र के ये पूर्व चालुक्य आगे चल कर दो शाखाओं में बँट गए। आन्ध्र पर राज्य करने वाले पूर्वीय चालुक्य (वेंगी) इनके बाद हुए थे। इनके कई प्रतापी राजाओं ने बीजापुर जिले में स्थित वतापी (वादामी) से, जो अब कर्नाटक में है, प्रायः डेढ़ शती तक राज्य किया। सबसे प्रसिद्ध राजा पुलकेशी द्वितीय (६०८ ई०—६४२ ई०) था, जिसने कन्नौज के हर्षवर्धन को परास्त कर उसे नर्मदा के केसी दक्षिण में प्रवेश करने से रोक दिया। चीनी यात्री हुएन सांग पुलकेशी के

दरबार में गया था। उसने चालुक्य राज्य का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। ये पूर्व चालुक्य शिव-पूजक थे, तथा अपनी शक्ति और वैभव के अनुसार अपने नामो के साथ बडी-बडी उपाधियाँ जोडते थे। अजन्ता की गुफा मे अंकित एक चित्र मे पुलकेशी द्वितीय को ईरान के बादशाह खुसरो द्वितीय और मलिका शीरी के साथ दिखाया गया है, जिससे उस काल मे भारत और ईरान के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बधों का पता चलता है।

सतवाहन और चालुक्य के अधीन महाराष्ट्र मे प्राचीन रट्ठो के कुछ वश, जैसे राष्ट्रकूट और बान आदि बहुत शक्तिशाली थे। ७५० ई० के लगभग राष्ट्रकूटो ने चालुक्यों की पश्चिमी शाखा पर विजय प्राप्त कर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। वे २२५ वर्षों (७५०—९७५ ई०) तक समस्त महाराष्ट्र और कर्नाटक के कुछ भाग पर राज्य करते रहे। शोलापुर के निकट मालखेड उनकी राजधानी थी। उनके कुल १४ राजे हुए, जिनमे कृष्ण प्रथम (७६०-७८३ ई०) एक महान भवन निर्माता के नाते सबसे प्रसिद्ध है। ऐलोरा (वरूल) मे पहाडी चट्टानो को कटवाकर जगत-विख्यात कैलाश मदिर, जो हिन्दु कला का एक उत्कृष्टतम और चमत्कारपूर्ण नमूना है, उसी ने बनवाया था। राष्ट्रकूटो को स्थानीय बोली म 'राठौर' भी कहा जाता था। यह नाम आगे चलकर कन्नौज और जोधपुर' के राजपूत शासको ने अपनाया, जो सम्भवतः इसी वश की एक शाखा के रूप मे विकसित हुए। राष्ट्रकूट साम्राज्य के वैभव और ऐश्वरीय से अरब नाविक और सौदागर बहुत प्रभावित होते थे। वे राष्ट्रकूट सम्राट को गलती से बिल्हारा (वल्लभ राजा) के नाम से अभिहित करते थे। सूरत और भडोच आदि मे पारसी शरणार्थियों का आगमन भी इसी युग मे हुआ था।

राष्ट्रकूटो के बाद चालुक्य पुन सत्तारूढ हुए। ये बाद के चालुक्य, जिन्होंने ९७५ से ११८९ ई० तक राज्य किया, इतिहास मे उत्तर चालुक्य, कहलाते हैं। मालखेड और उसके बाद कल्याणी (वर्तमान कर्नाटक) उनकी राजधानी थी। उनके दस बडे राजे हुए। विक्रमादित्य चतुर्थ, जिसने अपना सम्वत् भी जारी किया, सबसे प्रसिद्ध है। उसका प्रधान मंत्री विज्ञानेश्वर, जिसने याज्ञवल्क्य की स्मृति पर 'मिताक्षरा' नामक टीका लिखी, एक महान हिन्दू विधि-

कर्त्ता माना जाता है।

उत्तर चालुक्यों के बाद श्री कृष्ण से सम्बंधित शक्तिशाली यादव वंश ने यहाँ अपनी सत्ता स्थापित की। उन्होंने ११८७ ई० से १२९६ ई० तक देवगिरि से राज्य किया। उनके चार प्रमुख राजे—सिंहन, कृष्णदेव, महादेव और रामदेव कला व साहित्य के आश्रयदाताओं के नाते विशेष प्रसिद्ध हैं। महान गणितज्ञ भास्कराचार्य, प्रतिभाशाली मंत्री हेमाडी और उसका सहयोगी भूपदेव सब इसी युग में हुए। हेमाडी ने अनेक विद्वानो के सहयोग से 'चतुर्वर्ग चिंतमणि' नामक धार्मिक रीतियों का वृहत ग्रंथ बनवाया, तथा आयुर्वेद, नीति शास्त्र और शिष्टाचार पर पुस्तकें लिखवाईं। उसने 'यादव-प्रशस्ति' के नाम से यादव वंश का वृहत इतिहास भी लिखा।

अंतिम यादव राजा रामदेव के राज्य-काल में १३०० के लगभग दिल्ली सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी की सेनाएँ मलिक काफूर के नेतृत्व में देवगिरि पर चढ़ आईं। रामदेव परास्त होकर खिलजी साम्राज्य के अधीन एक सामान्य पदाधिकारी बनने पर बाध्य हुआ। इस प्रकार महाराष्ट्र का शक्तिशाली यादव राज्य अपने अंत को पहुँचा।

१३२५ ई० में दिल्ली सुलतान मौहम्मद तुगलक ने देवगिरि को राजधानी बनाकर उसका नाम दौलताबाद रखा, और कुछ दिनो तक यहाँ दरबार भी किया। परन्तु महाराष्ट्र पर कभी पूर्ण रूप से मुसलमानी आधिपत्य नही हो पाया। भीतरी क्षेत्रो में मरहठा सरदार एक प्रकार से सदैव स्वतंत्र ही रहे। शिवाजी के प्रादुर्भाव तक उनकी नीति मुस्लिम राज-दरबारो में मान-पद प्राप्त करने की रही।

तुगलक वंश के पतन के बाद १३४७ ई० में गुलबरगा में बहमनी साम्राज्य की स्थापना हुई। पन्द्रहवीं शति के अंत में, जब यह दक्षिणी साम्राज्य पांच भागों में विभक्त हो गया, तब बीजापुर और अहमदनगर के दो राज्यो से, जो क्रमशः आदिलशाही और निजामशाही कहलाते थे, मरहठो का विशेष सम्बन्ध था। वास्तव में इन मुस्लिम राज्यों की सारी शक्ति मरहठा सरदारों पर अवलम्बित थी। घाटी और मैदानों में कई किले मरहठों के हाथ में थे। उन्हीं

में एक सरदार थे शिवाजी के पिता शाहजी भोसला।

शिवाजी की वीर-गाथा भारतीय इतिहास का एक ऐसा सुविदित अंग है कि यहाँ उसकी सविस्तार पुनरावृत्ति की कोई विशेष आवश्यकता अनुभव नहीं होती। केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि उन्होंने मुसलमानी युग में पहली बार हिन्दुओं में साधारणतः और मरहठों में विशेषतः राजनीतिक अर्थों में हिन्दुत्व और राष्ट्रीयता की भावना जागृत की, और महाराष्ट्रीय शक्ति को एकत्रित करके अपने समय में एक ऐसे सुदृढ और सुव्यवस्थित स्वराज्य की स्थापना की, कि यदि उनके उत्तराधिकारी उसे सुचारु रूप से चला सकते, तो भारतीय इतिहास की रूप-रेखा ही कुछ और होती।

शिवाजी के बाद का इतिहास भारत में मरहठा साम्राज्य के उत्थान और पतन का इतिहास है। मरहठा राज्य की बाग-डोर पेशवाओं के हाथ में आने के बाद एक बार तो लगभग सारा ही भारत मराहठों के अधीन हो गया। द्वितीय पेशवा बाजीराव प्रथम के शासन-काल में मरहठा साम्राज्य का भगवा झंडा अटक से कटक तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक लहराने लगा। 'दिल्ली भई दुल्हिन शहर सितारे की' की प्रसिद्ध लोकोक्ति उसी काल में प्रचलित हुई, क्योंकि तब दिल्ली सम्राट तक मरहठों की कठपुतली था। परन्तु अभाग्य से १७६१ ई० के पानीपत संग्राम में अफगान बादशाह अहमदशाह अब्दाली के हाथों पराजय के बाद मरहठा संघ के सदस्य राज्य एक एक करके अंग्रेजों के जाल में फँसते गए। यहाँ तक कि अंतिम पेशवा बाजीराव द्वितीय पेंशन लेकर कानपुर के निकट बिठूर में जा बैठे, और महाराष्ट्र में मरहठा सरदारों की कुछ जागीरें तथा उसके बाहर ग्वालियर, इन्दौर और बड़ौदा की तीन मरहठा रियासतें अंग्रेजों के अधीन शेष रह गईं।

मरहठा साम्राज्य के पतन के बाद १८५७ के सिपाही विद्रोह में नाना साहब पेशवा, तात्या टोपे और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने सशस्त्र क्रांति और पुनरुत्थान का बहुत बड़ा प्रयत्न किया। स्वयं महाराष्ट्र में अंग्रेजों के विरुद्ध कई विद्रोह व्यक्तिगत क्रांतिकारियों ने किए, जिनमें वसुदेव, बलवंत फाड़के का नाम विशेष प्रसिद्ध है। वास्तव में भारत में क्रांतिकारी आतंकवाद

का सूत्रपात महाराष्ट्र से ही हुआ, जब १८९७ मे महारानी विक्टोरिया की रजत-जयती के अवसर पर पूना मे दो अँग्रेज अफसरो का वध कर दिया गया।

बीसवी शती मे भारत की स्वाधीनता की ध्वनि भी सबसे पहले महाराष्ट्र से उठी, जब लोकमान्य तिलक ने 'स्वतन्त्रता मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है' का ऐतिहासिक नारा बुलन्द किया। गोखले, तिलक और सावरकर अपने-अपने समय मे समस्त भारत के शिरोमणि बने। गुप्त क्रातिकारियो की परम्परा मे भी भगतसिंह के साथी राजगुरु तक अनेक नाम मिलते हैं। वामपक्षियो की तो कोई गणना ही नही है। उनमे डांगे और मिरजकर जैसे मजदूर नेता अतर्राष्ट्रीय महत्व रखते हैं। पृथक महाराष्ट्र प्रदेश की स्थापना के प्रयत्नों मे इन वामपक्षी नेताओ का विशेष योग रहा है। महाराष्ट्र का भविष्य भी बडी हद तक इन्ही पर निर्भर है।

जाति और समाज

महाराष्ट्रियो मे मरहठे सर्वप्रधान हैं। उनका विकास जैसा कि पीछे सकेत किया गया, किसी एक जाति विशेष से न होकर अनेक जातियो के सम्मिश्रण से हुआ है। मूलत वे उत्तरी आर्यों और पश्चिमी घाट के प्राचीन द्राविड निवासियो के श्रेष्ठतम तत्वो के सम्मिश्रण से अस्तित्व मे आए हैं, परन्तु वर्तमान मरहठो में राजपूत, गूजर और अहीर जैसी बाद की जातियो का मिश्रण भी बहुत है। इस जातीय आधार पर इनके तीन बडे वर्ग माने जाते हैं असल मरहठा, कुण्बी और कोकणी। असल मरहठे जो २० प्रतिशत से ज्यादा नहीं हैं, स्वय को प्रमुख क्षत्रिय वशों की सतति-क्रम में बतलाते हैं, जबकि अन्य दो वर्गों से मरहठा जाति का तथाकथित निम्न समुदाय निर्मित है। उच्च मरहठे महाराष्ट्र के परम्परित जमींदार, सामत और शासक हैं, जबकि तथाकथित निम्न मरहठों मे साधारण कृषक, गडरिए, सेवक और सिपाही आदि हैं। इनके बीच सामान्यतः शादी-ब्याह के सम्बध नहीं होते। परन्तु, जैसा कि सभी जाति-समूहो मे हुआ है, धन-समृद्धि और पद-प्रतिष्ठा से यह बाधा दूर हो जाती है। तब तथाकथित निम्न वर्ग के मराठे भी स्वय को क्षत्रिय कहने लगते हैं, और असल मरहठा की भाँति

जनेऊ आदि धारण कर लेते हैं। अवश्य आजकल शिक्षित वर्ग मे इस भेद-भाव का कोई विशेष महत्त्व नही रह गया है। मरहठो के उपजाति नाम अधिकतर 'स्थान' से सम्बद्ध हैं। जैसे वेलगाँवकर, खाडिलकर, आगरकर आदि। इसलिए एक ही स्थान के विभिन्न लोगो मे सामाजिक अतर का पता नही चलता। कई उपजाति नामो से आर्य-राजपूत अथवा द्राविड होने का सकेत अवश्य मिलता है।

मरहठो मे अनेक राजवश हुए हैं। प्राचीन महारट्ठा, मौर्य, सेंद्रक और यादव आदि के अलावा कर्नाटक के कदम्ब और होयसल, कोलाहपुर के सिलहार, विदर्भ के वक्कच्छ, वारगल के काकतीय और सागर के वल्लाल आदि के नाम-लेवा महाराष्ट्र मे मिलते हैं। राजपूतो मे राठोर और चालुक्य भी मूल से महाराष्ट्रीय हैं। मुसलमानी युग के प्रारम्भ से उल्टा क्रम आरम्भ हुआ। तब अनेक राजपूत शाखाओ ने नए-नए मरहठा वशो को जन्म दिया। वर्तमान मरहठो मे ९६ अलग-अलग वश माने जाते हैं, जिनमे कुछ प्राचीन राज-वशो से हैं, और कुछ मध्ययुगीन राजपूत वशो से। महाराष्ट्र मे आने वाले प्राय सभी राजपूतो ने मरहठा नाम धारण किए और मरहठो के प्रमुख बने। यही लोग अब स्वय को राजपूत-वशीय असल मरहठा कहलाते हैं। ये धर्म-कर्म और रहन-सहन की दृष्टि से महाराष्ट्र का क्षत्रिय वर्ग हैं। भोसला, घोरपदे, मोहिते, महाडिक, सावन्त, घाटके, माने, फाडके, दाफले, तथा मवाल के विभिन्न देशमुख सब अपना सम्बन्ध मध्य युगीन राजपूत वशो से जोडते है। इसमे सदेह नही कि उच्च वर्गीय मरहठो मे बहुत-सा राजपूत सम्मिश्रण है, परन्तु आधारभूत रूप से मरहठे एक अलग ही जाति-समूह हैं। रग-रूप और आकृति की दृष्टि से एक औसत मरहठा और राजपूत मे बहुत कम सदृश है। औसत मरहठा साँवला, नाटा, गठा हुआ, उभरे हुए ओठ, बडी-बडी गोल आँखें, और कुछ छोटी नाक वाला होता है। यह राजपूत आकृति से भिन्न है।

महाराष्ट्रीय समाज मे हिन्दू वर्ग-व्यवस्था के अतर्गत मरहठो का स्थान प्राय बीच का है। उनके एक ओर सामाजिक दृष्टि से उच्चतर, ब्राह्मण हैं, और दूसरी ओर विशाल दलित वर्ग है। महाराष्ट्र मे तथाकथित दलितो की सख्या ३० प्रतिशत से भी अधिक है। इनमे अनेक अभिसूचित अवर्ण हिन्दू

जातियाँ, भील आदि जन-जातियाँ और अन्य पिछड़े वर्ग सम्मिलित हैं।

महाराष्ट्रीय ब्राह्मण, जो पेशवा-राज के कारण कभी-कभी 'मरहठा ब्राह्मण' भी कहे जाते हैं, देश की श्रेष्ठतम ब्राह्मण जातियो मे से हैं। यह अति प्राचीन काल से यहाँ रहते आ रहे हैं। इनमे गौड और द्रविण दोनो ही विभागो के गोत्र चलते हैं। द्रविणों मे 'महाराष्ट्री' सम्भवत. स्थानीय ब्राह्मण हैं, और 'चितपावन' प्रथम श्रेणी के माने जाते हैं। महाराष्ट्रीय ब्राह्मणो मे बहुत प्राचीन काल से ही राज-कार्य मे भाग लेने की विशेष प्रवृत्ति रही है। यहाँ तक कि मुसलमानी युग मे भी यह परम्परा बराबर बनी रही। निजाम शाही, आदिल-शाही आदि मुसलमानी राज्यो के अधिकतर सरदार और सामत मरहठे थे, तो मत्री और नियत्रक ब्राह्मण थे। कहते हैं कि पूर्ववर्ती बहमनी साम्राज्य का सस्थापक स्वय एक नव मुस्लिम ब्राह्मण था, इसी से 'बहमनी' नाम पडा। मरहठा युग मे ब्राह्मणो की राजनीतिक स्थिति को और अधिक बल मिला, जबकि शिवाजी ने अपने अष्ट-प्रधान मंत्री-मडल मे सेनापति को छोड कर शेष सब सदस्य ब्राह्मण नियुक्त किए। आगे चलकर मरहठा साम्राज्य की राज्य सत्ता ही पेशवा कहलाने वाले ब्राह्मण प्रधान मत्रियो के साथ मे आ गई, जो स्वय राजा बन ैठे। इस प्रकार मरहठो के, और एक प्रकार से भारत के, आखरी चक्रवर्ती राजे ब्राह्मण थे। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन मे भी महाराष्ट्र की ओर से तिलक और सावरकर जैसे उग्र नेताओ का प्रादुर्भाव सयोग मात्र नहीं था। उसके पीछे महाराष्ट्रीय ब्राह्मणो की राजकीय परम्पराएँ ही क्रियाशील थी। अधिक विस्तार मे न जाकर केवल इतना ही कहना पर्याप्ति है कि वर्तमान भारत के सबसे अनुभवी राजनीतिज्ञों मे महाराष्ट्रीय ब्राह्मण हैं।

आर्थिक ढाँचे की दृष्टि से आज का महाराष्ट्रीय समाज कृषि-प्रधान, श्रम-प्रधान और बुद्धि-प्रधान है। मरहठा साम्राज्य के पतन के बाद से मरहठो ने साधारणत कृषि का धधा, और ब्राह्मणो ने आधुनिक वृत्तियाँ और सरकारी नौकरी का मार्ग अपनाया। ब्रिटिश युग मे सैन्य सेवा भी मरहठों की आजीविका का एक बडा साधन थी, परन्तु आजकल की भारतीय सेनाओ मे मरहठा अश कुछ अधिक नहीं रहा है। इस प्रकार कृषि और शारीरिक अथवा बौद्धिक श्रम ही

आज के महाराष्ट्रियों की जीविका का मुख्य आधार है। व्यापार-वाणिज्य की ओर वे बहुत कम प्रवृत्त हुए। परिणामस्वरूप उनका भूमिहीन वर्ग, जो निरंतर वृद्धि ही पाता रहा, मिलों के लिए श्रम-प्रदाय का स्रोत बन गया। ये मिलें अधिकतर गुजरातियों की थीं, अथवा मारवाड़ियों की। इस प्रकार वर्तमान युग में मरहठा और गुजराती के बीच श्रम और पूंजी का सम्बंध स्थापित हुआ। इस सम्बंध के जो सामाजिक, राजनीतिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़े, उन का विवेचन महाराष्ट्रीय चरित्र के अंतर्गत करना ही अधिक उपयुक्त होगा।

धर्म और त्योहार—

महाराष्ट्रीय जनता समस्त भारत में सम्भवतः सब से ज्यादा कट्टर हिन्दू है—राजनीतिक अर्थों में। परन्तु यह एक अलग ही विषय है। सामान्यतः इनका धर्म अन्य हिन्दुओं की भांति अनेक देवी-देवताओं के गिर्द घूमता है, अथवा संत-पुरुषों के। इसके अलावा प्राचीन वन-देवता पूजा, नाग-पूजा और प्रेतात्मा-पूजा की अनार्य पद्धतियां भी प्रचलित हैं। पौराणिक देवताओं में गणपति सर्वोपरि हैं। यह एक प्रकार से महाराष्ट्र के राष्ट्रीय इष्ट-देव हैं। गणेशोत्सव महाराष्ट्र का सबसे बड़ा देशीय त्योहार है। भाद्रपद में पूरे दस दिन तक यह बड़े ज़ोरों से मनाया जाता है। इसका प्रारम्भ शोभायात्रा के साथ होता है, जबकि प्रतिमा स्थापित की जाती है। दस दिन तक पूजा चलती है, जिसके साथ-साथ भजन कीर्तन, संगीत, व्याख्यान, भाषण, नाटक, सम्मेलन, खेल, रंगोली कला और शस्त्र-विद्या के प्रदर्शन का विस्तृत कार्यक्रम रहता है। अंत में विसर्जन की भव्य शोभायात्रा निकलती है, और समुद्र अथवा नदी में प्रतिमा का प्रवाह किया जाता है। गणेश पेशवाओं के इष्ट-देव थे। इसलिए पेशवाओं ने इस त्योहार को विशेष प्रोत्साहन दिया और यह प्रमुखतम राजकीय त्योहार के रूप में बड़े ठाट-बाट के साथ मनाया जाने लगा। स्वतन्त्रता-आन्दोलन के दिनों में लोकमान्य तिलक ने इसको राष्ट्रीय जागरण का माध्यम बनाया, यहां तक कि ब्रिटिश सरकार को एक समय इसके कार्यक्रम के कई मुद्दों पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा था।

अन्य देवताओ मे जिनकी पूजा महाराष्ट्र मे होती है, शिव-प्रधान हैं। १२ ज्योतिर्लिगो मे से ५ महाराष्ट्र मे हैं। परन्तु लोक-धर्म के रूप मे शिव और विष्णु के समन्वय से 'हरिहर' की पूजा अधिक प्रचलित है। वहिरोवा के नाम से वीरभद्र और भैरव के स्थान गाँव-गाँव मे मिलते हैं। अकेले विष्णु की पूजा विट्ठल के नाम से होती है। पढरपुर मे विठोवा का मदिर प्रसिद्ध ही है।

महाराष्ट्र के एक विशिष्ट देवता हैं दत्तात्रेय। गह वैसे तो एक पौराणिक ऋषि हैं, परन्तु विष्णु के अवतार माने जाते हैं। त्रिमूर्त्ति की तरह इनके भी तीन मुँह हैं। औंडुवार, गगापुर और नरसोवाची वाडी मे इनके प्रसिद्ध देवालय हैं। एक और देवता, जो क्षत्रिय मराठो के निकट विशेष पूजनीय है, जेजूरी का 'खडोवा' है। यहाँ वास्तव मे शिव की ही पूजा होती है। इस मदिर में दक्षिण की देवदासियो की भाँति कुमारियाँ चढाने की प्रथा भी रही है, उन्हे 'मुरली' कहते हैं।

महाराष्ट्र में सत-परम्परा वरावर दिखाई देती है। सतो की अटूट शृखला तेरहवी शती के उत्तरार्द्ध मे चक्रधर के महानुभाव सम्प्रदाए से शुरू होकर एक प्रकार से वर्तमान युग मे विनोवा भावे और महर्षि कर्वे तक चली आई है। १३ वी शती मे ज्ञानेश्वर (ज्ञानोवा) हुए, जिनका प्रभाव महाराष्ट्री जीवन, साहित्य और सस्कृति पर व्यापक रूप से पडा। नाथ पथियो मे उनकी परम्परा प्रसिद्ध है। उनके वाद चौदहवी शती के मध्य तक नामदेव रहे। सोलहवी शती मे एकनाथ हुए। सत्रहवी शती के पूर्वार्द्ध मे तुकाराम और उत्तरार्द्ध मे रामदास का प्रभाव रहा। रामदास शिवाजी के समकालीन थे। उन्होने रामदासी पथ चलाया। इन सव सतो ने अपने अपने समय मे वैदिक कर्म-काड के विरुद्ध विद्रोह किया तथा नई विचार-धाराओ को जन्म दिया। परन्तु ये सत मुख्यतः कवि थे, इसलिए उनका उचित स्थान साहित्य मे है।

महाराष्ट्र के धार्मिक त्योहारो म गणेशोत्सव के अलावा नवरात्रि, राम-नवमी, दत्त-जयती, हनुमत-जयती, नृसिह-जयती और दूसरे हिन्दू त्योहार हैं। नववर्ष के प्रारम्भ मे 'गुडीपाडवा' के नाम से वार्षिक त्योहार मनाया जाता है। राष्ट्रीय त्योहारो मे शिवाजी का जन्मोत्सव विशेष महत्व रखता है। यह पहले

अप्रैल मे सभा-सम्मेलनो के रूप मे मनाया जाता था, परन्तु अब सरकारी स्तर पर १ मई तक महाराष्ट्र स्थापना-दिवस के साथ मनाया जाने लगा है।

खेल-तमाशे और लोक-कला

मिले-जुले राष्ट्रीय-धार्मिक मेले महाराष्ट्र की विशेषता हैं। ऐसे अवसरो पर देहात के सीधे-सादे लोग शिवाजी का भगवा झडा लेकर ज्ञानोबा और तुकाराम की जय-जयकार करते हुए लम्बे-लम्बे जुलूसों मे चलते हैं। साथ मे स्त्रियो से भरे हुए छकडे होते हैं। मेलो मे नाना प्रकार के खेल-तमाशे, दौड, करतब और कुश्ती का कार्यक्रम रहता है। मराठे जन्म से उत्तम खिलाडी और करतबबाज हैं। हलके छकडों की दौड महाराष्ट्र की एक प्रिय क्रीडा है, जिस मे भाग लेना कमजोर दिल वालो का काम नहीं। एक दूसरा खेल, जो एक प्रकार की कसरत अथवा करतब है, खम्बे पर चढ़ने की प्रसिद्ध मराठी कला 'मलखाम्ब' है। अखाडे मे काफी ऊँचा और मोटी लकडी का गोल खम्बा गडा रहता है, जिस पर नगे बदन तरुण करतबबाज झट-पट चढ जाते हैं, और उसके सहारे अथवा चोटी पर नाना प्रकार के करतब दिखाते हैं। यह खेल या कसरत शरीर को पुष्ट, सुगठित और लचवीला बनाने के लिए बहुत उपयोगी है, और सदेह नहीं कि मराठे ग्रामीण ऐसे ही होते हैं।

महाराष्ट्र मे सगीत-नाटक को 'तमाशा' कहते हैं। मरहठा काल मे सैनिको का मनोरजन तथा उनमे साहस और उत्साह बनाए रखना इसका मूल उद्देश्य था। बाद मे ये अश्लीलता का प्रदर्शन मात्र रह गए। आजकल इनके माध्यम से सामुहिक विकास का प्रचार-कार्य किया जा रहा है। विशुद्ध नृत्य-नाटक के क्षेत्र मे 'दशावतार' या 'बोहडा' महाराष्ट्र की अपनी राम-लीला है। इसमें राम-रावण युद्ध से लेकर दलीय राजनीति तक सभी कुछ आ जाता है।

महाराष्ट्र के अधिकतर लोक-नृत्य व्यायाम अथवा सैन्य अभ्यास का रूप रखते हैं। आधुनिक शिक्षालायो में 'लेजम्' के नाम से बच्चो की जो कसरत प्रचलित है, वह मूलत. महाराष्ट्र का एक लोक-नृत्य है। सम्भवत. यह धनुष चलाने का अभ्यास कराने वाले किसी प्राचीन युद्ध-नृत्य का अवशेष है। इसी

प्रकार गोकुलाष्टमी से अगले दिन तरुण करतब वाजो के दल 'गोविन्द' के ना
लगाते हुए घर घर घूमते हैं, और सरकस वालो की तरह एक-दूसरे के कधे
पर खड़े हो कर काफी ऊँचाई पर लटकाई हुई दही की हाँडी 'तुरान' की क्रिया
करते हैं। इसे 'दहीकला अथवा 'दही हाँडी' कहते हैं। लडकियो मे वाह जोड़
कर चक्कर लगाने का एक खेल या नृत्य प्रचलित है, जो 'फुगडी' कहलाता है।

भाषा और साहित्य

सस्कृत की क्षेत्रीय प्राकृतो म महाराष्ट्री सर्वश्रेष्ठ थी। अपने युग म वह चम्बल की घाटी से लेकर कृष्णा और तुगभद्रा तक के समस्त पश्चिमी देश की साहित्यिक भाषा के पद पर आसीन रही थी। उसी महाराष्ट्री के अपभ्रश का आधुनिकतम रूप है मराठी, जो आज ढाई करोड महाराष्ट्रियो की भाषा है। मराठी बोलने वालों की सख्या भारत म तीसरे नम्बर पर है। स्वय 'मराठी' शब्द 'महाराष्ट्री' का ही अपभ्रश है। 'महाराष्ट्री' से 'मरहठी' और फिर 'मराठी' बना है। यह एक उत्तम आर्य भाषा है, परन्तु अपने निकटवर्ती अन्य आधुनिक आर्य भाषाओ, जैसे गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी आदि से बहुत कुछ भिन्न है। डा० ग्रियसन के मतानुसार बहिरग प्राकृतों में सम्भवत विन्ध्या की बाधा के कारण, महाराष्ट्री सबसे स्वतत्र थी। आज की मराठी में भी देशज शब्दों की भरमार है। परन्तु उच्च साहित्यिक स्तर पर तत्सम और तद्भव शब्दों का अनुपात ८० प्रतिशत से भी अधिक हो जाता है। इसके विपरीत फारसी और अरबी शब्द बहुत कम हैं। जो आ गए थे, उन्ह भी शिवाजी और पेशवाओं ने निकाल दिया। तभी से मराठी सस्कृत प्रचुर चली आ रही है।

मराठी की साधारणत तीन बोलियाँ मानी जाती हैं देशी, कोकणी और वराडी। पूना के आस पास की भाषा टकसाली और साहित्यिक है। कोकणी गोआ के निकटवर्ती क्षेत्र मे बोली जाती है, और वराडी बेरार अथवा वदर्भ की बोली है। इस पर हिन्दी का प्रभाव है। वास्तव मे 'कोंकणी' ही मराठी की एक मात्र विशप बोली है और इसमें कुछ ईसाई धार्मिक साहित्य भी मिलता है।

मराठी भाषा देवनागरी लिपि में लिखी जाती है, जिसे महाराष्ट्र में 'बाल-बोध', अर्थात 'सहजता से समझ में आने वाली' कहते हैं। मरहठा युग में सरकारी काम-काज के लिए देवनागरी का एक परिवर्तित रूप प्रयुक्त किया जाता था, जिसे 'मोडी' कहते हैं। इस लिपि में पूरे शब्द को अंग्रेजी की तरह कलम उठाए बिना लिखा जा सकता है। महाजनों की 'मुन्डी हिन्दी' सम्भवतः इसी से निकली है।

मूल महाराष्ट्री में बहुत सा काव्य-साहित्य उपलब्ध है। कई नाटक और जैन धर्म के ग्रन्थ इस में मिलते हैं। कहा जाता है कि संस्कृत नाटकों में स्त्रियों और निम्न पात्रों के मुख से जो प्राकृत संवाद कहलवाए गए हैं, वे महाराष्ट्री में है। ऐसा लगता है कि वर्तमान मराठी ८०० से १००० ई० के बीच महाराष्ट्र के जन साधारण की भाषा बनी। इस दृष्टि से मराठी भाषा एक हजार वर्ष से कुछ अधिक पुरानी है।

परन्तु मराठी साहित्य का क्रमबद्ध विकास दो सौ वर्ष बाद १२ वी शती में आरम्भ हुआ, जब मराठी के आदि कवि मुकुन्दराज ने 'विवेक-सिंधु' जन-साधारण की भाषा में लिख कर संत परम्परा के साथ साथ मराठी साहित्य का श्रीगणेश किया। उसी समय धार्मिक वैष्णवमत प्रचार के लिए रामानुजचार्य ने भी मराठी का उपयोग किया। इसके बाद बारहवीं-तेरहवी शती में गुजरात के चक्रधर ने कृष्णभक्ति की महानुभाव शाखा की नींव रखी, और जनसाधारण की ठेठ मराठी में विशाल साहित्य निर्मित किया। मराठी का सर्वप्रथम गद्यकार भी चक्रधर ही था। उसके उपदेश 'सिद्धांत सूत्र पाठ' नामक ग्रन्थ में संकलित हैं, जो महानुभाव सम्प्रदाए का पवित्र ग्रन्थ है। उस का दूसरा ग्रंथ 'लीला चरित्र' है। ये दोनो बिल्कुल मूल रूप में सुरक्षित हैं, क्योंकि इन्हे १२ विभिन्न संकेत लिपियों में लिखवा कर रखा गया था।

मराठी के पहले महाकवि ज्ञानदेव थे, जो ज्ञानेश्वर (ज्ञानेबा) के नाम से महाराष्ट्रीय जनता के निकट देवतास्वरूप पूज्य हैं। उन्होने 'भावार्थ दीपिका' के नाम से भागवत गीता पर अपनी प्रसिद्ध टीका अंतिम यादव राजा रामदेव के राज्य-काल में १२९० ई० में सम्पन्न की। इसे मराठी का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना

जाता है, और इसीलिए मराठी साहित्य का इतिहास साधारणतः ज्ञानेश्वर से शुरू किया जाता है । उसी युग के दूसरे संत-कवि नाम देव हुए, जिन की वाणी सिखों के आदि ग्रंथ गुरु ग्रंथ साहब में भी मिलती है । इससे अगले युग में एकनाथ, उसके प्रपौत्र मक्तेश्वर और तुकाराम महान कवि हुए । एकनाथ ने पूरी रामायण और भागवत मराठी पद्य में लिखी । मुक्तेश्वर ने महाभारत का रूपांतर किया और तुकाराम ने 'अभंग' (अखंड भजन)की रचना की । मराठी में हरिभक्त संत तुकाराम का वही स्थान है, जो हिन्दी में भक्त कबीर का है । तीसरे युग में समर्थ रामदास हुए, जो शिवाजी के गुरु थे । उनका 'दास बोध' धार्मिक कार्यों पर सर्वोत्तम ग्रन्थ माना जाता है ।

बाद की दो शताब्दियों में संत परम्परा के साथ-साथ रीतिकालीन काव्य की धारा अधिक प्रबल रही । सत्रहवीं शती में वामन पंडित और रघुनाथ तथा १८ वीं शती में मोरोपंत (म्युर) और महिपति आदि ने एक ओर संत तुकाराम का अनुसरण किया, और दूसरी ओर पेशवाई दरबार के लिए पांडित्यपूर्ण शैली में कृत्रिम कविता की । इस युग में वीर रस युक्त पोवाड़े और शृंगारिक 'लावणियाँ' उर्दू-फारसी ढंग पर मुशायरों में पढ़ी जाती थी । इनके लिखने वालों को 'शाहीर' कहा जाता था । इन शाहीरों में रामजोशी, प्रभाकर, मुसल्मान कवि सगनभाऊ और होनाजी बाला आदि पेशवाई काल में बहुत प्रसिद्ध हुए ।

गद्य बहुत बाद में विकसित हुआ । महानुभावों ने कुछ गद्य लिखा था । बाद में मरहठा दरबार के वृत्तांत लेखकों, ऐतिहासिक डायरी और पत्र-लेखकों ने कुछ सामायिक गद्य रचना की । परन्तु गद्य का वास्तविक विकास १९वीं शती में अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव और छापाखाने की स्थापना से ही शुरू हुआ । मराठी का पहला उपन्यास बाबा पदमन जी का 'यमुना पर्यटन' १८५७ में लिखा गया । इसका उद्देश्य समाज-सुधार था । उसी साल में विष्णुशास्त्री चिपलुणकर की 'निबन्ध-माला' निकली । पहला नाटक इससे भी पहले १८४३ में विष्णुदास भावे ने लिखा और खेला था ।

आधुनिक मराठी साहित्य का प्रारम्भ १८८५ में केशवसुत की पहली

कविता और हरिनारायण आपटे के पहले उपन्यास 'मधली स्थिति' के प्रकाशन से माना जाता है। ये दोनो साहित्य मे आधुनिकता के अग्रदूत थे।

मराठी साहित्य का एक महत्वपूर्ण अग उसका निबध साहित्य है। तिलक का 'गीता-रहस्य', जो उन्होंने माडले जेल में छः वर्षीय कारावास के दौरान मे लिखा। अपने विषय मे एक उत्तम रचना है। उनकी परम्परा मे पराजपे और सावरकर आदि की कई पुस्तकें ब्रिटिश सरकार ने जब्त की। सावरकर की महान कृति 'भारत का प्रथम स्वातत्र्य-सग्राम' तो प्रसिद्ध ही है, जिस पर से प्रतिबध १९४७ मे स्वतत्रता-प्राप्ति के बाद ही उठाया गया।

कविता के क्षेत्र मे केशवसुत से स्फूर्ति ग्रहण करने वालों मे वामन तिलक, विनायक, रामगणेश गडकरी और बालकवि आदि प्रमुख हैं। उनके बाद 'बी'—नारायण गुप्ते, चन्द्रशेखर और विशेषकर भास्कर रामचन्द्र तावे ने बडी लोकप्रियता प्राप्त की। १९२० के बाद के प्राय. सभी कवि उनका अनुकरण करने लगे। अति आधुनिक कवियो मे देशपाडे 'अनिल' और शिरवाडकर 'कुसुमाग्रज' विशेष प्रसिद्ध हुए। १९२६ के बाद के दो प्रसिद्ध उपन्यासकार, जो कहानी-लेखक, निबधकार और आलोचक भी थे, प्रोफेसर फडके और खाडेकर हैं। अन्य लेखको मे लेखिका विभावरी शिरूरकर, कवि मर्देकर, कहानी लेखक गगाधर गडगिल, अरविंद गोखले और माडगुलकर आदि गणनीय हैं। नाटक मे अत्रे और रागणेकर, इतिहास मे राजवाडे, सर देसाई और पोतदार और दर्शन मे विनोबा भावे और रानाडे के नाम विशेष हैं। इसी प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में सैंकडो नाम हैं, जिनकी गणना करना कठिन है। वास्तव मे मराठी साहित्य इस समय विकसित, पुष्ट और समृद्ध है कि उसे दुनिया के किसी भी साहित्य के मुकाबले पर रखा जा सकता है।

वस्त्र और भोजन

महाराष्ट्र मे पुरुषो के वस्त्र की कोई विशेषता नही है। धोती-कुर्ते का प्रयोग आम है। देहात मे धोती के साथ चुस्त आस्तीनो वाला कुर्ता अथवा आधे आस्तीनो वाली फतुई पहनी जाती है। यहाँ की पगडी अवश्य अपनी अलग विशेषता रखती है। किसान की पगडी बहुत बडी और भारी भरकम

होती है। शहरो मे साधारणत गोल काली टोपी का रिवाज रहा है, जिसे उत्तर-भारत मे 'हिन्दू टोपी' कहा जाता है। उत्तर म तो इस टोपी का रिवाज अब उठ सा गया है, परन्तु महाराष्ट्र मे यह अब भी चलती है।

कहते हैं कि कधे पर बन्द होने वाला कुर्ता और कुर्ते के गले म किनारी का प्रयोग महाराष्ट्रीय पुरुषो का खास फैशन है, जिसे अन्य प्रदेशो मे कवियों और कलाकारों ने विशेष रूप से अपनाया है। महाराष्ट्र म कुर्ते का ही अधिक रिवाज है, धोती के साथ अग्रेजी कमीज, जो बगाल म शहरी जनता का सामान्य वस्त्र है, महाराष्ट्र मे ज्यादा दिखाई नही देती।

दरबारी वस्त्र के रूप मे धोती अथवा चूडीदार पायजामे के साथ घुटनो से नीचे तक का लम्बा अगरखा और कई प्रकार की बधी-बधाई पगडियाँ, मरहठा सरदारो से सम्बद्ध रही हैं। मरहठा पगडियाँ गोल, त्रिकोण, चौकोर, शकुरूप, घेरेदार और चुचदार अनेक प्रकार की होती थी। इन सब का अतिम विकास आधुनिक काल की गोल टोपीनुमा शकुरूप पगडी म दिखाई देता है, जो आज भी पुराने ढग के महाराष्ट्री सज्जनों के रस्मी वस्त्र का एक अभिन्न अग है। दाढ़ी-मूंछ के विषय म भी मरहठों की एक विशेषता है। 'मरहठा-कट' कहलाने वाली सीधी खडी मूंछें सैनिकों म आज भी बहुत पसन्द की जाती हैं।

महाराष्ट्रीय स्त्रियो का वेश अवश्य एक अलग ही वस्तु है। चारखाने की आठ गजी साडियाँ वे पुरुषों की तरह लाँग लगा कर बाँधती हैं और उसके नीचे किसी दूसरे वस्त्र का प्रयोग नहीं करतीं। महाराष्ट्र म साडी बाँधने का यह ढग सम्भवत उन दिनो का स्मृति चिह्न है, जब स्त्रियो को घोडे पर सवार हो युद्ध म अपने पुरुषों का साथ देना पडता था। या भी महाराष्ट्री स्त्रियो का जीवन इतना अधिक कठोर और परिश्रममय है कि इस प्रकार चुस्त साडी बाँधे बिना काम चल ही नही सकता। आज लाखो महाराष्ट्री स्त्रियाँ इस ढग से साडी बाँधे समुद्रतट पर नमक और मछली के धर्मों मे अथवा खेतों म और मिलों म अपने पुरुषो के साथ नि सकोच परिश्रम करती देखी जा सकती हैं।

महाराष्ट्र के साधारण खान पान म भी कोई विशेषता नहीं है। चावल,

गेहूँ की रोटी, दालें, सब्जियाँ और घी-दूध-दही आदि सामान्य उत्तर-भारतीय भोजन यहाँ भी प्रचलित है। देहात के गरीब लोगों में ज्वार-बाजरा आदि मोटे अनाज का दलिया ही मुख्य भोजन है। कहा जाता है कि यादव युग के प्रसिद्ध मंत्री हेमाडी ने इसे गरीबों के एक सस्ते आहार के रूप में प्रचलित किया था। इसे 'ज्वारी' कहते हैं, और यह गरीब मरहठों की आम खूराक है।

महाराष्ट्रीय समाज को साधारणतः शाकाहारी समझा जाता है, परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। केवल कुछ पुरातनवादी ब्राह्मण और वैष्णव मरहठे ही माँस-मछली का प्रयोग नहीं करते; शेष अधिकतर जनता में ऐसा कोई सामाजिक निषेध नहीं है। समुद्रतटवर्ती क्षेत्रों में रहने वाले कुछ ब्राह्मण लोग भी मछली खा लेते हैं और आम मरहठे, हरिजन और आदिवासी तो खैर सब कुछ खाते ही हैं।

कला और स्थापत्य

महाराष्ट्र में अति प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक स्थापत्य और मूर्तिकला के उत्कृष्ट नमूने मिलते हैं। पहाड़ी चट्टानों को काट कर बनाई गई विशाल गुफाएँ और उनके भीतर भवन-निर्माण की भव्य कलात्मकता तथा प्रस्तर शिल्प-सौंदर्य की अद्भुत सृष्टि वस्तुतः आश्चर्यचकित कर देने वाली है। कार्ला, भार्जे, बेडसा, नासिक, नानेघाट और कन्हेरी की गुफाएँ, जो सतवाहन युग की कृतियाँ बतलाई जाती हैं, विश्व-विख्यात हैं। अजंता के भित्ति-चित्र और एलोरा (वेरूल) में कैलाश का गुफा-मंदिर पूर्व-चालुक्य और राष्ट्रकूट युगों की चमत्कारपूर्ण कृतियाँ हैं। बम्बई नगर से कुछ दूर 'एलिफेन्टा' द्वीप, जिसका यह नाम पुर्तगालियों ने वहाँ पर स्थापित एक पूरे कद के पाषाण-निर्मित हाथी के कारण रखा था, त्रिमूर्ति आदि प्रस्तर-कला के सुन्दर नमूनों के लिए प्रसिद्ध है। 'हेमाडपंथी' कहलाने वाले कुछ मंदिर, जिनके निर्माण में चूने का प्रयोग बिलकुल नहीं किया गया, यादव मंत्री हेमाडी की बहुमुखी प्रतिभा की स्मृति दिलाते हैं।

महाराष्ट्र में शास्त्रीय संगीत के रूप में उत्तर-भारतीय 'हिन्दुस्तानी संगीत' ही प्रचलित है और इस पद्धति के अनेक प्रसिद्ध गायक और आचार्य महाराष्ट्र

होती है। शहरो मे साधारणत गोल काली टोपी का रिवाज रहा है, जिसे उत्तर-भारत मे 'हिन्दू टोपी' कहा जाता है। उत्तर में तो इस टोपी का रिवाज अब उठ सा गया है, परन्तु महाराष्ट्र मे यह अब भी चलती है।

कहते हैं कि कधे पर बन्द होने वाला कुर्ता और कुर्ते के गले में किनारी का प्रयोग महाराष्ट्रीय पुरुषो का खास फैशन है, जिसे अन्य प्रदेशो मे कवियो और कलाकारों ने विशेष रूप से अपनाया है। महाराष्ट्र में कुर्ते का ही अधिक रिवाज है; धोती के साथ अग्रेजी कमीज, जो बगाल मे शहरी जनता का सामान्य वस्त्र है, महाराष्ट्र मे ज्यादा दिखाई नही देती।

दरबारी वस्त्र के रूप मे धोती अथवा चूडीदार पायजामे के साथ घुटनों से नीचे तक का लम्बा अगरखा और कई प्रकार की बधी-बधाई पगडियाँ, मरहठा सरदारो से सम्बद्ध रही हैं। मरहठा पगडियाँ गोल, त्रिकोण, चौकोर, शकुरूप, घेरेदार और चुचदार अनेक प्रकार की होती थी। इन सब का अतिम विकास आधुनिक काल की गोल टोपीनुमा शकुरूप पगडी म दिखाई देता है, जो आज भी पुराने ढग के महाराष्ट्री सज्जनो के रस्मी वस्त्र का एक अभिन्न अग है। दाढ़ी-मूंछ के विषय मे भी मरहठो की एक विशेषता है। 'मरहठा-कट' कहलाने वाली सीधी खडी मूँछें सैनिकों मे आज भी बहुत पसन्द की जाती हैं।

. महाराष्ट्रीय स्त्रियों का वेश अवश्य एक अलग ही वस्तु है। चारखाने की आठ गजी साडियाँ वे पुरुषों की तरह लाँग लगा कर बाँधती हैं और उसके नीचे किसी दूसरे वस्त्र का प्रयोग नहीं करती। महाराष्ट्र मे साडी बाँधने का यह ढग सम्भवत उन दिनो का स्मृति-चिह्न है, जब स्त्रियो को घोडे पर सवार हो युद्ध मे अपने पुरुषों का साथ देना पडता था। यो भी महाराष्ट्री स्त्रियो का जीवन इतना अधिक कठोर और परिश्रममय है कि इस प्रकार चुस्त साड़ी बाँधे बिना काम चल ही नही सकता। आज लाखो महाराष्ट्री स्त्रियाँ इस ढग से साडी बाँधे समुद्रतट पर नमक और मछली के धधों मे अथवा खेतों म और मिलों मे अपने पुरुषो के साथ निःसकोच परिश्रम करती देखी जा सकती हैं।

महाराष्ट्र के साधारण खान पान मे भी कोई विशेषता नही है। चावल,

गेहूँ की रोटी, दालें, सब्जियाँ और घी-दूध-दही आदि सामान्य उत्तर-भारतीय भोजन यहाँ भी प्रचलित है। देहात के गरीब लोगो मे ज्वार-बाजरा आदि मोटे अनाज का दलिया ही मुख्य भोजन है। कहा जाता है कि यादव युग के प्रसिद्ध मत्री हेमाडी ने इसे गरीबो के एक सस्ते आहार के रूप मे प्रचलित किया था। इसे 'ज्वारी' कहते हैं, और यह गरीब मरहठो की आम खूराक है।

महाराष्ट्रीय समाज को साधारणत. शाकाहारी समझा जाता है, परन्तु वास्तव मे यह बात नही है। केवल कुछ पुरातनवादी ब्राह्मण और वैष्णव मरहठे ही माँस-मछली का प्रयोग नही करते; शेष अधिकतर जनता मे ऐसा कोई सामाजिक निषेध नही है। समुद्रतटवर्ती क्षेत्रो मे रहने वाले कुछ ब्राह्मण लोग भी मछली खा लेते हैं और आम मरहठे, हरिजन और आदिवासी तो खैर सब कुछ खाते ही हैं।

कला और स्थापत्य

महाराष्ट्र मे अति प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक स्थापत्य और मूर्तिकला के उत्कृष्ट नमूने मिलते हैं। पहाडी चट्टानो को काट कर बनाई गई विशाल गुफाएँ और उनके भीतर भवन-निर्माण की भव्य कलात्मकता तथा प्रस्तर-शिल्प-सौंदर्य की अद्‌भुत सृष्टि वस्तुतः आश्चर्यचकित कर देने वाली है। कार्ला, भार्जे, बेडसा, नासिक, नानेघाट और कनहेरी की गुफाएँ, जो सतवाहन युग की कृतियाँ बतलाई जाती हैं, विश्व-विख्यात हैं। अजता के भित्ति-चित्र और एलोरा (वेरूल) मे कैलाश का गुफा-मदिर पूर्व-चालुक्य और राष्ट्रकूट युगो की चमत्कारपूर्ण कृतियाँ हैं। बम्बई नगर से कुछ दूर 'एलिफेन्टा' द्वीप, जिसका यह नाम पुर्तगालियो ने वहाँ पर स्थापित एक पूरे कद के पाषाण-निर्मित हाथी के कारण रखा था, त्रिमूर्ति आदि प्रस्तर-कला के सुन्दर नमूनो के लिए प्रसिद्ध है। 'हेमाडपथी' कहलाने वाले कुछ मदिर, जिनके निर्माण मे चूने का प्रयोग बिलकुल नही किया गया, यादव मत्री हेमाडी की बहुमुखी प्रतिभा की स्मृति दिलाते हैं।

महाराष्ट्र मे शास्त्रीय सगीत के रूप मे उत्तर-भारतीय 'हिन्दुस्तानी सगीत' ही प्रचलित है और इस पद्धति के अनेक प्रसिद्ध गायक और आचार्य महाराष्ट्र

मे हुए हैं। भातखडे, विष्णु दिगम्बर और पलुसकर ने इस क्षेत्र म बहुत सा रचनात्मक कार्य किया है। भातखडे ने अपनी स्वर-लेखन प्रणाली द्वारा शास्त्रीय सगीत मे नया विकास उपस्थित किया। उससे बडे-बडे उस्तादो की गायकी लिपि-बद्ध हो कर सदा के लिए सुरक्षित हो गई।

चित्र-कला मे बगाल की तरह महाराष्ट्र का भी बडा नाम है। पुराने नमूनो मे मदिरो और गुफाओ के भित्ति चित्रो और जनसम नग्न मूर्त्तियों को देखने के लिए देश-देशान्तर से पर्यटक आते हैं। परन्तु आधुनिक काल मे जो कुशल चित्रकार और मूर्त्ति निर्माता हुए हैं, वे सब पाश्चात्य ढग की शिक्षा पाए हुए हैं। इनमे गायतोडे, आचेरकर, हलदरकर और धुरधर आदि कई कलाकारो ने भारत-व्यापी प्रसिद्धि प्राप्त की है।

महाराष्ट्रीय चरित्र

चीनी यात्री हुएन् सांग सातवी शती ईस्वी मे मरहठो का उल्लेख करते हुए लिखता है—"यह लोग सरल स्वभाव और सत्यनिष्ठ हैं, अत्यन्त स्वाभिमानी और गभीर प्रकृति के हैं। यह सदव्यवहार का आभार मानते हैं, परन्तु हानि पहुचाने वाले से प्रतिशोध लना तथा अपमान का कलक धोना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इनमे कष्ट सहन करने की अद्भुत शक्ति है। यह परोपकार तथा पीडितो की नि स्वाथ सहायता क लिए तत्पर रहते हैं। यह ज्ञान, साहित्य और अध्ययन के बहुत रसिया हैं। इनमें अनेक साधु-सत, महात्मा और विद्वान हैं।" ये विशेषताएँ महाराष्ट्रियो मे आज भी पाई जाती हैं।

मरहठो के सम्बन्ध म प्रसिद्ध अग्रेज ग्रथकार सर रिचर्ड टेम्पल् का कथन है —"मरहठे सदा से एक अलग राष्ट्र मे रहे हैं, और वे आज भी स्वय को ऐसा ही समझते हैं। यह कद के छोटे और अपेक्षया कम रोबीले होने पर भी अत्यन्त चुस्त और फुरतीले, द्रुतगामी, कमठ और सहनशील होते हैं। पर्वतीय अचल मे आवास करने के कारण इनम पहाडी लोगो की सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं। यह स्वय अपना अनुशासन करन की क्षमता नहीं रखते, परन्तु यदि कोई योग्य नता मिल जाए, तो उसके झडे तले सगठित होकर

उत्तम कोटि के सैनिक सिद्ध होते हैं। इनमे छल-कपट, वाक्पटुता और धूर्त्तता नाम को भी नही है, इसलिए व्यापार-वाणिज्य के यह नितांत अयोग्य हैं। वास्तव में व्यापार और व्यापारियो से इन्हें अपार घृणा है। इनके चरित्र मे विद्रोह भावना, निरंकुशता और क्रूरता का एक अंश सम्मिलित है। लूट-मार की प्रवृत्ति भी इन मे शतियों से चली आ रही है। अपने दुर्गम पहाडो और जंगलों में यह साहसिकतापूर्ण और स्वछंद जीवन बिताने के इच्छुक रहते हैं। परन्तु कृषक के रूप मे भी यह विशेष सफल हुए हैं। इनका गृहस्थ-जीवन अपेक्षया बहुत पवित्र और निष्कलंक है। परन्तु इनमें संयम की मात्रा कुछ कम ही दिखाई देती है। यह अहंकारी और स्वाभिमानी लोग हैं। इनमे दिखावे की प्रवृत्ति बहुत प्रबल है। दरिद्रता मे समृद्धि का प्रदर्शन और शक्तिशाली होने पर निम्न वंश का गर्व करना इनकी एक विचित्र विशेषता है। सिंधिया के वंशज आज भी इस बात की शेखी बघारते हैं कि उनके पूर्वज पेशवाओं की जूतियाँ उठाने का कार्य करते थे।" यह एक अंग्रेज के विचार हैं, जिनमे असत्य का एक अंश भी हो सकता है।

इतिहास मे मरहठो को 'वीर योद्धा, साहसी, पराक्रमी, परिश्रमी, लड़ाकू, उत्तेजनाशील, भावुक कम और यथार्थवादी अधिक लिखा गया है। यह वीर जातीय विशेषताएँ इन में सदा से चली आ रही हैं। एक प्रकार से यह समस्त महाराष्ट्रीय जनता की सामान्य विरासत है। गौरवपूर्ण अतीत का गर्व इन के चरित्र का एक प्रधान अंग है। इसी गर्व ने जहाँ सत्रहवीं शती मे शिवाजी जैसे कर्मयोगी नेता को जन्म दिया, वहाँ बीसवी शती मे—परतंत्र भारत में सम्भवत सबसे पहले—लोकमान्य तिलक के मुख से 'स्वतन्त्रता' का नारा लगवाया। महाराष्ट्र मे अधिकतर उग्र दल के राजनीतिक नेता ही सफल हुए हैं, यहाँ तक कि स्थानीय कांग्रेसी नेता भी इतने गांधी-भक्त नही हैं, जितने कि वे शिवाजी-पूजक हैं।

शिवाजी के नाम से तत्कालीन इतिहास के ग्रंथों मे बहुत सी वास्तविक या कल्पित बातें सम्बद्ध की जाती हैं। इन सब बातो की गहरी छाप आज के औसत महाराष्ट्रीय पर साधारणत: और मरहठा पर विशेषत दिखाई देती

है। मराठे स्वभावतः इस ऐतिहासिक तथ्य को असगति की हद तक महत्व देते हैं कि उन्होंने भारत में मुसलमानी सत्ता के विरुद्ध न केवल सबसे सफल विद्रोह किया, बल्कि एक ऐसे सुदृढ हिन्दू साम्राज्य की स्थापना की, जिससे फिर एक बार चन्द्रगुप्त मौर्य और विक्रमाजीत के स्वर्ण-युग की स्मृति पुनर्जीवित हो उठी। उन्हें इस बात का विशेष गर्व है कि अंग्रेजों को भारत में प्रभुसत्ता जीतने के लिए जिस केन्द्रीय शक्ति से लोहा लेना पडा, वह मुसलमानों की नही, बल्कि मराठो की थी। दूसरे शब्दो मे भारतीय स्वतन्त्रता के सच्चे ध्वजवाहक मराठे हैं। इसी से उनका यह विश्वास है कि वे भारत में 'हिन्दू धर्म और राष्ट्रीयता, के स्वाभाविक नेता हैं। और इस धारणावश वे स्वय को अन्य प्रदेशों की जनता से कुछ श्रेष्ठ समझते हैं। नि.सदेह भारत की वर्तमान परिस्थितियो में ऐसे विचारों का कुछ भी मूल्य नहीं है।

परन्तु जहाँ पेशवाई साम्राज्य-काल की स्मृतियों ने मराठो को एक अंश मे सामंतवाद और साम्प्रदायिकता के भ्रमजाल में उलझा रखा है, वहाँ दूसरी ओर उनकी वर्तमान आर्थिक स्थिति उन्हे वामपक्ष की ओर ले जाने का कारण बन रही है। इस प्रकार एक औसत महाराष्ट्रीय की विचार-धारा बहुत कुछ उलझी हुई और अटपटी सी बन गई है। एक ओर वह राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ जैसे फ़ासिस्ट् सगठनो के नेतृत्व मे भगवा झडा उठाकर 'हिन्दू पुनरुत्थान' का नारा लगाता है, और मरहठा सरदारी के अधीन भारत मे 'हिन्दू साम्राज्य' स्थापित करने का स्वप्न देखता है, तो दूसरी ओर वह डाँगे और मिरजकर के विप्लवी भाषणो को बडे ध्यान से सुनता है, और गुजराती व मारवाड़ी पूँजीपतियों द्वारा प्रत्यक्षत शोषित होने के कारण पूँजीवाद को उलटने के लिये कटिबद्ध होता है। यह खिचड़ी विचार-धारा महाराष्ट्रियों की स्वाभाविक प्रगति मे बाधक हो रही है, क्योंकि भगवे झडे के नीचे पूँजीवाद को उलटने का प्रयास कहाँ तक सफल हो सकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं!

गुजराती

भारत की एक भाषिक तथा सांस्कृतिक इकाई के रूप में गुजरात का नाम कई शताब्दियों से सुप्रसिद्ध है। दूर अतीत में वह एक स्वतन्त्र खंड-राष्ट्र अथवा अन्य भारतीय साम्राज्यों के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में अनेकों बार इतिहास के क्षितिज पर उदित हुआ है। परन्तु आधुनिक युग में एक पृथक स्वायत्त-राज्य के पूर्ण अधिकार उसे हाल ही में द्विभाषी बम्बई महाप्रांत के विघटन के बाद से प्राप्त हुए हैं।

आधुनिक काल में 'गुजरात' नाम के साधारणतः दो अर्थ लिए गए हैं। एक तो वह गुजरात, जो ब्रिटिश कालीन बम्बई महाप्रांत का अंग था, अर्थात् कच्छ, सौराष्ट्र और बड़ोदा आदि की देशी रियासतों को छोड़ कर शेष गुजरात, और दूसरा गुजरात का समस्त भाषिक क्षेत्र। इस सारे क्षेत्र को गुजरात के प्रांतीयकरण के जन-आन्दोलन के दिनों में 'महागुजरात' का नाम दिया गया था और इसी को बम्बई से पृथक करके वर्तमान गुजरात प्रदेश का निर्माण हुआ है। यहाँ के 'गुजराती' कहलाने वाले कुशल व्यवसायी और सफल उद्योगपति, सुयोग्य प्रशासक और निष्ठावान गाँधीवादी राजनीतिक कार्यकर्त्ता समस्त भारत और विदेशों में वर्षों से सुपरिचित और प्रतिष्ठित हैं।

गुर्जर

'गुजरात' का नाम संस्कृत 'गुर्जर' के अपभ्रंश 'गूजर' से बना है, यह तो प्रकट ही है। परन्तु स्वयं 'गुर्जर' या 'गूजर' शब्द एक विदेशी जाति विशेष

या अथवा प्राचीन आर्यों की एक शाखा मात्र था, इस विषय मे अवश्य है। मतभेद है। पाश्चात्य विद्वानो की परम्परित धारणा यह है कि 'गुर्जर' सम्भवतः 'खाजर' नाम की कोई विदेशी जन-जाति थी, जो पाँचवीं शती ईस्वी मे हूण आक्रमणकारियो के साथ भारत मे प्रविष्ट हुई, और कश्मीर से वर्तमान गुजरात तक फैलते हुए उन्होंने राजस्थान को अपना मुख्य आवास-स्थान बनाया। इस विस्तार-क्रम के बीच स्थान-स्थान पर उनकी जो टुकडियाँ पडी रह गई, उनके चिन्ह आज भी पश्चिमी पजाब मे गुजरात, गुजराँवाला और गूजरखाँ आदि नगरों के नामों मे विद्यमान हैं। कहते हैं कि अठारहवीं शती मे उत्तर प्रदेश के सहारनपुर नगर का नाम भी 'गुजरात' था, और ग्वालियर का उत्तरी भाग तो आज भी 'गुर्जरगढ' कहलाता है। चीनी यात्री हुएन-साग के अनुसार सातवीं शती मे पश्चिमी राजस्थान का नाम 'गुर्जर' था। नवी शती में उत्तरी और मध्य राजस्थान का नाम 'गुर्जरत्र' उल्लेखित है। अलबेरूनी के अनुसार ग्यारहवी शती के प्रारम्भ तक राजपुताना के एक भाग का नाम 'गुर्जर' था, और राजधानी नारायण मे भी, जिसके खंडहर जयपुर के निकट आज भी विद्यमान हैं।

इन लेखो से प्रकट है कि जहाँ-जहाँ गुर्जर बसे, उसका नाम गुर्जर पडा, तथा शतियों तक जिस क्षेत्र को 'गुर्जर' अथवा 'गुर्जर-राष्ट्र' कहा जाता था, वह वर्तमान गुजरात से बाहर था। गुजरात मे भी गुर्जर लोग एक बडी सख्या में और सगठित रूप से बसे, तथा यहाँ उन्होने कई राज-वशो को जन्म दिया। वास्तव में तथाकथित अग्निकुल के चारों राजपूत वश किसी न किसी समय गुर्जर कहलाए हैं, जिससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इन चारो वशों का विकास गुर्जर जाति से हुआ। अत जब १०-१२ वीं शतियों के बीच गुजरात मे अग्निकुल के सोलकी (चालुक्य) राजाओ का उत्थान हुआ, तब उन्हीं के राज्य को गुर्जरमडल अथवा गुर्जर-राष्ट्र कहा जाने लगा। यही गुर्जर-राष्ट्र प्राकृत मे गुर्जर-रट्ठ था, जिसे मुसलमानों ने 'गुजरात' बना दिया।

जहाँ तक 'गुर्जर' के एक विदेशी जाति होने का प्रश्न है, इस सम्बन्ध मे मानव-विज्ञान के विशेषज्ञों का मत ही अधिक मान्य है। उनका कहना है कि

के लगभग इन्होंने गुजरात पर अधिकार किया। इनमे महाक्षत्रप रुद्रदमन ने १५० ई० के लगभग सिंध से उज्जैन तक समस्त क्षेत्र पर राज्य किया, और आन्ध्र सतवाहन सम्राट पुलमयी से युद्ध किए। गुजरात मे कई क्षत्रप हुए। उनके आश्रय मे इस प्रदेश मे सस्कृत ज्ञान-विज्ञान, कला और साहित्य की बहुत उन्नति हुई। उस काल मे सौराष्ट्र और रोम के बीच व्यापारिक सम्बन्ध थे। भृगुकच्छ, सूरत, प्रभास (सोमनाथ) और द्वारका की बन्दरगाहो मे समुद्रयानो का निरतर आवागमन रहता था।

गुप्तयुग मे तृतीय सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने ३६० ई० के लगभग गुजरात पर आक्रमण किया, और सौराष्ट्र के शक क्षत्रप को, जिसे उसके पिता समुद्रगुप्त ने स्वतत्र छोड दिया था, २० वर्षीय दीर्घ युद्ध के बाद परास्त कर इस प्रदेश को अपने साम्राज्य मे विलीन किया। सम्राट स्कन्दगुप्त के राज्यपाल का एक शिला-लेख आज भी गिरनार मे मौजूद है।

पाचवी शती के मध्य मे गुप्त साम्राज्य का पतन होने पर भट्टरक नामक एक गुप्त सेनापति ने सौराष्ट्र मे वल्लभी के नाम से स्वतत्र राज्य की स्थापना की। यह राज्य, जिसके राजे मैत्रक कहलाते थे ५०० से ७७० ई० तक शक्तिशाली बना रहा। ६४१-६४२ ई० मे जब हुएन-सांग ने यहाँ का भ्रमण किया तब यहाँ नालन्दा के स्तर का विश्वविद्यालय और बहुत से बुद्ध और जैन मठ थे। उस समय हर्षवर्धन का जामाता ध्रुवसेन द्वितीय वल्लभी से समस्त सौराष्ट्र पर राज्य कर रहा था। उसके पुत्र ध्रुवसेन चतुर्थ ने लाट को जीता और इस प्रकार वर्तमान गुजरात के अधिकाश भाग को एक राज्य का रूप दिया।

इसी बीच ५५० ई० के लगभग गुर्जर नाम की नई जाति इतिहास के रगमच पर प्रकट हुई। उन्होंने ६०० ई० के करीब उत्तरी गुजरात के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया। तब से गुजरात सौराष्ट्र में गुर्जर शक्तिशाली होते गए। हुएन सांग के आगमन् के समय गुर्जर की राजधानी आबू पर्वत के निकट भिल्लमाल मे थी, और राज्य की सीमाएँ साबरमती नदी से लेकर मारवाड से परे तक विस्तृत थी।

अर्थात वह देश, जहाँ वैदिक रीतियों का पालन नहीं होता। ऐसा लगता है कि उत्तर वैदिक काल मे भी यह क्षेत्र सिंधु सभ्यता के अंतिम गढ़ के रूप मे सुरक्षित था, जैसा कि हाल ही मे अहमदाबाद के निकट लोथल नामक स्थान पर अविष्कृत अवशेषो से प्रमाणित हुआ है। यहाँ समुन्नत द्राविड़ो के अगणित पक्के नगर, बन्दरगाहो और सुदृढ़ दुर्ग थे। भवन-निर्माण और धातु की कला बहुत उन्नति पर थी। बाबुल और एबिसीनिया तक यहाँ के व्यापारिक जल-यानो का आवागमन था।

एक हजार वर्ष ईसा पूर्व के लगभग यहाँ आर्यों का आगमन आरम्भ हुआ। महाभारत काल मे उत्तर के कुरु पांचाल और मथुरा के शौरसेनी राज्यो तथा गुजरात-सौराष्ट्र के यादव राज्य के बीच विशेष सम्बन्ध थे। यादव गण पहले मथुरा के आस-पास रहते थे। श्रीकृष्ण और उनके भाई बलराम जरासिंधु के आक्रमणो से तग आकर उन्हे वर्तमान सौराष्ट्र मे ले गए, जहाँ श्रीकृष्ण ने द्वारिका का यादव राज्य स्थापित किया। सौराष्ट्र नाम सम्भवत. उसी समय से चला आ रहा है। श्रीकृष्ण के चचेरे भाई नेमी का विवाह एक स्थानीय राज वश मे हुआ था। नेमी जैनो के २२ वें तीर्थंकर थे। उन्होंने गिरनार मे निर्वाण प्राप्त किया।

छठी शती ईसा पूर्व मे यहाँ उज्जैन के राजा चन्द्रप्रद्योत का राज्य था, जो बौद्धकालीन भारत के सोलह महाजनपदो में गिना जाता था। बाद मे मगध ने उज्जैन के साथ उसे भी जीत लिया। ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ मे यह प्रदेश सौराष्ट्र के नाम से उज्जैन-स्थित उपराज के अधीन मौर्य साम्राज्य मे सम्मिलित था। चन्द्रगुप्त के समय में पुष्यगुप्त और अशोक के समय मे यवन सरदार तुशप यहाँ के राज्यपाल थे। अशोक के बाद यहाँ उज्जैन के स्वतत्र राजाओ का अधिपत्य हो गया। दूसरी शती ईसा पूर्व मे यहाँ कुछ काल तक पजाब के यूनानी राजा मिनेन्डर का भी राज्य रहा।

दूसरी शती ईसा पूर्व से चौथी शती ईस्वी तक की छ: शताब्दियाँ शकों का युग मानी जाती हैं। इस काल मे पश्चिमी भारत के शासकों के रूप मे अनेक शक राजे हुए, जो इतिहास मे 'पश्चिमी क्षत्रप' के नाम से विख्यात हैं। ४० ईस्वी

हो गया। कुछ विद्वानो का मत है कि मूलराज सोलकी स्वयं प्रतिहार सम्राट मिहिरभोज के सतत्क्रिम मे था, और परमारो के आधीन उत्तरी गुजरात मे सामत था। उसने अन्हलवाड़ को चावड़ो से छीना और अपना राज्य स्थापित किया।

सोलकी राज्य का नाम पहले 'सारस्वत-मडल' था, अर्थात सरस्वती (साबरमती) तट पर स्थित राज्य। परन्तु आगे चलकर सोलकी राजा जयसिंह सिद्धराज के युग मे जब राज्य की सीमाएँ उत्तर और दक्षिण की ओर विस्तृत हुईं, तब अन्हलवाड मे मिलाए जाने वाले समस्त क्षेत्र का नाम गुर्जर-खड अथवा 'गुर्जर-मडल' पड गया। राजा जयसिंह सोलकी को ही ११३६ ई० के एक शिला-लेख मे पहली बार गुर्जर-मडल का शासक कहा गया है। इस प्रकार अत मे अन्हलवाड के सोलकी राजाओ के राज्य को ही 'गुर्जर-देश, 'गुर्जर-रट्ठ अथवा गुजरात के नाम से अभिहित किया गया।

सोलकी युग मे गुजरात की सर्वांगीण उन्नति हुई। १०२१ ई० मे महमूद गजनवी ने सोमनाथ पर आक्रमण किया। तब अन्हलवाड मे मूलराज के पौत्र भीम प्रथम का राज्य था। उसने महमूद की वापसी नितात कठिन बना दी, यहाँ तक कि सिंध तक उस का पीछा करते हुए कुछ काल के लिए उस प्रदेश पर अधिकार भी कर लिया। इसके बाद एक शताब्दी से भी अधिक समय तक मुसलमानो ने गुजरात की ओर जाने का नाम न लिया। ११७६-७८ ई० मे जब मोहम्मद गोरी मुलतान से होता हुआ अन्हलवाड तक जा पहुँचा, तो रानी नायका देवी के नेतृत्व मे राजपूतो ने उसे भीषण रूप से परास्त किया। इसी रानी के पुत्र भीम द्वितीय ने गोरी को आबू के समीप फिर एक बार हराया। और ११९४ ई० मे गोरी के सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक को भी गुजरात से मार भगाया। इसके बाद फिर एक सौ वर्ष तक मुसलमान आक्रमणकारी गुजरात मे प्रवेश नही कर पाए। इस प्रकार सोलकी राजाओं ने दो सौ वर्ष तक गुजरात की शक्ति और वैभव को बनाए रखा। इन राजाओ मे भीम प्रथम का पौत्र जयसिंह सिद्धराज सब से प्रसिद्ध और प्रतापी राजा था। उसके युग मे अन्हलवाड राज्य दक्षिण मे कोकण तक तथा पूर्व और उत्तर मे मालवा और राज-

आठवीं शती में सिंध के अरब विजेताओं ने गुजरात पर आक्रमण किया, और ७७० ई० मे वल्लभी राज्य को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। परतु गुर्जर या राजपूत सरदारो ने सिसोदिया वश के एक पूर्वज बप्पा रावल के नेतृत्व मे अरबों का इतना भीषण विरोध किया कि वे गुजरात पर अधिकार न रख सके और उसके बाद दो शताब्दियो तक इस्लामी शक्ति को भारत की ओर बढने का साहस न हुआ।

इतिहासज्ञो के मतानुसार सातवीं और आठवी शताब्दियो के बीच किसी समय राजपूत वशो का उदय हुआ था। इनमें अग्निकुल के चार मे से तीन वश—परिहार, परमार और चालुक्य—गुर्जर से विशेषतः सम्बद्ध थे। यही तीन वश आठवी शती के मध्य से तेरहवी शती के मध्य तक गुर्जर-देश मे सर्वोपरि रहे। सब से पहले भिल्लमाल के आस-पास परिहारो का उत्थान हुआ। यह परिहार राजे इतिहास में गुर्जर-प्रतिहार के नाम से प्रसिद्ध हैं। परिहार सम्राट मिहिरभोज के राज्य काल मे गुर्जर-साम्राज्य पूर्वी पजाब से आबू तक और मारवाड से उत्तरी बगाल तक फैला हुआ था, और राजधानी कन्नौज में थी। यह गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य ७४० ई० से ६४० ई० तक पूरे दो सौ वर्ष बना रहा। अत मे महाराष्ट्र के राष्ट्रकूटो के दो आक्रमणो से गुर्जर साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

अब गुजरात मे परमारो का उत्थान हुआ। उनके एक राजा सियक प्रथम ने राष्ट्रकूट के आधीन रह कर गुजरात के बहुत बडे भाग पर राज्य किया। परमारो का यह उत्थान-काल ६४० ई० से १०५५ ई० तक माना जाता है। उस युग मे सौराष्ट्र से दिल्ली तक अनेक परमार राजे हुए।

इसी बीच छोटे-छोटे राजपूत वशो, जैसे चन्देल, चावड, चौहान और कलचुरी आदि के निरतर युद्धो और अराजकता की अवस्था मे चालुक्य वश के मूलराज सोलकी ने ६४२ ई० मे अन्हलवाड के प्रसिद्ध राज्य की स्थापना की। 'चालुक्य' को यों तो अग्निकुल के चार वशों मे गिना जाता है, परन्तु स्वय चालुक्य अपनी उत्पत्ति 'ब्रह्मा के चलुक (चुल्लू, हथेली) से बतलाते हैं, जिससे 'चौलुक्य' नाम पड़ा। यही शब्द गुजराती में 'सोलकी' और मराठी में 'सलुके'

की पुत्री देवलदेवी ने देवगिरि के यादव राजा रामचन्द्रदेव के पास शरण ली। मुसलमानों ने खम्बात के समृद्ध नगर को जी भर कर लूटा, और वहाँ के व्यापारियों से अथाह धन भेंट के रूप मे वसूल किया। कहते है कि प्रसिद्ध गुलाम मलिक काफूर, जो आगे चल कर अपनी वीरता और योग्यता के बल पर दिल्ली साम्राज्य का प्रधान मन्त्री और सेनापति बना, गुजरात की इसी लूट मे मुसलमानी सेना के हाथ आया था।

इसके बाद चौदहवी शती के अंत तक गुजरात दिल्ली साम्राज्य के अधीन एक सूबा रहा। आखिर १४०७ ईस्वी मे, तैमूर लंग के आक्रमण के बाद, तुगलक साम्राज्य का पतन होने पर गुजरात का हाकिम जफरखाँ स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर बादशाह बन गया। गुजरात की यह पृथक मुसलमानी बादशाहत १६५ वर्ष तक बनी रही, और कुल १५ बादशाह हुए, जिनमें अहमदशाह, उसका पुत्र महमूदशाह और उसका पौत्र बहादुरशाह विशेष प्रसिद्ध हुए। अहमदशाह ने वर्तमान अहमदाबाद की स्थापना की, जो आज गुजरात का सबसे बड़ा शहर और वर्तमान राजधानी है। अंतिम बादशाह मुजफ्फरशाह था, जिसे अकबर ने १५७२ ई० मे परास्त कर गुजरात को मुगल साम्राज्य में विलीन किया।

मुगल युग की एक उल्लेखनीय घटना जहाँगीर से अंग्रेज दूत थामस रो की भेंट थी, जो १६१८ ई० मे अहमदाबाद में हुई, और जिसके फलस्वरूप भारत मे अंग्रेजो की पहली व्यापारिक कोठी सूरत में स्थापित हुई।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद मरहठा शक्ति का अधिक उत्थान होने पर १७५८ मे गुजरात पर मरहठों का आधिपत्य हो गया। पेशवा बाजीराव प्रथम ने गायकवाड को गुजरात का शासक नियुक्त किया। सौराष्ट्र का आधुनिक नाम काठियावाड उसी काल मे पडा था। क्योंकि यहाँ की 'काठी' कहलाने वाली जन जातियो ने मरहठो का भीषण विरोध किया था, मरहठा युग में गुजरात के लोगो को बहुत अधिक आर्थिक हानि पहुँची, जिस कारण मरहठों के प्रति गुजरातियो मे एक स्वाभाविक विद्वेष-भावना ने जन्म लिया।

१७६१ ई० में अबदाली के हाथों पराजय के बाद जब मरहठा सघ के

स्थान तक फैला हुआ हुआ था। उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल के युग में गुजरात का गौरव अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। अंतिम महान सोलंकी राजा भीम द्वितीय था, जिसने गौरी और ऐबक को परास्त किया। इन राजाओं ने गुजरात में अनेक जैन और शैव मंदिरों का निर्माण कराया। भीम प्रथम के मंत्री विमल ने प्रसिद्ध आदिनाथ मंदिर की स्थापना की, तथा आबू के भव्य-शाली जैन मंदिर बनवाए। सोलंकी राजा कुमारपाल ने स्वयं जैन धर्म ग्रहण किया था। गुजराती समाज में अहिंसावाद का विशेष महत्व और वैष्णव भोजन आदि का प्रचलन उसी के समय में शुरू हुआ। परन्तु शासक के रूप में ये सभी राजे धर्म निरपेक्ष थे। जयसिंह के एक दान-पात्र के अनुसार खम्बात में एक मस्जिद की स्थापना के लिए भी धन दिया गया था।

१२०६ ई० के लगभग मालवा के बघेल राजा शुभदवर्मन ने गुजरात पर अधिकार कर लिया। तब से यहां सोलंकियों का स्थान बघेलों ने ग्रहण किया। बघेल राजा लवणप्रसाद और उसके पुत्र वीरधावल ने अपने वैश्य मंत्रियों वस्तुपाल और तेजपाल की सहायता से गुजरात की शक्ति इतनी बढ़ा ली कि दिल्ली के गुलामवंशी बादशाह अलतमश को गुजरात से विफल हो कर लौटना पड़ा। मंत्री वस्तुपाल की देख रेख में अगणित कुएं, तालाब, मंदिर और बाग आदि बनाए गए, यहां तक कि उस काल में गुजरात को 'बागों का देश' कहा जाने लगा। उसी सोमनाथ नगर में, जिसके पवित्र मंदिर को महमूद ने लूटा और भ्रष्ट किया था, बघेल राजा ने १२६४ ई० में मस्जिद निर्माण की अनुमति दी। स्मरण रखना चाहिए कि उस समय उत्तरी भारत के मुसलमान शासक मंदिरों का विध्वंस करने में व्यस्त थे।

कर्ण द्वितीय अंतिम बघेल राजा और गुजरात का अंतिम हिन्दू शासक था। उस समय तक गुजरात का बहुत सा भाग ढोलका कहलाने वाले सरदारों के अधीन छोटे छोटे राज्यों में बंट गया था। इस आपसी फूट, और विशेषकर कर्ण के ब्राह्मण मंत्री माधव के देशद्रोह से लाभ उठा कर, खिलजी सुलतान अलाउद्दीन के सेनापति अलिफ़खां ने १२९७ ई० में आक्रमण कर गुजरात के सब हिन्दू राजाओं का एक साथ ही अंत कर दिया। कर्ण बघेला और उस

अपेक्ष्या कुछ अधिक ही पुरातनवादी हैं। लोक-धर्म के रूप में अम्बामाता के नाम से देवी दुर्गा और कहीं-कहीं काली की पूजा प्रचलित है। गुजरात में जैन धर्म बहुत समय तक राज-धर्म के पद पर आसीन रहा है, इसलिए यहाँ के हिन्दू धर्म पर उसका प्रभाव बहुत गहरा है। अहिंसावाद को यहाँ विशेष सफलता मिली है। गुजरातियों के रहन-सहन और खान-पान आदि में यह विचार-धारा खूब प्रबल है, यद्यपि विशुद्ध धार्मिक दृष्टि से स्वयं जैनों में भी यह एक आदर्श मात्र ही है। वास्तव में गुजरातियों की स्वाभाविक शांति-प्रियता और नम्र प्रकृति का मूल कारण इतना धार्मिक नहीं, जितना कि आर्थिक है। गुजराती साधारणतः एक व्यापारिक वर्ग है। पूँजीहीन व्यक्ति भी प्रायः व्यापार की ओर प्रवृत्त रहता है। इनमें यह परम्परा शतियों से चली आ रही है, इस दृष्टि से गुजराती और मारवाड़ी समाजों में बहुत सादृश्य है। दोनों शांतिप्रिय, चतुर और मृदुभाषी हैं, तथा दोनों में जैन-धर्म और अहिंसावाद का अधिक प्रचार है। भारत का सर्वोच्च पूँजीपति वर्ग इन्हीं दो समुदायों से निर्मित है।

गुजरात का जातीय स्वरूप तथा उसका वर्गीकरण लगभग वही है, जो राजस्थान में है। राजपूत, गूजर, ब्राह्मण और वैश्य महाजन यहाँ के मुख्य जाति-समूह हैं। मराठों के विपरीत गुजरातियों की जाति-पाँति व्यवस्था बहुत विस्तृत और जटिल है। उदाहरणार्थ अकेले ब्राह्मणों की शाखाओं-उपशाखाओं की संख्या दो सौ से भी ऊपर बतलाई जाती है। गुजराती समाज में दूसरा बड़ा प्रभावशाली जाति समूह वैश्य महाजनों का है जो यहाँ 'वाणि' कहलाते हैं। उत्तरी-भारत के अग्रवालों की तरह इनकी भी इतनी शाखाएं-उपशाखाएं निकलती हैं कि गणना करना असम्भव है। गुजरात बहुत प्राचीन समय से ही व्यवसाय प्रधान प्रदेश रहा है इसलिए यहाँ के वाणि शुरू से ही बहुत धन-सम्पत्ति युक्त और प्रभावशाली है। राज्य सत्ता में भी इनका विशेष भाग रहा है। वे कितने ही राजाओं के मन्त्री और उच्च पदाधिकारी बने हैं। कहते हैं कि सोलंकी राजा कुमारपाल ने जैन धर्म ग्रहण कर वैश्यों को प्रशासन में विशेष महत्व दिया था। ब्रिटिश युग में भी काठियावाड़ के अनेक छोटे-छोटे राज्यों और जागीरों के दीवान इसी वर्ग से नियुक्त होते थे। स्वयं महात्मा गांधी के पिता राजकोट में

विभिन्न सदस्य राज्य स्वतंत्र आचरण करने लगे, तो अंग्रेजो ने सब से पहले १७७५ ई० मे गुजरात के गायकवाड के साथ सधि करके उसे अपनी ओर मिला लिया। बाद मे गुजरात का कुछ क्षेत्र अंग्रेजी राज्य म मिला लिया गया, और काठियावाड मे २०० से भी अधिक छोटे-छोटे राजाओ और जागीरदारो के साथ अलग-अलग सधियाँ कर के गुजरात की प्रादेशिक एकता का अंत कर दिया गया। गायकवाड अंग्रेजो के अधीन केवल बडौदा का शासक रह गया।

ब्रिटिश युग मे अंग्रेजो और गुजरातियो ने मिल कर अहमदाबाद को एक प्रमुख औद्योगिक नगर बनाया, और गुजराती व्यवसायी और बुद्धिजीवी समस्त भारत और विदेशो मे फैले। इसी युग मे गुजरात ने अपने अनेक महापुरुषो को जन्म दिया, जिनमे महात्मा गांधी तो भारत के परमोद्धारक और राष्ट्रपिता ही हैं। उनके व्यक्तित्व से निकट अतीत के भारतीय इतिहास का एक पूरा युग निर्मित हुआ है। गांधी जी के रूप मे गुजरात ने भारत को एक ऐसी देन दी, जिनके होते उसे और किसी युग-पुरुष की आवश्यकता नही थी। परन्तु बगाल की तरह गुजरात की भूमि भी कर्मवीरो से खाली नही रही। आर्य समाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द, प्रसिद्ध पारसी राष्ट्रीय नेता दादा भाई नौरोजी, केन्द्रीय विधान सभा के प्रथम भारतीय अध्यक्ष विट्ठलभाई पटेल, भोला भाई देसाई, और सब से बढ कर 'भारत के लोह-पुरुष' सरदार वल्लभ भाई पटेल कुछ ऐसे नाम हैं, जिनके बिना वर्तमान भारत के अस्तित्व की कल्पना ही नही की जा सकती।

धर्म और समाज—

गुजरात हिन्दू और जैन धर्म का एक सुदृढ गढ है। सौराष्ट्र मे वैष्णवों के लिए द्वारका, शैवो के लिए सोमनाथ और जैनो के लिए शत्रुंजय के तीर्थ-स्थान प्रमुख हैं। श्रीकृष्ण की पवित्र नगरी द्वारिका हिन्दुओ के चार धामों मे से एक है। गुजराती साधारणत अन्य पश्चिम भारतीयो की अपेक्षा अधिक सम्य शिष्ट, धर्म निष्ठ और व्रतचारी रहे हैं। परन्तु उसी मात्रा म उन म अन्ध-विश्वास और रूढियाँ भी कुछ अधिक ही रही हैं। गुजरात-सौराष्ट्र के लोग

अपेक्षा कुछ अधिक ही पुरातनवादी हैं। लोक-धर्म के रूप में अम्बामाता के नाम से देवी दुर्गा और कहीं-कहीं काली की पूजा प्रचलित है। गुजरात मे जैन धर्म बहुत समय तक राज-धर्म के पद पर आसीन रहा है, इसलिए यहाँ के हिन्दू धर्म पर उसका प्रभाव बहुत गहरा है। अहिंसावाद को यहाँ विशेष सफलता मिली है। गुजरातियो के रहन-सहन और खान-पान आदि मे यह विचार-धारा खूब प्रबल है, यद्यपि विशुद्ध धार्मिक दृष्टि से स्वय जैनो मे भी यह एक आदर्श मात्र ही है। वास्तव मे गुजरातियो की स्वाभाविक शांति-प्रियता और नम्र प्रकृति का मूल कारण इतना धार्मिक नही, जितना कि आर्थिक है। गुजराती साधारणत: एक व्यापारिक वर्ग है। पूँजीहीन व्यक्ति भी प्राय. व्यापार की ओर प्रवृत्त रहता है। इनमे यह परम्परा शतियों से चली आ रही है, इस दृष्टि से गुजराती और मारवाडी समाजो मे बहुत साहश है। दोनो शांतिप्रिय, चतुर और मृदुभाषी हैं, तथा दोनो मे जैन-धर्म और अहिंसावाद का अधिक प्रचार है। भारत का सर्वोच्च पूँजीपति वर्ग इन्ही दो समुदायो से निर्मित है।

गुजरात का जातीय स्वरूप तथा उसका वर्गीकरण लगभग वही है, जो राजस्थान मे है। राजपूत, गूजर, ब्राह्मण और वैश्य महाजन यहाँ के मुख्य जाति-समूह हैं। मराठों के विपरीत गुजरातियो की जाति-पाँति व्यवस्था बहुत विस्तृत और जटिल है। उदाहरणार्थ अकेले ब्राह्मणो की शाखाओं-उपशाखाओ की सख्या दो सौ से भी ऊपर बतलाई जाती है। गुजराती समाज मे दूसरा बडा प्रभावशाली जाति समूह वैश्य महाजनो का है जो यहाँ 'वाणि, कहलाते हैं। उत्तरी-भारत के अग्रवालो की तरह इनकी भी इतनी शाखाएं-उपशाखाएँ निकलती है कि गणना करना असम्भव है। गुजरात बहुत प्राचीन समय से ही व्यवसाय प्रधान प्रदेश रहा है इसलिए यहाँ के वाणि शुरू से ही बहुत धन-सम्पत्ति युक्त और प्रभावशाली है। राज्य सत्ता मे भी इनका विशेष भाग रहा है। वे कितने ही राजाओ के मत्री और उच्च पदाधिकारी बने हैं। कहते हैं कि सोलंकी राजा कुमारपाल ने जैन धर्म ग्रहण कर वैश्यो को प्रशासन मे विशेष महत्व दिया था। ब्रिटिश युग में भी काठियावाड के अनेक छोटे-छोटे राज्यों और जागीरो के दीवान इसी वर्ग से नियुक्त होते थे। स्वय महात्मा गाधी के पिता राजकोट में

दीवान थे। इस प्रकार गुजरात का वाणिा वर्ग केवल व्यवसाय और धनोपार्जन मे ही नहीं, बल्कि राज्य-सत्ता मे भी विशेष रूप से अग्रणी रहा है।

गुजरातियो का साधारण धधा यो तो हर प्रकार का व्यवसाए है, परन्तु इस क्षेत्र मे भी साहूकारी और औद्योगिक हिस्सो की दलाली उनके दो मुख्य कार्य हैं। इसके अलावा अहमदाबाद, बडौदा, नागपुर और अकोला की मिलो के वे मालिक हैं। बम्बई मे भवन-सम्पत्ति पर उनका विशेष अधिकार है। गुजराती व्यापारी समस्त भारत और दुनियाँ के हर भाग मे फैले हुए हैं। यह फैलाव कुछ आधुनिक युग मे पाश्चात्य उपनिवेशवाद के अन्तर्गत ही घटित नही हुआ, बल्कि प्रचीन समय से चला आ रहा है। आठवी शती मे गुजरातियों की एक बडी सख्या के जावा और हिन्द-चीन मे जाकर बसने का पता चलता है। तेरहवीं शती के अन्तिम दशक मे इटैलियन यात्री मार्को पोलो ने गुजरात के समुद्री डाकुओ को 'सब से ज्यादा खतरनाक' लिखा है। इस प्रकार की प्रत्यक्ष लूट अथवा नौचालन, समुद्री व्यापार और साहूकारी ही गुजरात मे निरंतर धन-सग्रह के मुख्य साधन रहे हैं। वर्तमान युग मे पूर्वी अफ्रीका एक प्रकार से गुजरातियों का उपनिवेश है। जापान मे मोतियो का व्यापार उनके हाथ मे है, और ऐमस्टर्डम् (हालैंड) मे वे हीरे-जवाहरात का कारोबार करते हैं। साराश यह कि पूंजी लगाने और मुनाफा कमाने मे वे मारवाडियों से किसी तरह भी पीछे नहीं हैं।

पारसी, खोजे और वोहरे

वर्तमान गुजरातियो में दो वर्ग विशेष रोचकता लिए हुए हैं। एक पारसी, और दूसरे खोजे-वोहरे। पारसियों के नाम से ही प्रकट है कि इनका मूल देश पारस अथवा वर्तमान ईरान है। यह लोग सम्भवतः आठवीं शती मे फ़ारस पर मुसलमानी अरब आक्रमण के बाद गुजरात म आ बसे थे। ये जाति से विशुद्ध आर्य हैं, तथा इनके धर्म और रीति-रिवाज भी वैदिक आर्यों से बहुत कुछ समानता रखते हैं। 'जन्द-अवस्ता' इनका पवित्र धर्म ग्रंथ है जिसकी भाषा वैदिक

संस्कृत से मिलती-जुलती है। संस्कृत का 'असुर' इनके यहां 'ग्रहुर' के रूप में परमेश्वर के लिए प्रयुक्त होता है। यह परमेश्वर को 'ग्रहुर मज्द' के नाम से अभिहित करते हैं, और अग्नि को ऐश्वरीय शक्ति का सबसे प्रकट और पावन प्रतीक मानते हैं। इन के यहाँ अग्नि सदैव प्रज्ज्वलित रहती है, जिसके कारण इन्हें भ्रम से अग्नि या सूर्य-पूजक भी कहा जाता है। पारसियों का विश्वास है कि जर्थुस्त्र इस अग्नि को स्वर्ग से लाए थे। हिन्दू आर्यों की तरह ये लोग भी यज्ञोपवीत का संस्कार मानते हैं। परन्तु मुर्दों को ठिकाने लगाने की पद्धति इनकी अपनी विशेष है, जिसे मानवता की दृष्टि से अमानुषिक ही कहा जा सकता है। यह अपने मृतकों को एक चार-दीवार के भीतर, जो केवल इसी काम के लिए नियत होती है, एक खुले कुंड में चील-कव्वों द्वारा खाए जाने के लिए छोड़ आते हैं।

कुछ हो, यह लोग शतियों से एक सुशिक्षित और सुसंगठित वर्ग-विशेष के रूप में गुजरात में रहते आ रहे हैं। व्यावहारिक भाषा और वेश-भूषा आदि की दृष्टि से ये पूर्णतया गुजराती हो जाने के बावजूद अपने विशेष जरदुश्ती (जर्थुस्त्र) धर्म और रीति-रिवाज को पूर्ववत बनाए हुए हैं। अपने सामाजिक जीवन में यह अति समुन्नत और प्रगतिशील लोग हैं, तथा गुजराती समाज के साधारण व्यापारिक ढाँचे में उच्च स्थान रखने के कारण पर्याप्त धन सम्पत्ति युक्त और प्रभावशाली हैं। प्रायः सभी पारसी उत्तम श्रेणी के व्यापारी अथवा पूंजीपति हैं, तथा भारत की राष्ट्रीय नेतागीरी में भी सदैव अग्रणी रहे हैं। आधुनिक युग में इन्होंने बम्बई शहर को विकसित करने में महत्वपूर्ण भाग लिया है, और वहाँ अपनी बहुत सी सम्पत्ति निर्मित की है। भारत में व्यावसायिक रंगमंच के वे जन्मदाता रहे हैं। गुजराती, मराठी और उसके बाद उर्दू और हिन्दी नाटक कम्पनियाँ कला के क्षेत्र में उनकी विशेष देन थी। चल-चित्र उद्योग में वही सब से पहले आए थे। साहित्यिक क्षेत्र में भी उन्होंने अपना विशेष योगदान दिया है। आज के प्रमुख पारसी उद्योगपतियों में 'टाटा' का नाम सुप्रसिद्ध ही है।

'खोजे' धर्म से मुसलमान हैं और स्वयं को इस्माइली सम्प्रदाय का बतलाते

हैं। यह लोग आगाखां को अपना मुखिया और धर्म-गुरु मानते हैं, तथा प्रति वर्ष उन्हें लाखों की भेंट चढाते हैं। दूसरा वर्ग 'बोहरों' का है, जो धर्म से शिया मुसलमान हैं। यह लोग अपनी मेमना टोपी अथवा सुनहली पगडी से सहज मे पहचाने जा सकते हैं। गुजराती समाज की सामान्य प्रकृति के अनुसार यह दोनों वर्ग भी साहूकार और व्यवसायी हैं। ऐसा ख्याल किया जाता है कि बोहरे वास्तव में भूतपूर्व वैश्य हैं, जो मुसलमानी युग म इस्लाम धर्म ग्रहण कर विभिन्न राजकीय पदो पर नियुक्त हुए थे। इनम वैश्य परम्पराएं अभी तक चली आ रही हैं। यह लोग भारत और पाकिस्तान के अलावा ऐशिया और अफ्रीका के कई देशो मे व्यापार करते हैं, तथा काफी धनवान और सम्मानित हैं। यह बात उल्लेखनीय है कि पाकिस्तान के जन्मदाता मि० जिन्नाह स्वय बोहरा वर्ग से थे। इस दृष्टि से उनका और गांधीजी का मूल एक ही था।

भाषा और साहित्य

गुजरातियो की भाषा गुजराती है, जिसे भारत की आधुनिक आर्य भाषाओ के वर्गीकरण मे शौरसेनी अपभ्रंश के अतर्गत रखा जाता है। इस दृष्टि से 'नागर' और 'गौर्जर' आदि बीच की अवस्थाएं थी। 'नागर' की एक शाखा 'अवन्ती' कहलाती थी, और दूसरी 'गौर्जर'। वर्तमान गुजराती उसी गौर्जर अपभ्रंश का आधुनिक रूप है। 'गौर्जर' और 'राजस्थानी डिंगल' का गहरा सम्बध था। वास्तव में यह दोनो एक ही मूल भाषा की दो बोलियों के रूप म विकसित हुई। आज भी गुजरात और राजस्थान के सीमावर्ती क्षेत्रो की जन भाषा इतनी मिली-जुली है कि उसे राजपूताना के लोग गुजराती और गुजरात के लोग 'राजस्थानी' कहते हैं। गुजराती और मारवाडी म वैसे भी बहुत सदृश है। हेमचन्द्र ने, जिसे गुजराती का आदि कवि माना जाता है, अपने 'सरस्वती कठाभरण' में लिखा है कि लाठ (वर्तमान भडोंच-सूरत) के लोग बहुत सुन्दर प्राकृत बोलते हैं, परन्तु गुर्जर लोग अपनी गौर्जर अपभ्रंश का ही प्रयोग करते हैं। हेमचन्द्र ने ही इस अपभ्रंश का व्याकरण बनाया था।

देशभेद से गुजराती की अनेक बोलियां रही हैं, परन्तु आज कल कोई खास

बोली नही है। कच्छी मे गुजराती और सिंधी का मिश्रण है। पारसी और मुसलमान लोग गुजराती शब्दो का उच्चारण अपने ढग से करते हैं, तथा फ़ारसी और अरबी शब्दो का बहुतायत से प्रयोग करते हैं। खोजे लोग एक प्रकार की उर्दू भी बोलते हैं। पारसियो के यहाँ धार्मिक भाषा के रूप मे प्राचीन फ़ारसी के कुछ नमूने सुरक्षित हैं, परन्तु इनकी वर्तमान भाषा गुजराती ही है।

ठेठ गुजराती मे तत्सम शब्दो का अभाव सा रहा है, परन्तु उच्च साहित्यिक स्तर पर अवश्य सस्कृत शब्दो का अनुपात ४० प्रतिशत तक पहुँच जाता है। हिन्दी-भाषियो के लिए मराठी समझना कठिन है, परन्तु गुजराती समझने मे कोई विशेष कठिनाई नही होती। और अब तो पृथक गुजरात प्रदेश की स्थापना के बाद से गुजराती के लिए भी देवनागरी लिपि अपनाने का निश्चय कर लिया गया है। इससे हिन्दी-भाषियो के लिए गुजराती पढ़ने की असुविधा भी दूर हो जाएगी। गुजराती की पुरानी लिपि भी देवनागरी थी। परन्तु बाद मे अभी तक जो लिपि चली आ रही है, वह देवनागरी पर आधारित कैथी से मिलती-जुलती है।

साहित्य की दृष्टि से गुजराती के तीन काल माने जाते हैं। पहला १२वी से १४वी शताब्दी तक हेमचन्द्र और अन्य जैन आचार्यों का अपभ्रंश काल है। वास्तव मे हेमचन्द्र, सोमप्रभु सूरि और मेरुतग आदि जैन आचार्यों का साहित्य हिन्दी और गुजराती की सामान्य सम्पत्ति है। परन्तु अपभ्रंश के ये लेखक चूंकि गुजराती राजाओ के आश्रय मे ही अधिक रहे, तथा जैन-धर्म सम्बधी साहित्य भी गुजराती मे ही अधिक मिलता है, इसलिए इन जैन आचार्यों की गणना साधारणतः गुजराती साहित्य की परम्परा मे ही की जाती है।

गुजराती साहित्य का दूसरा युग, जिसमे भाषा अपने स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई, १५वी से १८वी शती तक का मध्यकाल है। इन चार शताब्दियो मे गुजरात मे सैकडो कवि हो गए। इन्ही मे हिन्दी-राजस्थानी की श्रेष्ठ कवयित्री मीराबाई का नाम भी आता है। उनके कई पदो को गुजराती के अतर्गत रखा जाता है। परन्तु वर्तमान गुजराती के पहले महाकवि थे नरसिंह महेता। पन्द्रहवी शती मे हुए इस भक्त कवि को गुजरात मे वही स्थान प्राप्त है, जो

बंगाल और उड़ीसा में चैतन्य, महाराष्ट्र में संत तुकाराम तथा हिन्दी प्रदेश में भक्त सूरदास का है। उनके भक्तियुक्त पद गुजरात के घर-घर में गाए जाते हैं। इस दृष्टि से नरसिंह महेता को ही आधुनिक गुजराती का आदि कवि माना जाता है।

उनके बाद सत्रहवीं शती के तीन महाकवि थे—अखा, प्रेमानन्द और शामल। प्रेमानन्द आख्यान-कवि के नाते अधिक प्रसिद्ध हैं। उन्होंने गुजराती में कई 'रास' लिखे। 'रास' अथवा 'रासो' की परम्परा हिन्दी की तरह गुजराती में भी अपभ्रंश-काल से चली आ रही थी। प्रारम्भिक रासो या तो राजस्थानी डिंगल में मिलते हैं, अथवा पुरानी गुजराती में। अपभ्रंश काल के जैन आचार्यों ने भी पुरानी गुजराती में कुछ रास लिखे थे, जिन्हें 'फगु' कहते हैं। गुजराती में यह वीरगाथात्मक कविता और भक्तिकालीन कविता साथ-साथ चलती रही।

नरसिंह महेता के बाद भालण ने संस्कृत से अनुवाद की परम्परा प्रतिष्ठित की और भागवत पर कविता लिखी। भालण तत्कालीन सभ्यता की भाषा 'ब्रज' के भी बहुत कुशल कवि थे। बादके आख्यान-कवियों में पद्मनाथ का नाम आता है। अन्त में अठारहवीं शती के मधुर कवि दयाराम हुए, जिनका नाम गुजरात के अमर गीतकारों में लिया जाता है।

आधुनिक युग का प्रारम्भ उन्नीसवीं शती में कवि नर्मदाशंकर अथवा नर्मद (१८३३-१८८६) से माना जाता है। यह साहित्यिक पुनर्जागरण पश्चिमी सभ्यता और सुधारवादी विचारों के अंतर्गत हुआ। गुजराती में गद्य का विकास भी यहीं से आरम्भ हुआ। गुजराती का पहला उपन्यास नन्दशंकर महेता का 'करण घेलो' १८६६ ई० प्रकाशित हुआ था। बाद के युग में, जिसे गोवर्धन का युग कहा जाता है गुजराती साहित्य अपने उत्कर्ष पर पहुँचा। इस युग में, जो १९१४ तक रहा, गद्य में कहानी तथा पद्य में खंड-काव्य और विलापिका आदि का जन्म हुआ। चार खंडों में 'सरस्वती चन्द्र' नामक महान ऐतिहासिक उपन्यास इसी युग में लिखा गया। संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला के श्रेष्ठ ग्रंथों के अनुवाद हुए। बंकिम ठाकुर और शरत की प्रायः सभी रचनाएँ गुजराती

में अनुदित हुई। कलापी ने गुजराती में फारसी गजल का अनुसरण किया। वह 'गुजरात के मधुसूदन' कहलाए। इसी श्रेणी के अन्य लेखकों में मस्तकवि त्रिभुवन प्रेमशंकर, जगन्नाथ त्रिपाठी, नानालाल, बलवन्तराय और नरसिंह राव जैसे प्रतिभाशाली कवि हुए। मणिलाल द्विवेदी, आनन्दशंकर और. केशवलाल ध्रुव आदि बलशाली लेखक भी इसी युग में हुए। परन्तु इस युग में साहित्य प्रायः ऐसी शैली में लिखा जाता था, जोकि साधारणतः अलंकरित और कृत्रिम होती थी।

१९१४ से भारतीय जीवन में सबसे पहले गुजरात में गांधी युग का प्रारम्भ हुआ। गुजरात की आत्मा स्वतन्त्रता की भावना से भर उठी। गांधी जी के संदेश से प्रेरणा पाकर गुजराती लेखक सेवा और त्याग, दरिद्र और दलितोद्धार के प्रयत्न, तथा समाज सुधार और गांवों के पुनरुत्थान आदि कार्यक्रमों में रुचि लेने लगे। इस प्रकार सीधी, सरल और स्वाभाविक भाषा में जन साधारण के लिए बहुत सा साहित्य निर्मित हुआ। स्वातन्त्र्य आन्दोलन के प्रभाव-अन्तर्गत अनेक राजनैतिक उपन्यास लिखे गए, जिन में से कितने ही ब्रिटिश सरकार ने जब्त किए। वर्तमान शती के प्रारम्भ में इच्छाराम देसाई का 'हिन्द अाने ब्रितानिया' जब्त हुआ। १८५७ ई० के स्वातन्त्र्य संग्राम पर लिखा गया आर० डी० देसाई का 'भडेलो अग्नि' और दास का 'बंधन अाने मुक्ति' आदि भी साम्राज्य-विरोधी उपन्यास हैं। गुजराती में १९२० से १९४० तक प्रायः एक सौ राजनैतिक उपन्यास लिखे गए। कविता में भी राष्ट्रीयता की भावना प्रधान थी। अन्य सब प्रदेशों से अधिक गुजरात के कवि ने स्वयं को पूरी तरह से देशव्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन में समर्पित कर दिया। उसकी कविता का मुख्य स्वर भारत की स्वतन्त्रता था, और विचार-धारा कम या अधिक गांधी वाद पर आधारित थी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी यही स्थिति बनी रही।

वर्तमान पीढ़ी के सब से बहुमुखी प्रतिभाशाली कवि उमाशंकर ने कुछ वर्ष पहले अपना पांचवां काव्य-संग्रह 'वसन्त वर्षा' के नाम से प्रकाशित किया। उनके अलावा नई पीढ़ी में राजेन्द्रशाह, निरंजन भगत, बालमुकुन्द दवे, वेणीभाई पुरोहित और उशनस आदि अनेक कवि व्यक्तिगत उल्लेख-योग्य हैं।

उपन्यास के क्षेत्रमे पुरानी पीढी के मुंशी, रमणलाल धूमकेतु और चुनीलाल शाह आदि तथा नई पीढी के पन्नालाल पटेल, मनुभाई पचोली, सोपान, पिताम्बर और सारंग आदि माने हुए उपन्यासकार हैं। श्री मुंशी तो हिन्दी में भी विशेष प्रसिद्ध हैं, जहाँ उन्होंने 'मुंशी साहित्य' के नाम से उपन्यास का एक अलग ही विभाग निर्मित किया है। परन्तु आजकल वह साहित्यकार से ज्यादा प्रतिक्रियावादी दलों के प्रवक्ता बने हुए हैं।

गुजराती उपन्यास को महत्वपूर्ण देन देने वालों मे दो प्रशंसित नाम पन्ना लाल पटेल और पचोली ('दर्शक') के हैं। पटेल ने गुजराती गाँव को उस की पूर्णता मे व्यक्त किया है। उनके दो उपन्यास 'मलेला जीव' और 'मानवीनी भवाई' गुजराती के सर्वोत्तम उपन्यासों मे गिने जाते हैं। पहली पुस्तक का हिन्दी रूपांतर भी उपलब्ध है। अधिकतर उपन्यासकार कुशल कहानी-लेखक भी हैं। अन्य कथाकारो मे जयन्ती दलाल, विनोदिनी नीलकठ और विजयसिंह चावडा के नाम लिए जा सकते हैं।

इतने विशाल भडार के बावजूद गुजराती अभी अपेक्ष्या पिछड़ी हुई है। उस के पक्ष मे इतनी बात अवश्य कही जानी चाहिए कि आज का गुजराती लेखक अपने स्वस्थ प्रादेशिक प्रेम के बावजूद केवल गुजरात और गुजराती साहित्य की भाषा में ही नहीं सोचता। उसके सामने परम्परित रूप से समस्त भारत रहा है और आज तो निरतर बढते हुए सम्पर्कों मे व्यापक अतर्राष्ट्रीय क्षितिज भी खुलते जा रहे हैं।

लोक नृत्य

गुजरात का एक प्राचीन नाम 'आनर्त्त' है, जिस का शाब्दिक अर्थ है नृत्य-शाला। इसका सम्बध श्रीकृष्ण की द्वारकापुरी से बतलाया जाता है, जो उस काल मे सम्भवत अपने सुन्दर नृत्यो के लिए समस्त आर्यावर्त्त में प्रसिद्ध थी। गुजरात मे लोक-नृत्य की परम्पराए श्रीकृष्ण और उनकी बहू उषा (अनिरुद्ध की पत्नी) के समय से चली आ रही हैं। 'गरबा' नृत्य, जो गुजरात का सब से प्रसिद्ध लोक-नृत्य है, और मकट में पनघट को जाती हुई स्त्रियों अथवा ग्वालिनों

जन्माष्टमी, रामनवमी, वसन्त पंचमी, गौरीव्रत, सावित्रिव्रत और तीज आदि त्योहारों पर भी गरबा नृत्य सामुहिक कार्यक्रम का एक प्रधान अंग होता है।

'गरबी' अम्बा की स्तुति में पुरुषों का विशेष नृत्य है। नवरात्रि के अवसर पर मध्य में अम्बा का चित्र अथवा अनाज का पौधा रख कर चारों ओर एक घेरे में पुरुष नाचते हैं। नाच का प्रकार प्रायः वैसा ही है जैसा कि गरबा का। केवल इतना अन्तर है कि पुरुषों के नृत्य में घट का प्रयोग नहीं होता। गरबी के नर्तक सौराष्ट्र का देशीय वस्त्र धारण किए होते हैं, जिसमें एक तो राजस्थानी ढंग से बंधी हुई धोती होती है, अथवा चूड़ीदार पायजामा, और दूसरा पुराने ढंग का तसमे वाला चुस्त अंगरखा, जिसमें नीचे झालर सी लगी रहती है। कभी-कभी ऊपर का अंग खाली भी रहता है।

गुजरात का तीसरा उल्लेखनीय लोक-नृत्य 'रास' अथवा कृष्ण लीला है। इसमें किसी किसी अवसर पर स्त्री पुरुष इकट्ठे भी नाचते हैं। यह कृष्ण और गोपियों का साधारण नृत्य है। इसके तीन मुख्य रूप हैं: 'दंड रासक' (डंडों के साथ), 'ताल रासक' (तालों बजाते हुए), और 'ललित रासक' (भावाभिनय के साथ)। 'दंड रासक' जिसके सरल रूप उत्तरी-भारत के कई त्योहारों पर भी देखने को मिलते हैं, गुजरात का विशेष रास है। शरद् पूर्णिमा पर इसका बड़े पैमानों पर आयोजन होता है। रास का सम्बन्ध पहले केवल कृष्ण-लीला से ही था। परन्तु अब अन्य विषयों को लेकर भी गरबा और रास रचे गए हैं। रास के लिए कोई विशेष वस्त्र निर्धारित नहीं हैं। परन्तु कभी-कभी एक सदस्य कृष्ण का वेश भर लेता है।

गुजरात में आदिवासी जन-जातियों के अपने अलग नृत्य हैं, जो मध्यदेश और बिहार के समजातीय आदिवासियों के नृत्यों से मिलते जुलते हैं। पंचमहल और साबरकथा के क्षेत्रों में भीलों के 'पाली' और 'मवासी' कहलाने वाले प्रभावी नृत्य हैं। 'तोवाली' पुरुषों का विशेष नृत्य है। पुरुष एक घेरे में घूम-घूम कर शक्ति प्रदर्शन करते हैं। दक्षिणी गुजरात में 'डांग' और 'मोड़िया' आदिवासियों के भी बहुत से नृत्य हैं।

लोक नाट्य के क्षेत्र में 'भवाई' गुजरात की विशिष्ट कला है। यह नृत्य,

नाटक और संगीत का सम्मिश्रण है। इसमे केवल पुरुष ही भाग लेते हैं, और साधारणतः केवल पुरुष ही इसे देखते हैं। इसके अभिनेता 'कंचालिया' कहलाते हैं, और प्रायः पैत्रिक रूप से इस कार्य को करते हैं। ये कुछ विशेष जातियो से सम्बद्ध होते हैं, जैसे भोजिक, नायक और तिर्गल आदि। इनके दल स्थान-स्थान घूमते हैं, और नवरात्रि मे माँ भवानी (दुर्गा) के स्वागतार्थ नाट्य-प्रदर्शन करते हैं। इसी से सम्भवतः इसका नाम 'भवाई' पड़ा है।

खुले मैदान अथवा मंदिर के प्रागण मे संध्या से प्रातःकाल तक देवी के चित्र के आगे दीप रखकर नाट्य चलता है। उसके अनेक खंड होते हैं, जिन को 'वेश' या 'स्वांग' कहते हैं। प्रत्येक स्वाग मे एक या दो अभिनेता नृत्य, सगीत और भाव-व्यजना द्वारा किसी पौराणिक, ऐतिहासिक या सामाजिक पात्र का चरित्र अथवा किसी घटना विशेष का विवरण प्रस्तुत करते हैं। कभी कभी इसमे व्यग्य-परिहास और करतब भी सम्मिलित कर लिया जाता है। इस प्रकार इस कला-रूप मे गीत, सगीत, नृत्य,, नाटक व्यायाम, राजनीति और समाज-सुधार सभी कुछ आ जाता है।

वस्त्र और भोजन

गुजरात के देशीय वस्त्र का सामान्य रूप पीछे बतलाया गया है। देहात मे धोती प्राय. राजस्थानी ढग से दो लागें लगाकर बाँधी जाती है, परन्तु शहरो मे धोती की कोई विशेषता नहीं है। अगरखा राजस्थानी ढग का ही अधिक प्रचलित है। सिर पर बडे सलीके से बधी हुई भारी और ऊँची पगड़ी होती है। शहरी वस्त्र महाराष्ट्रियो जैसा ही है, अर्थात धोती, कुर्ता अथवा अग्रेजी कमीज के ऊपर बन्द गले का लम्बा कोट और बहुधा साधारण अग्रेजी कोट का प्रयोग किया जाता है। सिर पर पगडी के स्थान पर प्रायः गोल अथवा नोकीली काली टोपी होती है, या फिर गाँधी टोपी। यह पजाब को छोड़ कर एक प्रकार से सारे ही पश्चिमी भारत का सामान्य शहरी वस्त्र है, परन्तु अब तो सभी प्रदेशो मे पतलून और बुशशर्ट का अधिकाधिक रिवाज होता जा रहा है।

गुजरात मे औपचारिक वस्त्र के रूप मे चूड़ीदार पायजामे के साथ लम्बी

अचकन का ही प्रयोग किया जाता है, जो मूलतः पुराने राजपूती अथवा दरबारी वस्त्र का आधुनिक रूपांतर है। इन सामान्य और दरबारी वस्त्रों के अलावा भिन्न-भिन्न वर्गों के विशेष वस्त्र हैं। उदाहरणार्थ पारसी अपने सफ़ेद वस्त्र, खास किस्म की तंग पांयचों वाली पतलून और काली अथवा सफ़ेद ऊँची टोपी अथवा छोटी सी सफ़ेद पगड़ी से अलग पहचाने जा सकते हैं। इसी प्रकार बोहरे मुसलमानों की बंधी-बंधाई, चपटी और गोल सुनहली पगड़ी अपनी अलग विशेषता रखती है।

स्त्रियों में साड़ी सर्व प्रधान है। इसके कई रूप प्रचलित हैं, परन्तु महाराष्ट्रियों की तरह लांग लगा कर साड़ी बांधने का रिवाज कहीं भी नहीं है। उत्तर-भारत में साड़ी बांधने के जिस ढंग को सेठानियों का ढंग कहा जाता है, गुजराती साड़ी बहुत कुछ उससे मिलती-जुलती है। पिछले दस वर्षों में भारतीय महिलाओं की वेश-भूषा में फिर से जो भारतीयता आने लगी है, उसका भी बहुत कुछ श्रेय गुजराती महिलाओं को है।

वस्त्र के विषय में सौराष्ट्र की अपनी अलग परम्परा है। यहाँ का वेश-विन्यास बहुत सुन्दर होता है। कुछ लोगों की धारणा है कि सौराष्ट्री किसान का पहिरावा दुनिया भर में पुरुषों की सबसे सुन्दर और सुरूप पोशाक है। नीचे चूड़ीदार पायजामा रहता है, और उसके ऊपर छोटी झालर अथवा मगजी लगी जाकेट होती है। यह जाकेट काफ़ी ऊँची होती है, और झालर अथवा मगजी की तहों के कारण कुछ ऐसा रूप धारण कर लेती है, जैसा कि यूरोप में बैले नर्तकी का छोटा सा घाघरा होता है। सिर पर रंगीन पगड़ी रहती है। सौराष्ट्र में पन्द्रह तरह की पगड़ियाँ प्रचलित हैं। राजस्थान की तरह गुजरात-सौराष्ट्र में भी रंगों के प्रति विशेष प्रेम है। स्त्रियाँ खुला या पूला लहंगा और चोली पहनती हैं। चोली की पीठ नहीं होती ; केवल डोरियों से बंधी रहती है। यह चोलियाँ और लहंगे अनेक आकार-प्रकार तथा सुन्दर चमकीले रंगों के होते हैं। सौराष्ट्र में पोशाक के विषय में भी प्राचीन दंत-कथाएँ हैं। अहीर स्त्रियाँ साधारणतः काली ओढ़नी रखती हैं, जिससे भगवान कृष्ण का सोग प्रदर्शित करना उद्दिष्ट है।

हिन्दुओं के यहाँ जिस भोजन को वैष्णव भोजन कहा जाता है, कुछ वैसा ही गुजराती भोजन है। गुजराती लोग मुख्यतः शाकाहारी और निरामिष-भोजी हैं। गुजराती सज्जनों को लहसुन आदि, अधिक मिर्च-मसाले और विशेषकर गर्ममसालों से बड़ी घबराहट होती है। वे साधारणतः सादा और सात्विक भोजन पसन्द करते हैं, तथा घी का प्रयोग अपेक्षा कुछ अधिक ही करते हैं। खाने में चपाती अथवा पूरी प्रधान है। उसके साथ आम तौर से चावल भी रहता है। देहात में जुआर, बाजरा आदि मोटे अनाज लोगों की साधारण खूराक है। बेसन, दही और घी-शक्कर से बनी हुई अनेक वस्तुएँ गुजराती खाने की विशेषता हैं। बेसन या उड़द की तली हुई नमकीन वस्तुएँ भी, जो प्रायः चाय के साथ ली जाती है, अधिकतर गुजरात की देन हैं। पापड़, दही, आचार और मुरब्बे आदि भी गुजराती खाने में अवश्य रहते हैं। मीठे खानों का बहुत रिवाज है। चावल और काले चने की पीठी में दही और कुटी हुई सरसों मिलाकर एक प्रकार की इडली बनाई जाती है, जो चावल और उड़द की दाल वाली दक्षिणी इडली से कुछ कम स्वादिष्ट नहीं होती। इसे गुजराती में 'दोकड़ा' कहते हैं। एक और विशेष गुजराती खाना चावल, चना, अरहर की दाल, दही, चीनी और तिल आदि मिलाकर बनाया जाता है। यह एक प्रकार का केक् होता है, जिसे 'आड़नी' कहते हैं। गुजरात में कई प्रकार की मिठाइयाँ बेसन से बनती हैं, जिनमें से 'मगज' और 'खामनी' आदि अब उत्तरी-भारत में भी खूब प्रचलित हो गई हैं।

गुजराती चरित्र

गुजराती चरित्र की कुछ विशेषताओं की ओर पीछे संकेत किया गया है। जैसा कि बताया गया, गुजराती मुख्यतः व्यवसायी लोग हैं। इसलिए व्यवसायी वर्ग के सभी गुणावगुण इनमें पाए जाते हैं, जैसे, शान्ति-प्रियता (जो बहुधा भीरुता का पर्याय् समझी जाती है) गोपनीयता, चातुर्य और वाकपटुता, तथा धन-सम्पत्ति की अत्यधिक लालसा आदि। परन्तु इस क्षेत्र में भी इनकी कुछ विशेषता है। गुजराती केवल व्यवसायी ही नहीं हैं, वे अत्यन्त व्यवसाय-साहसिक भी हैं। वे शतियों से दुनिया के कोने-कोने में विपदपूर्ण स्थानों पर जाकर

बसने वालों में अग्रणी रहे हैं। वे सेनाओं मे भरती नही होते, परन्तु अपनी पूँजी और सुरक्षा को जोखिम मे डालने का अद्भुत सामर्थ्य रखते हैं। हर तरह की परिस्थितियों में दृढ़ता के साथ व्यापार करने के कारण वे मानवीय सम्बधों के बड़े अच्छे ज्ञाता हो गए हैं। वे हर प्रकार के लोगों के साथ सहजता से निभा लेते हैं। अपने मूल हितों की रक्षा करते हुए दूसरो में घुल-मिल जाने की शक्ति उनका सबसे बड़ा गुण है। वे अपना प्रदर्शन करना बहुत कम पसन्द करते हैं, और शांति-पूर्वक धनोपार्जन में लगे रहने को ही अपना परम धर्म समझते हैं।

जहाँ तक राष्ट्रीय भावनाओं का सम्बध है, यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि अन्य सब प्रादेशिक लोगों से ज्यादा भारत-प्रेमी और राष्ट्रवादी गुजराती हैं। गुजरात के प्रति उनका जो प्रादेशिक प्रेम है, वह किसी केन्द्र-विरोधी अथवा भारत की अखडता के प्रति उपेक्षा की भावना पर आधारित नही है। यह एक स्वस्थ और उदार मनोवृत्ति है, जो अपने व्यापक रूप मे समस्त भारत के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने का माध्यम रही है। सच तो यह है कि वर्तमान युग में भारतीय राष्ट्रीयता का सबसे ज्यादा नेतृत्व करने वालों में गुजराती हैं। गुजरात के प्रायः सभी महान विचारकों और राजनीतिक नेताओं ने सबसे पहले समूचे भारत के लिए सोचा और काम किया है। महर्षि दयानन्द और महात्मा गाधी दो ऐसे महापुरुष हो गए हैं, जिनका वर्तमान हिन्दू समाज और भारतीय राष्ट्रीयता का रूप निर्धारित करने में निर्णयात्मक हाथ रहा है। भारत की वर्तमान राजनीतिक एकता और केन्द्रीय सुदृढ़ता भी एक गुजराती कृषक की श्रद्धा, विश्वास और परिश्रम का फल है। वर्तमान भारतीय नेतागीरी मे हिन्दी प्रदेश के बाद दूसरा नम्बर गुजरात का है। गुजरातियों की अखिल भारतीय भावना कितनी स्पष्ट और प्रबल है, इसका एक उज्ज्वल उदाहरण अभी पिछले वर्ष देखने मे आया, जब पृथक गुजरात राज्य की स्थापना के साथ ही गुजराती भाषा के लिए देवनागरी लिपि अपनाने की घोषणा की गई। यदि भिन्न लिपि रखने वाले अन्य प्रदेश भी इस महत्वपूर्ण पग का अनुसरण करें, तो वर्तमान भारत में भाषा, शिक्षा और प्रशासन सम्बधी अनेक

समस्याओं का स्वत. ही समाधान हो जाए।

गुजरातियों और महाराष्ट्रियों के पारस्परिक अविश्वास और दुर्भावना की बड़ी चर्चा की जाती है। परन्तु वास्तव में यह वैमनस्य, जो कुछ भी है, किसी भाषिक, सांस्कृतिक अथवा जातीय भेद पर आधारित नहीं है, बल्कि मूलतः पूंजी और श्रम के ऐतिहासिक संघर्ष का ही एक अंग है। महाराष्ट्रियों को सब गुजराती शोषक पूंजीपति, धूर्त और कपटी दिखाई देते हैं। यहाँ तक कि वे गांधीजी और स्वयं अपने आचार्य विनोबा भावे जैसे राजनीतिक सत-महात्माओं की सत्य-निष्ठा में भी संदेह करते हैं। एक प्रकार से वे सब गुजरातियों को नानजी, साराभाई, मफतलाल और कस्तूरचन्द का निकट सम्बन्धी समझते हैं। वे भूल जाते हैं कि स्वयं गुजरात के लाखों लोग उसी प्रकार शोषित और पीड़ित हैं, जैसा कि वे अपने को समझते हैं।

दूसरी ओर गुजरातियों का यह अटल विश्वास है कि महाराष्ट्री, विशेषकर मरहठे, साधारणत. लड़ाकू, लुटेरे और उपद्रवी लोग हैं। उन्हें शिवाजी के आक्रमण और उनके बाद के मरहठा सरदारों की लूट-मार तो याद है, परन्तु वे महाराष्ट्र के उन संतों, कवियों और कलाकारों को भूल जाते हैं, जिनकी कृतियाँ दोनों प्रदेशों, बल्कि समस्त भारत के लिए गौरव का विषय है। यह बात अपने व्यापक रूप में सारे ही भारत के लिए सही है—सभी प्रदेशों में जन-साधारण के स्तर पर प्रांतीयता का मूलाधार घोर अज्ञानता के सिवा और कुछ नहीं—परन्तु गुजरात-महाराष्ट्र के वर्तमान वर्गगत सम्बन्धों के कारण यहाँ इस तत्व का विशेष महत्व है। कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि गुजरातियों और महाराष्ट्रियों के स्वभाव और विचार धाराओं में आधार-भूत अंतर है। गुजरात ने महात्मा गाँधी के आदर्शों पर चलने की शपथ ली है, जबकि महाराष्ट्र के आदर्श पुरुष हैं शिवाजी मरहठा। गांधी और शिवाजी में जो अंतर है, वस वही अंतर गुजरातियों और महाराष्ट्रियों में है। यही कारण है कि इतने दिनों तक इकट्ठे रहने-सहने के बावजूद इनमें हार्दिक मेल नहीं हो सका। अंततः इन्हें अलग-अलग प्रदेशों में विभक्त करना पड़ा। आशा की जानी चाहिए कि इससे दोनों को कुछ लाभ होगा।

राजस्थानी

पश्चिम भारतीय मरुदेश का मुस्लिम कालीन नाम था राजपूताना, जिसका अर्थ है 'राजपूतों की भूमि।' यह शूरवीर राजपूतो का देश है, जिनके पौरुष, पराक्रम और आत्मबलिदान की कहानियों से भारतीय इतिहास और साहित्य के अनेक अंग निर्मित हुए हैं। यहाँ के राजपूत राज-वशो ने समस्त भारत की सस्कृति और लोक-जीवन पर गहरा प्रभाव डाला है। इस लिए उनके नाम-लेवाओ को आज भी सारे देश मे आदर और सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है।

ब्रिटिश युग मे यह भूभाग १८ देसी राज्यो और दो सरदारियो मे विभक्त था। इस कारण इसे 'रजवाडा' अर्थात 'राजाओ की भूमि' भी कहते थे। 'राजस्थान' नाम का भी यही अर्थ है। यहाँ के राज्यो में जयपुर (आम्बेर) जोधपुर (मारवाड) उदयपुर (मेवाड) जैसलमेर, बीकानेर और कोटा के पाँच राज्य प्रमुख थे। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद इन्ही सब छोटे-बडे राज्यो के विलय से पहले सयुक्त राजस्थान और उसके बाद वर्तमान विशाल राजस्थान प्रदेश का निर्माण हुआ। इसी प्रदेश की जनता का सामूहिक नाम है 'राजस्थानी।

"राजस्थानी' की परिभाषा मे स्थानीय राजपूत वर्ग के अलावा अन्य वर्गों तथा जातियों के लोग सब आ जाते हैं। इनके बीच परस्पर काफी भेद है, सामान्य जातीय अर्थों मे ही नहीं, बल्कि साम्कृतिक, चारित्रिक और भावनात्मक

दृष्टि से भी। इसी लिए 'राजस्थानी' शब्द ठीकउ सी प्रकार एक, प्रादेशिक व्यक्तित्व' विशेष अथवा 'सास्कृतिक एकरूपता' का सूचक नही है, जैसे कि 'बगाली' अथवा 'पजाबी' शब्द हैं। फिर भी एक सुनिश्चित प्रदेश और सुस्थित स्वायत्त राज्य के निवासी होने के नाते यहाँ के विविध प्रकृति वाले सब लोगो को 'राजस्थानी' के सामान्य नाम से अभिहित करना ही न्यायसगत है।

इतिहास

राजस्थान का आदि इतिहास बहुत कुछ अज्ञात है। प्राचीन ग्रंथो मे वर्तमान समस्त राजस्थान का कोई भोगोलिक नाम नहीं मिलता। वेदो मे ब्रह्मर्षिदेश, सिंधु और मत्स्य आदि के नाम आते हैं, तथा 'सप्त सिंधु' के दक्षिण मे समुद्र है, ऐसा वर्णित प्रतीत होता है। मत्स्य देश वर्तमान अलवर, भरतपुर और जयपुर आदि क्षेत्रो मे स्थित था। 'मत्स्य' के शब्दिक अर्थ से ऐसा बोध होता है कि विष्णु के प्रथम अवतार जिस भूभाग मे हुए, वह 'मत्स्य' कहलाया। यह भी सम्भव है कि प्राचीन मत्स्य समुद्रतट पर स्थित था। इसी प्रकार राजस्थान के मेव और मीना आदिवासियो के मूल देश का नाम (मीनावती) उल्लेखित है। उसका अर्थ भी 'मछलियो का देश' ही है। कहते हैं कि वही मीनावती शब्द विकृत होकर आज का 'मेवात' हो गया है। कुछ भी हो, यहाँ केवल इतनी बात ध्यान मे रखने की है कि इन दोनो प्राचीन नामो का सम्बन्ध किसी न किसी रूप मे मछलियों और जल से है। मारवाड में किवदन्ती प्रचलित है कि थल का सारा क्षेत्र किसी काल मे समुद्र था, जिसे श्रीराम ने बाण द्वारा सुखाया।

महाभारत मे विराट (वर्तमान जयपुर), यादव (वर्तमान उदयपुर) त्रिगर्त, मत्स्य और मथुरा के शौरसेनी राज्यो का उल्लेख आया है। परम्परा के अनुसार पच पांडवो ने अपने निर्वास का तेरहवाँ वर्ष राजा विराट के आश्रय मे बिताया था। भागवत मे श्री कृष्ण के 'द्वारावती' द्वीप पर आश्रय लेने की बात कही गई है, जिससे उस काल मे द्वारिकापुरी का द्वीप होना सिद्ध होता है। राजस्थान के पूर्वी भाग को 'अनूपदेश' भी कहते थे। इसे जल के

आस-पास' होने के कारण आयुर्वेद मे स्वास्थ्य-प्रद बतलाया गया है । राजस्थान मे सांभर आदि खारे पानी की अनेक झीलो की विद्यमानता स भी इसी धारणा की पुष्टि होती है कि इस प्रदेश का आधे से अधिक भाग किसी काल म समुद्र था, जो प्राकृतिक प्रक्रियो से धीरे-धीरे सूख कर मरुस्थल मे परिवर्तित हो गया विद्वानो का मत है कि जिस क्षेत्र मे इस समय बीकानेर का मरस्थल है, वह वैदिक काल में, जब कि सरस्वती नदी यहाँ बहती थी, आर्य सभ्यता का एक प्रमुख केन्द्र था । अभी हाल मे यहाँ सिंधु सभ्यता के अवशेष भी मिले हैं ।

जयपुर मे बैराठ (विराट) नामक स्थान पर अशोक के दो शिला-लेखो से प्रकट होता है तीसरी शती ईसा पूर्व मे मौर्य साम्राज्य इन क्षेत्रों तक विस्तृत था । दूसरी शती ईसा पूर्व मैं उत्तर पश्चिम से आने वाले बाख्तरी यूनानियो ने अपने राम्राज्य को गुजरात तक विस्तार दिया । उनके दो साम्राटो अपलादित्य और मिनेन्द्र के सिक्के उदयपुर मे उपलब्ध हुए हैं । दूसरी शती ईसा पूर्व से चौथी शती ईस्वी तक दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम राजस्थान म शको का राज्य रहा । यही शक राजे इतिहास मे पश्चिमी क्षत्रप' के नाम से प्रसिद्ध हैं । उस बीच ईसा की दूसरी शताब्दी मे राजस्थान कुशान वश के प्रसिद्ध सम्राट कनिष्क के साम्राज्य का भी अग बना । १५० ई० के एक लेख म, जो सौराष्ट्र के गिर्नार नामक स्थान उपलब्ध हुआ, मरु (मारवाड) देश के शक राजा रुद्र मन का नाम आता है । चौथी शती इसवी से छटी शती ईस्वी तक मगध और उसके बाद उज्जैन से गुप्त सम्राटो ने समस्त उत्तर भारत के साथ राजस्थान पर भी राज्य किया । सफेद हूणों के आक्रमणों से गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद सातवी शती के पूर्वार्द्ध मे थानेश्वर के सम्राट हर्षवर्धन का उत्थान हुआ । उस काल मे चीनी यात्री ह्वएन सियाग की भारत यात्रा के समय राजस्थान के चार भाग थे—गुर्जर (वर्तमान बीकानेर और पश्चिमी क्षेत्र, बदरी (दक्षिणी और मध्य क्षेत्र) विराट (पूर्वी क्षेत्र) और मथुरा (सूरसेन) जिस मे भरतपुर और करौली आदि के वर्तमान क्षेत्र सम्मिलित थे ।) शेष राजस्थान उज्जैन के अधीन था ।

राजपूतो का उद-भव-काल हर्षवर्धन के बाद आठवी शती मे माना जाता है। सब से पहले गुहिलोत अथवा धालोट की सिसोदिया शाखा ने गुजरात से चलकर मेवाड म अपनी सत्ता स्थापित की। उस समय यहाँ 'मोरी' जाति का राज्य था, जिनके एक पूर्वज चित्रग को चित्तौड का सस्थापक बतलाया जाता है। परम्परा के अनुसार सिसोदिया वश का प्रथम पुरुष बापा रावल था, जिस ने ७३४ ई० मे चित्तौड पर अधिकार किया, और सिध विजेता मोहम्मद बिन कासिम् को राजस्थान से मार भगाया।

उसी शती मे परिहार राजपूतो ने मारवाड पर, चौहानो ने अजमेर पर, और भाटी राजपूतो ने जैसलमेर पर अधिकार किया। दसवी शती मे परमार अथवा पँवार और चालुक्य अथवा सोलकी विशेष शक्तिशाली हो उठे। ग्यारहवी शती मे कछवाहा राजपूत अपने सरदार ढोलाराय के नेतृत्व मे, जिस से ढोला-मारू की प्रसिद्ध प्रेम-कथा सम्बद्ध है, ग्वालियर से जयपुर आए, और यहाँ उन्होंने स्थानीय मीना जाति को अपने अधीन कर आम्बर राज्य की स्थापना की। दिल्ली का तोमर राज्य भी बाद मे अजमेर के चौहानो की हस्तारित हो गया, और पृथ्वीराज चौहान दिल्ली का शासक बना।

दसवी शती से बारहवीं शती के अत तक, मुसलमानी आक्रमण के आरम्भिक काल में, लगभग सारे ही भारत पर राजपूत राज-वशो का राज्य था। राजस्थान मे और उसके आस-पास अजमेर, मेवाड, मारवाड और दिल्ली व कन्नौज के पाँच राज्य प्रमुख थे। उस काल म समस्त राजपूत समाज युद्ध प्रिय बना हुआ था और आपसी मार काट म व्यस्त रहता था। कोई केन्द्रीय शक्ति नही थी। इसलिए महमूद गजनवी की लुटेरा सेनाएँ थल के रास्ते गुजरात तक मार करती थी। इस सारे काल-खड का राजस्थानी इतिहास राजपूत वशो के आतरिक कलह, निरतर गृह युद्ध और पारस्परिक विश्वासघात के दुखद विवरण से भरा पडा है। इन्ही सब दुर्बलताओ के परिणामस्वरूप बारहवी शती के अत मे मोहम्द गौरी के हाथो दिल्लीपति पृथ्वीराज चौहान की पराजय हुई, और भारत मुख्य भूमि मे मुसल्मान साम्राज्य की नींव रखी गई।

राजपूतो के कदम दिल्ली, कन्नौज और अजमेर से उखड गए, परन्तु

पश्चिमी और दक्षिणी राजस्थान में उन की शक्ति बराबर बनी रही। तेरहवीं शती में कन्नौज के राठौर राव सीहाजी के नेतृत्व में मारवाड गए, और वहाँ उन्होंने परिहार राजाओं को परास्त कर जोधपुर राज्य की स्थापना की। सीहाजी के आठ पुत्र थे, जिनमें से राव जोधाजी ने वर्तमान जोधपुर नगर बसाया। दूसरे पुत्र बीकाजी ने बीकानेर राज्य की स्थापना की। इसी प्रकार अन्य बेटों ने विभिन्न स्थानों पर अपने राज्य स्थापित किए। उस शती में गुलाम वंशीय सुलतान अलतमश राजस्थान को जीतने में असफल रहा। चौदहवीं शती के शुरू में खिलजी सुलतान अलाउद्दीन ने सिसोदिया की राजधानी चित्तौड में भीषण विनाश लीला दिखाई। पद्मनी की कहानी, गोरा और बादल की वीरगाथा तथा 'राजपूती जौहर' का पहला ऐतिहासिक उल्लेख उसी आक्रमण के समय का है। परन्तु इस विध्वंस के बावजूद राजस्थान मुख्यभूमि में पठान साम्राज्य जड न पकड सका। राणा हमीर और कुम्भ ने मेवाड को पुनः शक्तिशाली बनाया। पूरी पन्द्रहवीं शती गुजरात और मालवा के स्वतंत्र मुस्लिम राज्यों और राजस्थान के राजपूत नरेशों के बीच युद्धों में व्यतीत हुई। सोलहवीं शती के शुरू में मेवाड के राणा संग्रामसिंह (सांगा) ने दिल्ली के पठान साम्राज्य की अवनति और गुजरात और मालवा के आपसी युद्ध से लाभ उठा कर लगभग सारे राजस्थान पर अधिकार कर लिया, और इस प्रकार वह राजस्थान का पहला छत्रपति राजा कहलाने का अधिकारी बना। परन्तु उसे शीघ्र ही बाबर जैसे शत्रु से जूझना पडा, और १५२७ ई० में कनवाह (भरतपुर) की रणभूमि में सांगा की पराजय और मृत्यु के साथ संयुक्त राजस्थान की तत्कालीन सम्भावना और स्वतंत्र भारत का स्वप्न समाप्त हो गया।

राजस्थान में राजपूतों का नेतृत्व अब जोधपुर के राठौरों के हाथ में आया। बाबर की मृत्यु के बाद उसके बेटे हुमायूँ और बिहार के पठान सरदार शेरशाह के संघर्ष से लाभ उठा कर जोधपुर नरेश मालदेव ने अजमेर तक अपने राज्य को विस्तार दिया। १५४४ ई० में शेरशाह के आक्रमण करने पर अजमेर के निकट राठौरों ने उसे इतनी भीषण क्षति पहुँचाई कि उसने राजस्थान की ओर बढ़ने का विचार ही त्याग दिया।

आखिर राजस्थान में अकबर की नीति सफल हुई। उस ने राजपूतों के साथ वैवाहिक सम्बंध स्थापित करने की मैत्रीपूर्ण नीति द्वारा मेवाड़ के सिसोदिया वंश के सिवा शेष सब राजपूत वंशों को अपने साथ मिला लिया। मेवाड़ के राणा उदयसिंह ने अकबर द्वारा पीड़ित मालवा के शासक बाजबहादुर को शरण दी थी। इस बहाने अकबर ने १५६७ में चित्तौड़ पर चढ़ाई कर,राणा को पहाड़ों में छुपने पर बाध्य कर दिया। मेवाड़ पतन से प्रभावित हो कर जोधपुर, बीकानेर और अनेक छोटे-छोटे राजपूत राज्य स्वतः ही मुगल आधिपत्य के अधीन हो गए, केवल मेवाड़ का राणा उदयसिंह, जो अरावली की पहाड़ियों में उदयपुर की नई राजधानी स्थापित कर राज्य कर रहा था, स्वतंत्र था।

१५७२ ई० में उदयसिंह की मृत्यु पर उसका पुत्र राणा प्रताप गद्दी पर बैठा। प्रताप और अकबर के संघर्ष की कहानी भारत की अमर वीरगाथाओं में से एक है। हल्दीघाटी के घोर संग्राम की स्मृति से आज भी भारतवासियों के दिल उद्वेलित हो उठते हैं। अरावली की पहाड़ियों में प्रताप के अमानुषिक कष्टों और दीर्घकालीन गुरीला युद्ध के आधार पर देश की प्रत्येक भाषा में महान साहित्य की रचना हुई है। प्रताप जीवन-पर्यन्त स्वतंत्र ही रहे, और अंत में उदयपुर और मेवाड़ के बहुत बड़े भाग पर फिर से अपनी विजय-पताका फहराने में सफल हुए। इस स्वतंत्रता-प्रेम और वीरता के लिए भारतीय इतिहास में प्रताप का स्थान अद्वितीय है।

प्रताप के बाद उनके पुत्र राणा अमरसिंह को आखिर १६१४ ई० में जहाँगीर के आगे हथियार डालने पड़े, परन्तु वह व्यक्तिगत रूप से मुगल सम्राट के समक्ष उपस्थित नहीं हुए। उसके बाद भी मेवाड़ के राणा मुगल दरबार में कभी नहीं गए, यद्यपि वे मुगल प्रभुसत्ता को स्वीकार करते रहे, और मुगल सेनाओं में सेवा के लिए मेवाड़ का सैनिक दल बराबर आता रहा।

अकबर के समय से ही राजपूत नरेश और सामंत विभिन्न राजकीय पदों पर नियुक्त होने लगे थे। आम्बेर के कछवाहों और जोधपुर के राठौरों को मुगल दरबार में विशेष सम्मान प्राप्त हुआ। जहाँगीर और शाहजहान दोनों राज-

पूत माम्रों के बेटे थे। दोनों ने कम या अधिक राजपूतो के साथ मित्रता बनाए रखी। शाहजहान अपने निर्वासन के दिनों में सम्राट बनने तक मेवाड नरेश के आश्रय में रहा था। उसके राज्य काल में आम्बेर का मिर्जा राजा जयसिंह प्रथम मुग़ल दरबार पर पूरी तरह हावी था। मुग़ल घुडसवार सेना अधिकतर राजपूत थी। एक काल में मुग़ल सेनाओं में ४७ राजपूत रिसाले थे, जिन की वीरता और आक्रमण क्षमता समस्त भारत में प्रसिद्ध थी।

परन्तु दुर्भाग्यवश औरंगजेब ने अपनी धर्मांधता के फलस्वरूप राजपूतों की सहानुभूति सदा के लिए खो दी। उत्तराधिकार की लडाइयों में राजपूतों ने साधारणत दारा का साथ दिया था, जो मा की ओर उनका सम्बधी था। बाद में पश्चिमोत्तर सीमा क्षेत्र में जोधपुर नरेश जसवंतसिंह के बाद उनके नवजात पुत्र अजीतसिंह के विषय मे औरंगजेब के छल-कपट के कारण राजपूतों मे विशेष असंतोष फैला। वीर दुर्गादास की कहानी उन्ही घटनाओं से सम्बद्ध है। अंतिम दिनों में सिसोदिया और राठौरों ने उसे नाकों चने चबवाए। औरंगजेब की मृत्यु के बाद राजपूतों ने फिर एक बार संयुक्त होकर शाह आलम बहादुरशाह का साथ दिया, जो राजपूत मा का बेटा था। परन्तु राजपूतों की यह एकता ज्यादा दिन चल न सकी। इसी बीच मरहठों का युग आ गया।

दिल्ली पर नादिरशाह के आक्रमण और मुग़ल साम्राज्य के पतन से लाभ उठा कर जोधपुर और जयपुर नरेशों ने अपने राज्यों का विस्तार देना आरम्भ किया। फर्रुखसीयर ने जोधपुर पर चढाई की थी, और जोधपुर नरेश की बेटी से अपना विवाह रचाया था। उसी युग में राजस्थान के एक योग्य नरेश जयपुर के जयसिंह द्वितीय हुए, जिन्हें औरंगजेब द्वारा 'सवाई जयसिंह' की उपाधि दी जाने की घटना प्रसिद्ध ही है। उन्होंने जयपुर नगर का आधुनिक ढंग से निर्माण कराया, और ज्योतिष विद्या में अपनी अत्यधिक रुचि के कारण कई वेधशालाओं की स्थापना की।

दिल्ली में सय्यद भाइयों के वध के बाद जोधपुर नरेश ने फिर एक बार अजमेर पर अधिकार कर लिया। तब समस्त राजस्थान में जोधपुर राज्य सब से ज्यादा शक्तिशाली हो उठा। परन्तु १७५६ ई० में जोधपुर की गद्दी के

झगड़े मे एक दावेदार ने मरहठो को बुला लिया। तब से राजस्थान अराजकता की भेंट हो गया। इसी बीच जाटो का उत्थान हुआ, और सूरजमल ने भरतपुर के जाट राज्य की स्थापना की। एक कछवाहा राजकुमार प्रतापसिंह ने १७७१ ई० मे अलवर का नया राज्य स्थापित किया। ये सब राज्य मुग़ल साम्राज्य के साथ ही डूबे। १८०३ ई० तक प्रायः सारे राजस्थान पर मरहठा आधिपत्य हो गया। परन्तु मरहठो ने अन्य स्थानो की तरह राजस्थान मे अपने प्रभुत्व को केवल चौथ आदि वसूल करने तक ही सीमित रखा, कोई विशेष प्रशासन-व्यवस्था स्थापित न की। अंग्रेज़ो ने इस स्थिति से लाभ उठा कर मरहठा शक्ति का अंत किया, और राजस्थान के नरेशो को एक एक करके अपने अधीन कर लिया। १८५७ के विद्रोह मे राजपूत सैनिको ने कही-कही अंग्रेज़ो के विरुद्ध हथियार उठाए, परन्तु राजपूत नरेश प्राय. सभी अंग्रेज़ो से मिले रहे। इस प्रकार इन राजाओ के छोटे छोटे राज्य सुरक्षित रह गए। सम्पूर्ण ब्रिटिश युग मे यह प्रदेश अनेक रजवाड़ो मे बटा हुआ पिछड़ा और उपेक्षित रहा। यहाँ राजनीतिक और सामाजिक चेतना न होने के बराबर थी, यहाँ तक कि 'राजस्थान' नाम का कोई राजनीतिक महत्व ही नही रह गया था। इस स्थिति का अत स्वतत्रता-प्राप्ति के बाद देसी राज्यो के उन्मूलन और वर्तमान जनतन्त्रीय राजस्थान की स्थापना के साथ ही हुआ।

राजपूत

राजस्थान को राजपूतो का देश कहा जाता है, यद्यपि उन्हें कही भी बहुमत प्राप्त नही है। वे समस्त राजस्थान मे एक चौथाई से अधिक नहीं होगे। 'राजपूत', जैसा कि उनके नाम से ही प्रकट है, 'राजपुत्र' अर्थात राजाओ की सतान हैं। इस नाम का प्रयोग मुसलमानी आक्रमण-काल से आरम्भ हुआ। उससे पूर्व संस्कृत महाकाव्यो मे 'राजपुत्र' और 'राजपुत्री' आदि शब्दो से क्षत्रिय तथा क्षत्राणी का ही बोध होता है। ये लोग राजस्थान के परम्परागत चले आ रहे राजा, सरदार और सामत रहे हैं, और एक वर्ग अथवा जाति विशेष के रूप मे आज प्राय सारे ही भारत मे मिलते हैं। शतियो तक देश के

बहुत बड़े भाग पर राजपूत राजवंशो का राज्य रहा है। आज भी भारत के प्राय सभी सामंती वंश अपना सम्बन्ध राजपूतो से जोड़ते हैं।

असल म पुराने क्षत्रिय ही आज के राजपूत हैं, अर्थात पुराने क्षत्रिय वंश अब या तो राजपूत कहलाते हैं, अथवा शस्त्र त्याग कर 'खत्री' हो गए हैं। 'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग अब साधारणतः राजपूतो के लिए ही होता है। इस दृष्टि से 'क्षत्रिय' और 'राजपूत' पर्यायवाची शब्द हैं, यद्यपि सभी राजपूत विशुद्ध आर्य क्षत्रिय नहीं हैं। उन मे बाद के शासक वंशों, विशेषकर शक, गुर्जर और शायद हूण का भी काफ़ी सम्मिश्रण है, ऐसा विद्वानो का मत है।

परम्परा के अनुसार राजपूतों की उत्पत्ति प्राचीन क्षत्रियो के 'सूर्य-वंशी' और 'चन्द्र-वंशी' कहलाने वाले राज वंशो से ही मानी जाती है। इनके अलावा तथाकथित अग्निकुल के राजपूत हैं, जो कभी-कभी सूर्य वंशी गिने जाते हैं। परन्तु कुछ इतिहासज्ञों के अनुसार ये अग्निकुल के राजपूत ही सम्भवत वह विदेशी तत्व हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है।

सूर्य वंशी राजपूत अपनी उत्पत्ति सूर्यदेव के बेटे इक्ष्वाकु मनुदेव से और अपना उद भव-स्थान अयोध्या को बतलाते हैं। इनम उदयपुर के सिसोदिया, जोधपुर के राठौर और जयपुर के कछवाहा वंश प्रमुख हैं। सिसोदिया स्वय को श्रीराम के पुत्र लव के संततिक्रम म तथा कछवाहे अपने को दूसरे पुत्र कुश के संतति-क्रम म मानते हैं। राठौरो का सम्बन्ध महा राष्ट्र के राष्ट्रकूटो से बतलाया जाता है। चन्द्र वंशी राजपूतों में जैसलमेर के भाटी, दिल्ली के तोमर अथवा तँवर और कच्छ-सौराष्ट्र के यादव गण गिने जाते हैं।

अग्निकुल की उत्पत्ति पौराणिक कथा के अनुसार अग्निकुड से हुई थी। महाभारत-काल के बाद जब धरती पर राक्षसो का आधिपत्य हो गया, और धर्म ग्रंथों का अपमान होने लगा, तब वशिष्ठ मुनि ने सब देवताओ को अर्बुद (आबू) पर्वत पर एकत्रित करके एक महान यज्ञ किया। उनके द्वारा यज्ञ-कुंड म फैंकी गई घास की चार मूर्तियाँ वेद-मंत्रों के चमत्कार से सप्राण होकर बाहर निकली। उन्हीं से चार वंशों की उत्पत्ति हुई, जो परमार अथवा पँवार,

चालुक्य अथवा सोलकी, प्रतिहार अथवा पडिहार और चौहान अथवा चौहान कहलाए। इस कथा का यह अर्थ लिया जाता है कि हूणो के आक्रमण के बाद आर्य ब्राह्मणों ने चार विदेशी सम्भवत सिथियन् (शक) या गुर्जर सरदारो को एक विशेष यज्ञ द्वारा आर्य धर्म मे प्रविष्ट किया। परन्तु कई आधुनिक विद्वान इस मत को स्वीकार नही करते।

उपर्युक्त प्रमुख राजपूत वशो के अलावा कई अन्य वश भी हैं, जो राजपूतो और स्थानीय आदिवासी सरदारो के बीच वैवाहिक सम्बन्धो से उत्पन्न हुए हैं, जसे बघेल, बदेल और झाला आदि। कुल मिलाकर राजपूतो म ३६ राजवश चलते हैं, जिन मे कभी-कभी जाट, अहीर और गूजर सरदारो को भी सम्मिलित कर लिया जाता है। वास्तव म राजपूत राजाओ ने अपने वश इतनी दूर-दूर तक फैलाए हैं कि अब इस जाति नाम का कोई विशेष महत्व ही नही रह गया है। राजस्थान की तो प्राय सभी जातियाँ अपना विकास राजपूतो से बतलाती हैं।

विशुद्ध राजपूत साधारणत लम्बे कद, स्वच्छ रग और भारी शरीर वाले सुन्दर स्वस्थ और सुगठित लोग होते हैं। बडी-बडी घुमावदार मूँछें और कभी कभी विशेष प्रकार की कटी हुई दाढी रखना इन का प्रिय फैशन है। यह भारत के सर्वश्रेष्ठ घुडसवार माने जाते है। शत्रु को पीठ दिखाना अथवा युद्ध म कोई नीचता पूर्ण कार्य करना इनके स्वभाव के सर्वथा विरुद्ध है। शरण मे आए हुए शत्रु के साथ ये दया का बर्ताव करते हैं, परन्तु सीधी लडाई म अत्यन्त कठोर और अत्याचारी भी बन सकते हैं।

ये प्रकृति से वीर, लडाके और अहकारी लोग हैं। गरीब से गरीब राजपूत को भी अपने जन्म और जाति का गर्व होता है। ये व्यक्तिगत तथा जातीय मर्यादा के लिए प्राणो तक की बलि देने को सर्वथा तत्पर रहते हैं। ये जैसे तलवार के धनी रहे हैं, वैसे ही ये बात के भी धनी है। जो कुछ कहते हैं, उसे कर दिखाने के लिए जान की बाजी लगा देते हैं। यह हद से बडी हुई दृढता और सत्य प्रियता बहुधा व्यर्थ की जिद्द और मूर्खता का रूप भी धारण कर जाती है, जिससे इतिहास मे अनेको बार बडा अनर्थ हुआ है। अपने पूरे

इतिहास मे वे निरतर गृह युद्धो मे अपनी शक्ति का अपव्यय करते रहे। राजपूतो की अवनति के कारणो मे उनके उन गणो का भी काफी हाथ रहा है, जिन पर उन्हे विशेष गर्व है। फिर वे जितने वीर हैं, उतने ही आलसी और विलास-प्रिय भी हैं। उनके यहा अफ़ीम की चुस्की लेने की आदत एक परम्परा सी बन गई थी। पुत्री-हत्या की बर्बर प्रथा भी इन मे प्रचलित रही है। मद्य-पान का तो आज भी बहुत चलन है। पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, कलह और स्थायी असहयोग तथा जातीय अभिमान उनकी घुट्टी मे पडे हैं। इन्ही सब कारणो से वे कभी अच्छे राजनीतिज्ञ अथवा कुशल प्रशासक न बन सके।

उच्च वर्ग के राजपूतो में पुरानी परम्पराएँ अभी तक बनी हुई हैं। परन्तु एक वर्ग अथवा जाति विशेष के रूप मे यह लोग अब मुख्यत अतीत के गौरव पर ही जी रहे हैं। सैनिक अथवा राजकीय कार्यों के अलावा और किसी आधुनिक कार्य क्षेत्र मे यह अग्रणी नही हैं। सामतवाद इन मे कूट-कूट कर भरा हुआ है। भूमि हीन राजपूत की कोई इज्जत नही है। ऐसे लोग 'हलखड' अर्थात हल जोतने वाले कहलाते हैं। इसलिए छोटी-सी भूमि का मालिक भी सामान्य पूर्वजो के नाते स्वय को बडे से बडे भूस्वामी और सामत के बराबर समझता है। वह सामतो का सा रख-रखाव और आडम्बर रचाए रखता है। राजस्थान की भूस्वामी समस्या, जो पूरी तरह अभी हल होने मे नही आई है, राजपूतो के इसी सामती निखट्टूपन का एक प्रकट उदाहरण है। अन्य प्रदेशो के राजपूतो ने अवश्य कुछ आधुनिक योग्यताओ का परिचय दिया है।

राजपूत पुरुषो की तरह उनकी स्त्रियां भी अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध हैं। 'जौहर' की रस्म् राजपूत नारी की एक ऐसी परम्परा रही है, जो समूचे जगत म और कही भी देखने मे नही आई। वास्तव म किसी भी देश का नारी-चरित्र राजपूतानी के चरित्र की समानता नही कर सकता। पति-पुत्र को शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित कर सहर्ष रण-क्षेत्र मे भेजना उनका धर्म था। तथा मान-मर्यादा की रक्षा के लिए अथवा अपने पुरुषों के पराजित होने पर जीते-जी चिता में जल मरना उनके लिए एक साधारण बात थी।

पश्चिमी क्षेत्रो के कुछ मुस्लिम राजपूतों तथा मेवातियो को छोडकर शेष

प्रमुख हैं। इनमें चारण अथवा भाट ही राजस्थान की विशिष्ट जाति हैं, और कई दृष्टियो से विशेष रोचकता लिए हुए हैं। यह लोग राजाओ के यश का बखान करने वाले परम्परित कवि और वश की कीर्ति गाने वाले घुमक्कड लोग थे। 'भाट' शब्द को कही-कही खुशामदी का पर्याय भी माना जाता है। सम्भवतः इन लोगो का काम बाद के युग मे कुछ प्रशसनीय नहीं समझा गया। इसलिए ब्राह्मणों की ही एक शाखा होने के बावजूद इन्हें समाज में अधिक ऊँचा स्थान प्राप्त न रहा। यह लोग कही-कही स्वयं को क्षत्रियो मे गिनते हैं। पूर्व काल मे यह राजाओ के भेदो के ज्ञाता और परामर्शदाता रहे हैं। कहते हैं कि यह बडे हठी और कठोर याचक होते हैं।

परन्तु राजस्थान के जिन लोगों से अन्य भारतीयो का सब से ज्यादा सम्पर्क रहता है, वे हैं यहाँ के वैश्य महाजन, जो सारे भारत मे 'मारवाडी' के सुपरिचित नाम से विख्यात हैं। यह नाम राजस्थान के सभी भागो के व्यवसायियो के लिए सामान्यतः प्रयुक्त होता है। यह लोग शताब्दियो से साहूकार, पूंजीपति और कुशल व्यवसायी चले आ रहे हैं। वर्तमान भारत में यह एक धन-सम्पत्ति-युक्त और अत्यत प्रभावशाली वर्ग के रूप मे प्रतिष्ठित हैं। भारत के उद्योग-धन्धों पर इनका विशेष आधिपत्य है। इस कारण यह देश की राजनीति मे भी भारी प्रभाव रखते हैं। कलकत्ता इन का प्रधान गढ है। वहाँ की प्रायः आधी भवन-सम्पत्ति और व्यापार वाणिज्य पर इनका एकाधिकार है। डालमिया, बिड़ला, पोद्दार, जालान, मूंदडा, कनोरिया, मुरारका, गोयका और सिंघानिया आदि व्यापारिक जगत के सब बडे नाम मारवाडियो के हैं।

मारवाडी अधिकतर जैन धर्मावलम्बी हैं, परन्तु वैष्णवो की सख्या भी बहुत बडी है। राजस्थानी महाजनों मे बडी-बडी उपजातियाँ ओसवाल, अग्रवाल, पोरवाल, सरावगी, माहेश्वरी और श्रीमाल हैं। इनमे से 'मारवाड़ी' कहलाने वाले लोग ज्यादातर ओसवाल और अग्रवाल हैं। राजस्थानी अग्रवाल बहुत धनवान लोग हैं, और ऊँच नीचकी दृष्टि से 'दस्से', बिस्से आदि कहलाते हैं। इनके यहाँ साँप की बड़ी प्रतिष्ठा है। और यह सब लोग कट्टर अहिंसावादी और निरामिष-भोजी हैं। ब्याह-शादी के सम्बधो मे यह धर्म का विचार नहीं करते,

अर्थात जैन और वैष्णव अग्रवालों के बीच शादियां होती हैं।

धनी वर्ग होने पर भी मारवाड़ियों में शिक्षा और आधुनिकता का प्रचार अपेक्षया कम ही है। नारी-शिक्षा के क्षेत्र में यह विशेषकर बहुत पिछड़े हुए हैं। यों भी मारवाड़ी समाज अत्यंत अन्धविश्वासी और रूढ़िग्रस्त समाज है। फलित ज्योतिष और शुभाशुभ में अटल विश्वास और दान-पुण्य के साथ-साथ व्यभिचार और विलासिता की व्याधियां इनके यहां आम हैं। और यद्यपि इन में समय-समय पर समाज सुधार के आन्दोलन चलते रहते हैं, परन्तु उनका कोई स्थायी प्रभाव अभी देखने में नहीं आया। इस दशा में मारवाड़ी तरुण वर्ग की चेष्टाएं अवश्य आशाप्रद हैं।

आदिवासी

राजस्थान के आदिवासियों में 'मीना,' मेव, 'मेर' 'ग्रासीया' और भील उल्लेखनीय हैं। दक्षिणी क्षेत्रों में भीलों की काफ़ी संख्या है। 'भील' द्राविड शब्द 'बिल्लु' से निकला हुआ माना जाता है, जिसका अर्थ धनुष है। यह लोग भारत के प्राचीनतम निवासियों में से हैं, और सम्भवत आस्ट्रिक (नाग) नस्ल से हैं। पुराने ग्रंथों में इन का प्राय उल्लेख पाया है। यह एक वीर जाति है। और वर्तमान भारत के लगभग सारे ही मध्य और पश्चिमी भाग में एक जगली जन-जाति के रूप में मिलते हैं। राजस्थान में यह छोटे छोटे गांवों में, जिन्हें 'पाल' कहते हैं, अलग-अलग पहाड़ियों पर झोपड़े बना कर रहते हैं। ये आज भी तीर-कमान से शिकार करते हैं, अथवा भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों पर पुराने ढग से खेती करते हैं। इनका धर्म और रहन सहन गोंड, शबर आदि अन्य मध्य भारतीय आदिवासियों जैसा ही है। 'मीना' लोग राजस्थान के असल आदिवासी हैं। इनमें जो 'प्रोसर' कहलाते हैं, वे स्वय को विशुद्ध मीना बतलाते हैं। बाकी लोग राजपूतों और गूजरों से मिले-जुले हैं। मीना सरदार किसी समय वर्तमान जयपुर क्षेत्र के राजे हुआ करते थे। 'आम्बेर' उनकी राजधानी थी, जो उन के बाद भी प्राय छ: शताब्दियों तक इसी नाम से चलती रही। कछवाहे राजपूतों ने उन्हें यहां से हटा कर अपना राज्य स्थापित किया था।

तभी से यह लोग एक दलित वर्ग के रूप में चोरी आदि से अपना पेट पालते आ रहे थे। अभी हाल तक 'मीना' और चोर पर्यायवाची शब्द समझे जाते थे। अब भी कभी-कभी मीनाओं के उपद्रव के समाचार मिलते रहते हैं। मीना प्राय. ६७ प्रतिशत हिन्दू हैं, परन्तु जोधपुर में 'ढेडिया' नाम का एक कबीला गोमास-भक्षी है।

'मेव' और 'मीना' पहले एक ही थे। परन्तु मुसलमानी राज्य-काल में जब मेवो ने अधिकाधिक इस्लाम धर्म ग्रहण करना आरम्भ किया, तब उनके और अन्य मीनाओं के बीच सम्बध टूट गए। कुछ लोग मेवाड को मेवो की मूल भूमि बतलाते हैं, जहाँ से सिसोदिया राजपूतो ने उन्हे भगाया। अब यह लोग दक्षिण-पूर्वी पजाब, उत्तर-प्रदेश और राजस्थान के सीमावर्ती क्षेत्रो मे रहते हैं, और नाम मात्र को मुसलमान हैं। यह अपने इलाके को 'मेवात' और स्वय को 'मेवाती' कहते हैं। कुछ लोगो की धारणा है कि मेवात सस्कृत 'मीनावती' का ही अपभ्रश है। मीनाओ को 'अमीन मेव' भी कहते हैं, अर्थात् वे मेव, जो *मुसलमान नहीं हुए। सभी मेव, मीना और मेवाती (मुसलमान मेव) स्वय को* यादव वशी राजपूतो मे गिनते हैं, परन्तु अन्य राजपूत और हिन्दू पडित ऐसा नहीं मानते। 'मेर' (पहाडी) भी इन्ही मे सम्मिलित हैं। यह लोग पहले अजमेर और जोधपुर आदि क्षेत्रो के निवासी और भूस्वामी थे। उन्हे राजपूतो ने अपने अधीन किया। प्रादेशीय दक्षिण मे गुजरात के निकट मिलते हैं।

मेवातियों मे आज भी पुराने हिन्दू रीति रिवाज, नाम और त्योहार चले आ रहे हैं। यह पहले बड़े उद्दड और उपद्रवी लोग थे। पुराने ज ने में इनकी जाटो से अक्सर ठनी रहती थी। परन्तु १८५७ के सिपाही-विद्रोह म इन्होंने जाटो और गूजरो के साथ मिलकर अंग्रेजो को बडी हानि पहुँचाई, जिसके दड-स्वरूप अंग्रेजी सरकार ने इन्हे बुरी तरह उपेक्षित रखा। फलत यह पिछड़े हुए दलित वर्गों मे गिने जाने लगे। १६४७ के साम्प्रदायिक दगों मे गुड़गाँव क्षेत्र *के मेवाती प्राय सब के सब पाकिस्तान चले गए थे, परन्तु अपने हिन्दुआना* नामों और आचार विचार के कारण वहाँ टिक न सके। शीघ्र ही गाधी जी और अन्य कांग्रेसी नेताओं की चेष्टाओं से वे फिर भारत लौट आए, और

अपने पुराने गांवों में बस गए। गुडगांव के यह मेवाती ही अब पूर्वी पंजाब में एक मात्र मुसलमान वर्ग रह गए हैं।

वस्त्र और भोजन

राजस्थान की प्रत्येक जाति का रहन-सहन, वस्त्र और भोजन भिन्न-भिन्न है। इसलिए किसी एक वस्त्र विशेष अथवा भोजन को 'राजस्थानी' कहना जरा कठिन ही है। फिर भी साधारणतः राजपूती पोशाक और खान-पान को ही 'राजस्थानी' कहा जाता है। इसी में कुछ एकरूपता है, अन्यथा शेष सब लोग बहुत ज्यादा विविध प्रकृति के हैं।

अवश्य यहां की जनता की एक सामान्य विशेषता—सम्भवतः नीरस मरुस्थलीय वातावरण के कारण—रंगों के प्रति उनका अगाध प्रेम है। यहां विभिन्न प्रकार के छपे हुए तथा रंगदार कपड़ों का बहुतायत से प्रयोग होता है। इससे यहां रंगरेज का विशेष महत्व है, और कपड़ों की रंगाई-छपाई का काम एक ललित कला के स्तर पर पहुंच गया है। जैसी सुन्दर और विचित्र रंगाई राजस्थान में होती है, वैसी और कहीं भी देखने को नहीं मिलती।

आम जनता के साधारण वस्त्र में छोटी पगड़ी, जिसे 'पोतिया' कहते हैं, धोती और कमर तक का छोटा अंगरखा अथवा सदरी और चादर शामिल हैं। धोती के एक छोर का कमरबन्द बना लिया जाता है, अथवा दो लांगों वाली चुस्त धोती बांधी जाती है। पगड़ी बांधने का ढंग हर जाति का अपना अलग है। बहुधा पगड़ी के प्रकार से ही जाति का संकेत मिल जाता है। फिर क्षेत्रीय भिन्नताएं भी हैं, जैसे मारवाड़ की पगड़ी अलग है और मेवाड़ की अलग। मारवाड़ी सेठों की पचासों पेंचों वाली गोल पगड़ी अपनी अलग विशेषता रखती है। परन्तु राजपूती पगड़ी या साफा ही सर्वश्रेष्ठ है। यह एक प्रकार से राजस्थान की प्रतिनिधि वस्तु है। इसके सामान्य आकार से सभी परिचित हैं। यह एक ओर को झुकी रहती है, जिससे एक कान पूरा ढक जाता है, और दूसरी ओर पगड़ी सीधी खड़ी रहती है। यह बलिष्ठ युवकों के सिर पर बहुत सजती है।

राजस्थान में सम्भवतः राजपूत नृपवर्ग के प्रभाव से शिरोवेष्टन का

बहुत प्रचार रहा है। आज भी नगे सिर फिरना निन्दनीय समझा जाता है। पगडी के भिन्न-भिन्न रूप हैं, और उन्ही के अनुसार उसके भिन्न भिन्न नाम भी हैं। जैसे मारवाड मे पेचा, फेंटा, पागडी, पोतिया और पाग आदि शब्द पगडी के ही पर्यायवाची हैं। पगडी की लम्बाई ३०-३५ हाथ तक पहुँच जाना आश्चर्य की बात नहीं, परन्तु चौडाई ६ इंच से अधिक नहीं होती। पगडियो मे चुचदार, खिडकिया, खुरेदार और गोल विशेष उल्लेखनीय हैं। साफा बहुत छोटा होता है। उसके भी कई नाम हैं, जैसे चुन्दडीदार, लहरिया और माटरणेदार इत्यादि। मारवाडी लोग जो खास किस्म की छत्ता-नुमा पगडी बाँधते हैं, उसी को टूसदार या चूचदार पगडी कहते हैं। वास्तव में पगडी ही राजस्थान का गौरव है।

राजस्थानी वस्त्र हिन्दू मुसलमान सब के लिए एक सा है। परन्तु पूर्वकाल मे अगरखे मे परदे की स्थिति से हिन्दू मुसलमान का भेद किया जा सकता था, अर्थात् हिन्दुओं की अगरखी मे परदा दाई ओर खुलता था, और मुसलमानो की अगरखी मे बाँयी ओर। अगरखा साधारणत: 'कसो वाला' ही बनता है, अर्थात् उसे 'तणिया' बाँध कर बन्द किया जाता है, बटनो का प्रयोग नही होता। ब्राह्मण लोग गले म एक छोटा सा कपडा डाल लेते हैं, जिसे 'दुपटी' कहा जाता है।

परन्तु जैसा कि बताया गया, राजपूती वस्त्र ही सर्वप्रधान है। इसमे लम्बा कुर्ता अथवा घुटनो तक का अगरखा रहता है, और धोती के स्थान पर प्राय: चूडीदार पायजामे का प्रयोग किया जाता है। कमर के गिर्द कमरबन्द बाँधा जाता है, और कधे अथवा साफे के ऊपर रुमाल रखा जाता है। यही राजपूती वस्त्र मुगल काल का दरबारी वस्त्र था, और आज भी समस्त उत्तर-भारत म विवाह के समय दुल्हा को पहनाया जाता है। यही वस्त्र आगे चलकर आधुनिक अचकन या शेरवानी और चूडीदार पायजामे के रूप म सभी भारतीय भद्र पुरुषों का औपचारिक वस्त्र बना। और अब वैधानिक रूप से स्वतत्र भारत के राष्ट्रीय वस्त्र के पद पर आसीन है। इस दृष्टि से यह भारत को राजस्थान की सबसे मूल्यवान देन है। भारत में राजकीय स्तर पर कार्य-वस्त्र के रूप में पतलून के साथ बन्द गले का जो कोट प्रचलित किया गया है, वह भी राज-

स्थान की ईजाद है। यह 'जोधपुरी कोट' कहलाता है, और पहले ब्रिजेस के साथ अधिक पहना जाता था।

पुरुषों की तरह राजस्थान की स्त्रियों के वस्त्र भी भिन्न भिन्न हैं। परन्तु उच्च वर्ग मे साधारणतः राजपूती वस्त्र ही प्रधान है। इसमें रंग-बिरंगे कपड़े का घाघरा या लहगा, आधे आस्तीनों वाली कुरता और छोटी चोली जिसमें पेट का भाग खुला रहता है, और ओढ़नी शामिल है। यह भारतीय सुन्दरी का परम्परित वस्त्र है। नृत्य और नाटक आदि में अभिनेत्रियों के लिए प्राय: इसी वस्त्र का प्रयोग किया जाता है। राजस्थानी स्त्रियों में साड़ी का रिवाज अपेक्षया कम है। साधारणत रंगीन घाघरा, जिसमें कभी-कभी ४० गज तक कपड़ा लग जाता, और लहगा या 'दावणी' का प्रचार ही अधिक है। शरीर के मध्य भाग पर कांचली' अथवा कँचुवा और अंगिया से केवल स्तनों को ढका जाता है। ऊपर से ओढनी या 'लोगडी' होती है। अधिक छपाई वाली ओढ़नी को चुंदडी (पंजाबी चुन्नी) भी कहते हैं। धनवान स्त्रियाँ सोने की छाप की चुंदडी ओढ़ती हैं। वास्तव में राजस्थानी वस्त्र इतने रंग-बिरंगे और विविध प्रकार के है कि उनकी गणना करना कठिन है। आभूषणों की भी यही स्थिति है। राजस्थानी औरतें सिर से पैर तक नाना प्रकार के जेवरों से ढकी रहती हैं। इस प्रकार यह लोग अपने शुष्क वातावरण में रंग पैदा करते हैं।

राजस्थान के ग्राम लोग बाजरा, ज्वार आदि मोटे अनाज का प्रयोग करते हैं। यह रोटी, खिचडी, दलिया आदि कई प्रकार से खाए जाते हैं। खाते-पीते लोगों में गेहूँ की रोटी, चावल और विशेष अवसरों पर मिठाई का कुछ अधिक रिवाज है। राजपूत, खत्री और कायस्थ लोग मांस खा लेते हैं। साधारणतः बकरे और जंगली सुअर का ही प्रयोग किया जाता है। परन्तु उच्च-वर्ग में मांसाहार का अधिक रिवाज नहीं है। राजस्थान की एक विशिष्ट वस्तु है मक्‍ई अथवा बाजरे के आटे की 'राबडी', जिसे खास-खास अवसरों पर सभी लोग बड़े चाव के साथ खाते हैं। तथाकथित 'मारवाडियों' का भोजन साधारण वैष्णव भोजन है। ब्राह्मण भी निरामिष-भोजी है। भोजन के विषय में राजस्थान की हिन्दी प्रदेश से कोई विशेष भिन्नता नहीं है। यों भी राजस्थान का

हिन्दी प्रदेश से निकट सम्बध है। साहित्यिक भाषा हिन्दी की सामान्यता के कारण सांस्कृतिक क्षेत्र में निरंतर आदान-प्रदान रहा है। जातीय और पारिवारिक सम्बध भी सदा से चले आ रहे हैं। इन सब कारणों से राजस्थान एक प्रकार से हिन्दी प्रदेश के भीतर ही आ गया है।

भाषा और साहित्य

राजस्थान की बोल-चाल की भाषा 'राजस्थानी' है, जिस का पूर्व रूप हिन्दी साहित्य में 'डिंगल' के नाम से प्रसिद्ध है। राजस्थानी बोलने वालों की संख्या डेढ करोड़ के लगभग है। यह पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी और गुजराती के सदृश शौरसेनी अपभ्रंश से निकली हुई एक आधुनिक आर्य भाषा है। परन्तु इसमें तत्सम् शब्दों का नितांत अभाव है, जो इसके पूर्ण विकसित न होने का चिन्ह है। इसकी लिपि देवनागरी है, पर व्यापारिक क्षेत्र में महाजनी (मुडिया) भी प्रयुक्त होती है। राजस्थानी की १६ बोलियां मानी जाती हैं, जिनके चार बड़े समूह हैं: मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती और मालवी। इनमें मारवाड़ी ही प्रधान है, और आधुनिक युग में इसी को 'राजस्थानी भाषा' की संज्ञा दी जाती है। इसके चार रूप हैं 'थली' (जोधपुर-जैसलमेर के मरुस्थल की बोली), 'मेवाड़ी' (उदयपुर की), 'बागड़ी' (उत्तर-पूर्वी बीकानेर की हरियानवी बांगरू से मिलती-जुलती) और 'शेखावाटी' (उत्तर-पश्चिमी जयपुर की)। 'जयपुरी' में दक्षिण-पूर्वी भाग की तोरावाटी बोली भी है। 'मेवाती' कहीं कहीं भी कहलाती है। यह अलवर, भरतपुर आदि के मेवों की ब्रज से मिलती-जुलती बोली है। झालावाड़, कोटा, और प्रतापगढ़ आदि के क्षेत्रों में मालवी बोली जाती है, जिसका मूल क्षेत्र मध्य भारत (मलावा) है। इन के अलावा ब्रज, खड़ी बोली हिन्दुस्तानी और उर्दू भी खूब चलती हैं।

अतीत में राजस्थानी का कोई निश्चित स्पष्ट रूप नहीं था। बहुत सी मिली-जुली बोलियों को सामूहिक रूप से 'राजस्थानी' कहा जाता था। यही कारण है कि राजस्थानी को कोई अलग भाषा न मानकर उसके पुराने साहित्य को साधारणतः हिन्दी के अन्तर्गत ही रखा जाता है। इस प्रकार पश्चिमी वर्ग

में राजस्थानी का स्थान प्रायः वैसा ही है, जैसा कि पूर्वी वर्ग में विहारी का है : दोनों भाषाएँ क्रमशः पश्चिमी और पूर्वी भारत को हिन्दी प्रदेश से मिलाने का कार्य करती हैं। और यद्यपि शुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से दोनों का क्षेत्र हिन्दी प्रदेश से बाहर है, परन्तु हिन्दी साहित्य के इतिहासकार इन्हें साधारणतः हिन्दी के विस्तृत परिवार में सम्मिलित कर लेते हैं, और इनके प्राचीन साहित्य पर— राजस्थानी के विषय में विशेषकर अपना हक जतलाते हैं। हिन्दी में वीरगाथा काल का प्रायः सारा ही साहित्य, जो 'रासो' कहलाता है, राजस्थानी में है। इसी को राजस्थानी का आदि साहित्य माना जाता है। यह अवश्य बहुत प्राचीन और विशाल है। राजस्थानी साहित्य का ऐतिहासिक महत्व विशेषकर अतुल है। 'रासो' के अलावा ख्यात, वात, विगत, कुर्सीनामा, पीढ़ी, प्रकाश, विलास, रूपक वचनिका आदि काव्य ऐतिहासिक सामग्री से ओत-प्रोत हैं।

इस साहित्य में अनेक रासो ग्रन्थों की गणना की जाती है, जिन में दलपति विजय कृत 'खुमान रासो', नरपति नाल्ह कृत 'वीसलदेव रासो' और चन्द-वरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' विशेष प्रसिद्ध हैं। राजस्थानी के सभी रासो ग्रंथों को संदेहात्मक बतलाया जाता है। इस विषय में अब काफी खोज हो रही है।

राजस्थानी साहित्य मे काव्य के लिए ब्रज-भाषा के प्रयोग की परम्परा रासो काल से ही चल पड़ी थी। वह आगे चलकर मीरा के भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य में और अधिक विकसित हुई। मीराबाई राजस्थानी की सर्व प्रसिद्ध कव यित्री हैं। हिन्दी की कृष्ण-भक्ति परम्परा मे उनका अलग ही स्थान है। उन्हें 'हिन्दी काव्य की कोकिला' कहा जाता है, परन्तु उनकी भाषा मे राजस्थानी मिश्रित ब्रज भाषा के अतिरिक्त गुजराती, पूर्वी हिन्दी और खड़ीबोली के रूप भी मिलते हैं। वास्तव में उनकी भाषा मारवाड़ी थी, परन्तु इस समय उनकी जो पदावली उपलब्ध है, उसमे राजस्थानी और ब्रज का ही मिश्रण है, परन्तु इन रचनाओं मे कितना अंश स्वयं मीरा का है. यह निश्चित नहीं है।

मीरा की सम्पूर्ण कविता गेय पदों मे मिलती है। इसलिए यह साहित्य

के साथ-साथ भारतीय सगीत की परम्परा मे भी महत्व-पूर्ण स्थान रखती है। भजन के क्षेत्र मे मीरा की शैली स्वय मे एक अलग सगीत-रूप है, और आज भी समस्त भारत मे सर्वोत्तम मानी जाती है।

राजस्थानी में गद्य का साहित्यिक विकास पहले न होने के बराबर था। पुरानी राजस्थानी गद्य के जो उदाहरण उपलब्ध हैं, जैसे रावल समरसिह और महाराज पृथ्वीराज के कहे जाने वाले दान-पत्र आदि—उनकी प्रामाणिकता में सदेह किया जाता है। कुछ प्राचीन शिला-लेखो मे अवश्य तत्कालीन प्राकृत-मिश्रित राजस्थानी के नमूने मिलते हैं, परन्तु इनका कोई साहित्यिक महत्व नहीं है। बाद मे, वीरगाथा काल के उपरात, जब राजस्थानी काव्य-क्षेत्र मे भी पिगल-प्रधान ब्रज का प्रसार होने लगा, तब राजस्थानी डिंगल का स्वाभाविक विकास स्वत. ही रुक गया। वह प्रायः एक ग्रामीण भाषा बन कर रह गई। अत उस सारी अवधि मे, जबकि सम्पूर्ण उत्तर-भारत पर ब्रज का साम्राज्य रहा, राजस्थानी मे जो काव्य-साहित्य निर्मित हुआ, वह प्राय स्थानीय बोलियो का लोक-गीत-प्रधान ग्रामीण साहित्य था, इसलिए वह तथाकथित सभ्य समाज की साहित्यिक परम्परा मे उपेक्षित रहा। अन्यथा ये लोक-गीत, जो अधिकतर रण सम्बधी हैं अथवा प्रेम सम्बन्धी, राजस्थान की अमूल्य सांस्कृतिक निधि हैं। इसके सम्बन्ध मे महा-कवि ठाकुर ने एक बार कहा था—कुछ समय पूर्व कलकत्ते मे कुछ राजस्थानी मित्रो ने मुझे रण सम्बन्धी कुछ राजस्थानी गीत सुनाए। इन गीतो मे कितनी सरसता, सहृदयता और भावुकता थी। यह लोगो के स्वभाविक उद्गार हैं। मैं तो इन्हें सत-काव्य से उत्कृष्ट समझता हूँ। यह गीत ससार मे किसी भी भाषा के साहित्य का गौरव बढ़ा सकते हैं।

ब्रज के आधिपत्य के कारण राजस्थानी मे साहित्यिक गद्य के विकास का भी पूरा अवसर न मिला, यहाँ तक कि जब ब्रज के बाद खड़ी बोली का युग आया, और उसने उर्दू के बाद हिन्दी गद्य का निर्माण आरम्भ हुआ, तब राजस्थान ने अपने आधुनिक गद्य और राज-कार्य के लिए सहज ही में खड़ी

बोली को अपना लिया।

वर्तमान युग में राजस्थानी भाषा और साहित्य को पुनर्जीवित करने के लिए प्रशसनीय प्रयत्न हो रहे हैं। इस क्षेत्र मे अनेक राजस्थानी साहित्यकारो ने, जिन मे कुछ तो केवल राजस्थानी मे ही लिखते है, अपना नि स्वार्थ योगदान दिया है। उदाहरण के लिए ठाकुर चन्द्रसिह ने राजस्थानी मे पूरे-पूरे काव्य सग्रह निर्मित किए हैं। रानी लक्ष्मीकुमारी चूडावत का नाम तो भारत-विख्यात है। उन्होंने राजस्थानी लोक-गीतो के आधार पर आधुनिक काव्य साहित्य प्रस्तुत किया है। अर्वाचीन साहित्य के लिए कन्हैयालाल सेठिया ने राजस्थानी मे गीत लिखे हैं। उनकी 'पृथ्वीराज' और राणा प्रताप' कविताएँ प्रसिद्ध हैं। इनके अलावा सेतदान चरण, प्रेम चन्द्रावल 'निरकुश' मेघराज मुकुल और स्वर्गीय मनुज देवपावत आदि कवियो ने राजस्थानी में प्रगतिशील विचार-धारा को जन्म दिया। नृसिंह राज पुरोहित और श्रीमतकुमार व्यास ने लोक गीतों के ढग पर उत्कृष्ट नई कविताएँ प्रस्तुत की।

राजस्थानी गद्य मे भी अब बहुत सा आधुनिक साहित्य अस्तित्व मे आ गया है। कहानी, उपन्यास और एकाकी नाटको के क्षेत्र म मुरलीधर जी व्यास, बदरीप्रसाद साकरिया, नृसिह राज पुरोहित, यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', नानूराम, भगवतीप्रसाद और गोविन्द माथुर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। मुरलीधर का कहानी सग्रह 'वर्ष गाठ' और श्रीलाल नथमल जोशी का उपन्यास 'आभय पटकी' आधुनिक राजस्थानी की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। इनके अलावा मनोहर प्रभाकर, मनोहर शर्मा और नारायणदत्त श्रीमाली अन्य प्रतिष्ठित राजस्थानी लेखक हैं।

राजस्थानी मे प्राचीन सस्कृत साहित्य का अनुवाद भी विशेष रूप से हुआ है। मनोहर शर्मा ने कालीदास के 'ऋतु सहार' का अनुवाद किया, और रामकिशोर व्यास ने रवीन्द्रनाथ की 'गीताजली' का उत्तम रूपातर प्रस्तुत किया। अभी हाल मे राजस्थानी के सुपरिचित कवि श्री विश्वनाथ शर्मा 'विमलेश' ने शेखावाटी बोली मे गीता का पद्यवद्ध अनुवाद किया है।

वास्तविकता यह है कि राजस्थान में राजकीय और साहित्यक स्तर पर एक मात्र हिन्दी और कहीं-कही उर्दू के प्रयोग से राजस्थान को अपनी बोलियो का स्वाभाविक विकास रूका सा रहा है, इनमें से मारवाड़ी में, जो राजस्थानी का सब से शुद्ध रूप और इस समय साहित्य-निर्माण का माध्यम है, पूर्ण साहित्यिक तथा शैक्षणिक भाषा बनने के सभी गुण विद्यमान हैं। परन्तु राजकीय मान्यता न मिलने के कारण इसमें साहित्य-निर्माण की प्रेरणा और प्रकाशन की सुविधाएं प्रकटतः सीमित ही हैं। वर्तमान युग में राजस्थानी के अपेक्ष्या अधिक पिछड़े रहने का मुख्य कारण यह राजकीय अमान्यता ही है, अन्यथा यह स्वय मे हीनतर अथवा असमर्थ भाषा नहीं है।

त्योहार

राजस्थान मे यों तो *उत्तर-भारत के सभी पर्वादि विधिवत मनाए जाते हैं,* परन्तु कुछ त्योहारों की यहां अलग ही बहार है। जून-जुलाई मे श्रावण सुदी 'तीज' के अवसर पर यहां की स्त्रियां विशेष उत्साह का प्रदर्शन करती हैं। दो दिन तक घरों मे देवी पार्वती की पूजा होती है, जिसके बाद देवी को बड़े आदर सम्मान के साथ विदा किया जाता है। यह त्योहार बरसात के स्वागतार्थ भी है। वर्षा ऋतु का जैसा स्वागत राजस्थान मे किया जाता है, वैसा देश के और किसी भी भाग मे नही होता। 'ऊनाले' (गर्मियो) की लुओ और आंधी के थपेड़ो से झुलसे *राजस्थान के देहात मे वर्षा की पहली झड़ी के साथ ही* आनन्द और उल्लास की लहरें उमड पड़ती हैं। ठीक समय पर वर्षा हो जाना ही राजस्थान के लिए एक बड़ा वरदान है। यहां के कितने ही लोक-गीत केवल वर्षा और जल की अभिलाषा को लेकर निर्मित हुए हैं। वर्षा के आगमन पर देहात मे सर्वत्र झूले पडते हैं, जिनम रग-बिरगे वस्त्र पहने राजस्थानी युवतियो विचित्र छटा दिखलाती हैं। प्रमुख स्थानों पर सजे हुए हाथियो, ऊंटों और घोडों के साथ देवी की भव्य शोभायात्रा निकलती है, जिसमे भाग लेने के लिए आस-पास के हजारों कृषक परिवार एकत्र होते हैं। पुरुषो की नाना प्रकार की रग-बिरगी पगडियों और स्त्रियों के रंगीन घाघरों और चुनडियो से शुष्क वातावरण भी सरस हो उठता है।

वर्ष का प्रथम मास चैत्र अनेक व्रतो, त्योहारो और मेलो का आगार है। कुमारियो और स्त्रियो का सर्वाधिक प्रिय पर्व 'गणगौर' नववर्ष का प्रारम्भ, रामनवमी तथा अनेक धार्मिक व्रतों और पर्वों का अनुष्ठान इसी मासमे होता है। गवर का त्योहार मुख्यतः कुमारियो और नववधुओ का प्रिय त्योहार है, होली के दूसरे दिन से लगभग १५ दिन तक मनाए जाने वाले इस लम्बे त्योहार मे महिलाएँ होली की राख से दो प्रतिमाएँ 'ईसर' और 'गवर' (गौरी) बना लेती हैं, तथा प्रतिदिन उनकी पूजा करती हैं। गवर के सम्मुख गीतो और नृत्यो की झडी लग जाती है। चैत्र के उत्सवो मे गणगोर के अतिरिक्त होला महोत्सव (धुरेंडी) सवत्सर पूजन, दोलनोत्सव, शीतलाष्टमी, मदनोत्सव विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सब अवसरो पर मेलो का आयोजन होता है। चैत्र सुदी तीज को 'ईसर' और 'गणगोर' की काष्ठ मूर्तियो का भव्य जलूस निकाला जाता है, और सर्वत्र मेले लगते हैं। गणगोर का मेला बीकानेर, जयपुर, जोधपुर और उदयपुर के चारो मुख्य स्थानों पर विशेष उत्साह और उमग के साथ मनाया जाता है।

राजस्थान मे दशहरे का त्योहार विशेष राजकीय धूम-धाम के साथ मनाया जाता है। जयपुर राजप्रसाद के बडे भवन मे देवी दुर्गा की मूर्ति स्थापना और आराधना की वार्षिक क्रिया आज भी होती है। प्राचीन प्रथा के अनुसार युद्धास्त्रो और युद्ध से सम्बधित अन्य वस्तुओ तथा हाथी घोडे, ऊँट आदि जानवरो को विशेष रूप से सजाया जाता है। सायंकाल बैन्डबाजे के साथ महाराज का विशाल जलूस निकलने का कार्यक्रम, जब तक जयपुर नरेश राजप्रमुख रहे, बराबर चलता रहा। छोटे पैमाने पर यह कार्यक्रम अब भी होता है। अष्टमी को हथियारो की पूजा होती है। विजयदशमी को दशहरे का मेला और साधारण कार्यक्रम होता है।

कार्तिक के महीने मे अजमेर से सात मील दूर पुष्कर के ताल पर मेला लगता है, जिस मे ऊँटो और घोडो की प्रदर्शनी भी होती है। पुष्कर ताल के सम्बन्ध मे यह धार्मिक धारणा है कि स्वय ब्रह्मा ने इस का निर्माण किया था। इसलिए इस मेले और स्नान को बहुत महत्व दिया जाता है।

अजमेर में मुस्लिम संत हज़रत मुईनुद्दीन चिश्ती का मज़ार सारे भारत उपमहाद्वीप में मुसलमानों का सब से बड़ा तीर्थस्थान है। यहाँ प्रतिवर्ष हज़रत का उर्स बड़े धूमधाम से आयोजित होता है, जिसमें भारत-पाकिस्तान के हज़ारों मुस्लिम श्रद्धालु भाग लेने के लिए उपस्थित होते हैं। भारतीय मुसलमानों के निकट अजमेर शरीफ़ का स्थान मक्का के बाद दूसरे नम्बर पर है। जो मुसलमान हज करने का सामर्थ्य नहीं रखते, वे अजमेर शरीफ़ की ज़ियारत को ही अपना परम सौभाग्य समझते हैं।

मुसलमानी युग में मुसलमान अमीरों की ओर से हिन्दू कन्याओं के साथ जबरदस्ती विवाह सम्बध स्थापित करने की जो परिपाटी चली थी, उसके फल-स्वरूप राजस्थान में सती प्रथा का सांस्कृतिक प्रभाव विशेष पुनर्जीवित हुआ था। यहाँ आज भी सती होने वाली स्त्री को देवी समान पूजनीय माना जाता है। शहरों के दरवाजों पर अतीत में सती होने वाली स्त्रियों के हाथ अंकित मिलते हैं, तथा कितने ही स्थानों पर महासती माता के मेले बड़ी श्रद्धा और उत्साह के साथ मनाए जाते हैं।

लोक-नृत्य

राजस्थान अपनी लोक-सस्कृति की समृद्ध परम्पराओं के लिए प्रसिद्ध है। इसलिए यह स्वभाविक ही है कि यहाँ विविध प्रकार के सुन्दर लोक-नृत्यों का विपुल भंडार है। यहाँ का सर्वाधिक लोक-प्रिय नृत्य 'झूमर' अथवा 'घूमर' है। यह अत्यत सरल पर मनोहर नृत्य होता है। गणगौर, होली और दीवाली आदि त्योहारों के अवसर पर स्त्रियाँ बड़े हर्षोल्लास के साथ यह नृत्य करती हैं। पूर्वी राजस्थान के शेखावाटी क्षेत्र का एक सामुहिक नृत्य 'गिंदड' है। होली से दो सप्ताह पूर्व सब धर्मों और जातियों के लोग डडे हाथों में लेकर यह नृत्य शुरू कर देते हैं। गणेश चतुर्थी के अवसर पर लड़के नकली चेहरे लगा कर डडों के साथ नृत्य करते हुए जुलूस के पीछे-पीछे चलते हैं।

राजस्थान में कई प्रकार के नृत्य-नाटकों की अखंडित परम्परा मिलती है। वीररस-युक्त 'रासो' के अतिरिक्त 'भवाई' शैली भी यहाँ खूब प्रचलित है। 'भवाई'

नर्तकों की टोलियाँ बरसात के बाद भ्रमण-पर निकलती हैं, और जगह-जगह अपने यजमानों के पास पहुँच कर कला-प्रदर्शन करती हैं। परम्परा के अनुसार लगभग चार सौ वर्ष पूर्व नागोजी जाट नामक एक प्रसिद्ध लोक-नर्तक ने इस सम्प्रदाय की स्थापना की थी।

राजस्थान का अपना एक विशिष्ट नृत्य-नाटक 'ख्याल' कहलाता है। इस की परम्परा भी चार सौ वर्ष पुरानी है। पेशेवर अभिनेताओं के दल दूर-दूर ग्रामों में जाकर इसके द्वारा लोगों का मनोरंजन करते हैं।

मारवाड़ क्षेत्र कठ-पुतली नाच के लिए प्रसिद्ध है। एक प्रकार से यह कठ-पुतली नाच नाट्य-कला में राजस्थान की प्रतिनिधि वस्तु है। पर्दे के पीछे से कठपुतली वाला अपनी दक्ष उंगलियों द्वारा पुतलियों को संचालित करता है, और उसकी पत्नी ढोलक के साथ गीत गाती हुई कथा-वर्णन करती है। राजस्थानी कठ-पुतली कला का सम्बन्ध एक ओर धर्म, इतिहास और साहित्य से है, और दूसरी ओर लोक-नृत्य और संगीत से। इस प्रकार इस कला में राजस्थान का सम्पूर्ण लोक-जीवन मुखरित हो उठता है। राजस्थान के पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाले भील आदिवासियों के अपने अनेक लोक-नृत्य हैं, जिनमें कुछ पुराने युद्ध-नृत्य हैं, और कुछ त्योहारों के लिए नियत हैं। भीलों के 'घुमर' नृत्य में स्त्री-पुरुष इकट्ठे भाग लेते हैं। होली के अवसर पर यह लोग 'गेर' नृत्य करते हैं, जो बहुत बलशाली होता है। इनका सब से प्रभावी नृत्य 'घुमरा' कहलाता है। इनके अलावा बागड़ियों का 'बागड़िया' नृत्य, करबेलियों (सपेरे) के 'शकरिया' और 'पनिहारी' नृत्य तथा कमाडों के मंजीराओं के साथ नृत्य भी उल्लेखनीय हैं।

राजस्थान मुख्यतः रजवाड़ों और राज दरबारों का देश रहा है। इसलिए यहाँ शास्त्रीय नृत्य शैलियों में से कत्थक को विशेष प्रोत्साहन मिला है। कत्थक खालिस दरबारी टाइप का नृत्य है। इसे साधारणतः वेश्याओं का नृत्य समझा जाता है, क्योंकि यह सम्पूर्णतया शृंगार-रस पर आधारित है। इसमें घुंघरुओं की झंकार द्वारा तबले की संगति की जाती है, अथवा संगीत के साथ-साथ अंग-संचालन और चेहरे की मुद्राओं से भाव व्यक्त

किए जाते हैं। वास्तव में यह शरीर के सौंदर्य-स्थलों का प्रदर्शन मात्र है। आजकल इस नृत्य-शैली को फ़िल्मों में विशेष स्थान मिला है, जहाँ इसके आधार पर अनेक 'वीभत्स रूप' निकाले गये हैं।

'कत्थक' का जन्म-स्थान लखनऊ बतलाया जाता है, जहाँ कलका और बिन्दा इसके दो बड़े उस्ताद हुए हैं। उन्हीं के वंशजों में से अच्छन महाराज और शम्भू महाराज वर्तमान युग में बहुत प्रसिद्ध हुए। अब इस वंश के एक मात्र नाम-लेवा शम्भू महाराज के पुत्र कृष्ण ब्रजु महाराज रह गए हैं।

कला और स्थापत्य

राजस्थान की कला में चित्रकारी और भवन निर्माण का स्थान विशेष है। वास्तव में ये भारत की कला निधि के प्रमुख अंग हैं। विशुद्ध भारतीय चित्रकला में 'राजपूत' शैली कहलाने वाली राजस्थानी चित्र शैली ही प्रधान रही है। तथाकथित मुगल चित्र शैली भी इसी पर आधारित है। राजपूत शैली की विशेषता है अनुपात की पूर्ण उपेक्षा, विवरणात्मक तथा रंग-विधान की तीव्रता और विविधता। इन चित्रों में विवरण इतने अधिक तथा रेखाएँ इतनी संक्षिप्त, मृदु और गतिशील होती हैं, कि आज के कलाकार के लिए इस प्रकार का कष्ट-साध्य रूप-निर्माण असम्भव प्राय है। राजस्थान में इन चित्रों का रूप साहित्य, संगीत उपयोगी शिल्प, यहाँ तक कि घरेलू प्रयोग की वस्तुओं पर भी पाया जाता है। वास्तव में यह साहित्य का ही एक अंग हैं, जिन में हिन्दी के रीतिकालीन कवियों की प्रत्येक कल्पना को चित्रित किया गया है। इसीलिए ये चित्र कठिन और दुर्बोध प्रतीत होते हैं। उनको समझने तथा उनका रस पाने के लिए राजस्थानी इतिहास और साहित्य का अच्छा ज्ञान होना आवश्यक है। इसी की एक शाखा पंजाब की कांगड़ा शैली के नाम से प्रसिद्ध है।

स्थापत्य के क्षेत्र में राजस्थान का स्थान निर्धारित है। राजपूत स्थापत्य विशुद्ध भारतीय स्थापत्य का एक मुख्य अंग है, जिसकी कई विशेषताओं को मुगलों ने परम्परित मुस्लिम स्थापत्य में समाविष्ट कर तथाकथित मुगल स्थापत्य का रूप निर्माण किया था। आगे को निकले हुए झरोखे या वातायन और उन पर स्वर्णमंडित कलशों से युक्त शिखरों के मुकुट, बंगाल काट की महरावें, अगणित

जालिया और वही-वही द्वार के दोनो ओर पत्थर के हाथी इत्यादि राजपूत स्थापत्य के कुछ ऐसे नियम हैं, जिनका पालन विशाल दुर्गों और भव्य राज-प्रसादो के निर्माण मे तो होता ही है, लोगों के साधारण घ रों मे भी इनकी छाप दिखाई देती है। इस शैली का प्रारम्भ गुप्त युग मे हुआ था, ऐसा माना जाता है।

विश्लेषण की दृष्टि से राजस्थानी स्थापत्य को दो मुख्य वर्गों मे बाँटा जा सकता है। एक म धर्म-सम्बन्धी वे भवन हैं, जो कला के क्षेत्र मे अपना अलग महत्व रखते हैं। इनमें ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्मों से सम्बन्धित मदिरो तथा विहारों के अतिरिक्त मुसलमानो की मस्जिदें और मकबरे आदि हैं। दूसरे वर्ग मे, जिसे सुविधा के लिए धर्म निर्पेक्ष कहना चाहिए, राजप्रसाद, दुर्ग, सती-पट्टिकाएँ, छतरिया तथा जय स्तम्भ और साधारण भवन आदि सम्मिलित हैं। शिखराकार हिन्दू मदिरो की सख्या अपार है, जिनमें नागरा, बाडोली और मडदेवरी के मदिर, तथा सागानेर, मीरपुर, कालिजर, राणकपुर और आबू स्थित देलवाडा के जैन मदिर विशेष हैं। मारवाड के ओसिया ग्राम म कोई सोलह ब्राह्मण और जैन मदिरों के खडहर मिलते हैं। इनमे से कोई भी दो मदिर एक से नहीं हैं। उदयपुर के निकट बाप्प रावल द्वारा निर्मित कहे जाने वाले एकलिगजी महादेव का मदिर असाधारण ढंग का है। पुष्कर म रगजी का मदिर अपने दक्षिण भारतीय द्राविड शैली मे निर्मित शिखर के लिए प्रसिद्ध है। मेवाड़ के राणा कुम्भ ने १५वीं शती मे बहुत से मदिर बनवाए। अनेक मदिर और प्राचीन भवन मुसलमानी आक्रमणो की भेंट हो गये। उनके केवल अवशेष ही रह गए। बौद्ध विहारो मे वैराठ स्थित गोल बौद्ध मदिर के अवशेष राजस्थान की प्राचीनतम निधि है। चित्तौड के किले में किसी जैन साधक द्वारा निर्मित कीर्ति स्तम्भ भी एक प्राचीन नमूना है। परन्तु वास्तव से राजस्थान की विशेष वस्तु, जिससे राजपूत स्थापत्य अपने चरमोत्कर्ष पर है, उसके राजप्रसाद और किले हैं। राजस्थान सदैव ही वीर राजाओं का देश और रण भूमि रहा है। इसलिए यहाँ भव्य राज प्रसाद और बड़े बडे अत्यन्त सुदृढ़ और प्रभावशाली दुर्ग भारी सख्या मे निर्मित

हुए हैं। दुर्गों मे चित्तौड़, रणथम्बोर, कुंभल गढ, जालोर, नागौर, विजयगढ़, हनुमानगढ़, डीग और भरतपुर के किले विशेष प्रसिद्ध हैं। १५वीं, १६वीं और १७ वी शतियों मे निर्मित राज-प्रसादो के मुख्य उदाहरण उदयपुर, आम्बेर, बीकानेर, जोधपुर और जैसलमेर के महल हैं। अठारहवी शती मे निर्मित जयपुर का 'हवा महल' अपनी अलग ही विचित्रता रखता है।

वीरांगनाओ की कीर्ति-पताका शिला पट्टिकाओं के रूप मे मिलती है। ये समस्त राजस्थान में पाई जाती हैं। राजाओं और धनी व्यक्तियो की समाधियो को यहाँ 'छतरी' कहते हैं। ये स्तम्भो पर स्थित गु बद होते हैं, बीच मे सगे-मर्मर पर एक चौकोर स्थान बना रहता है, जिसमें कहीं स्वस्तिक का चिन्ह होता है और कहीं चरणो का। जय-स्तम्भ, जिनम राणा कुम्भ द्वारा निर्मित चित्तौड का स्तम्भ सबसे प्रसिद्ध है, मीनारो की तरह काफी ऊँचे और खडो मे विभाजित होते हैं, परन्तु इनमे ऊपर जाने की सीढिया अन्दर से चक्करदार न बनाकर बाहर सीधी बनाई जाती हैं। कुएँ तालाब और बावडी आदि मे भी इसी नियम का पालन किया जाता है। इस प्रकार राजस्थानी स्थापत्य की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिनका अनुकरण अन्यत्र भी किया गया है।

अत मे यह बात कहने की है कि राजस्थान अपनी विपुल सांस्कृतिक सम्पत्ति के बावजूद अधिकतर रेत और पत्थरो की भूमि है। इसलिए यहाँ के लोगो का नित्य जीवन भी पत्थर की तरह कठोर है। जल का अभाव सदा से इनकी सबसे बडी समस्या रही है। जल इनके लिए अमृत समान है। लेकिन शायद अब इस चिरकालीन समस्या के समाधान का समय आ गया है। निकट भविष्य मे विशाल राजस्थान नहर के रूप मे अन्नपूर्णा इस प्यासी धरती पर पदार्पण करने वली है। तब यह वीर-भूमि, जिसने अपने गौरवमय इतिहास और अमर गाथाओ के रूप मे भारत को महान सांस्कृतिक देन दी है, इस देश के लिए अन्न का भडार भी बन जाएगी।

पंजाबी

'पाँच नदियों का देश'—पंजाब—तो अब रहा नहीं, परन्तु पंजाबी सारे भारत में फैल गए हैं। और जहाँ कहीं भी वे गए हैं, वहाँ वे अपने साथ अपनी विशेष बोल-चाल, अपना रहन-सहन और खान-पान, अपने गीत, किस्से और नाच और मेले ले गए हैं। इस प्रकार पंजाब की विशेषताओं को उन्होंने समस्त भारत की सामान्य सम्पत्ति बना दिया है। फिर भी बटवारे के बाद जो पंजाब बच रहा है, उसे वे अपना भाषिक प्रदेश कहते हैं, यद्यपि अब यह 'पंजाब' न होकर केवल 'दोआब' ही रह गया है, और आज की राजनीति इसके भी टुकड़े करने पर तुली हुई है।

पुराने पंजाब में पाँच दोआब थे, जिनके नाम दो-दो नदियों के पहले अक्षरों को मिलाकर अकबर ने रखे थे, ऐसा कहा जाता है। 'पंजाब' का वर्तमान नाम भी अकबर के समय से ही प्रचलित हुआ। यह इस भूभाग के संस्कृत 'पंचनद' अथवा यूनानी नाम 'पेन्टोपोटैमियाँ' का फारसी रूपांतर ही है। इसी प्रदेश से सम्बन्ध रखने वाले अथवा यहाँ की बोलियाँ बोलने वाले सब लोगों का सामान्य नाम है 'पंजाबी'। इस में हिन्दू-मुसल्मान सब शामिल हैं। पहले मुसल्मान ही ज्यादा थे, परन्तु अब भारतीय दृष्टि से पूर्वी पंजाब के पंजाबी-भाषी निवासियों तथा पश्चिमी पंजाब से विस्थापित होकर भारत भर में बसने वाले हिन्दू सिख शरणार्थियों को ही 'पंजाबी' कहा जाता है। पुराने पंजाब के बहुसंख्यक पंजाबी मुसल्मान तो अब पाकिस्तानियों में भी 'विशुद्ध पाकिस्तानी' हो गए हैं।

इतिहास

पजाब का इतिहास निरतर बाहरी आक्रमणो का इतिहास है, जिससे बडी हद तक समस्त भारत के इतिहास की रूप-रेखा निर्धारित हुई है। जिसने भी पजाब पर अधिकार किया, वह प्रायः ही सारे उत्तर-भारत को जीतने में सफल हुआ।

पजाब को भारत मे आर्यों का पहला उपनिवेश माना जाता है। इतिहासज्ञों के मतानुसार आर्य लोग ईसा से लगभग दो हज़ार वर्ष पूर्व खैबर, बोलान आदि उत्तर-पश्चिमी दर्रों से आकर पजाब मे बसे। ऋग्वेद की रचना इसी भूभाग के नदी-तटो पर हुई। उस काल मे अफ़गानिस्तान की काबुल नदी से लेकर सतलज तक अनेक आर्य गणो का निवास था। पाणिनि ने ऐसे कई गणो के नाम गिनवाए हैं। जैसे मालव, क्षुद्रक, मद्र, भर्ग, वृक, वसाति, शिवी और यौद्धेय आदि। इनमे से कई गणों का उल्लेख महाभारत में भी आया है।

वैदिक आर्य इस सारी भूमि को, जिसमे कश्मीर और सिंध प्रदेश भी सम्मिलित था, महानदी सिंध और उसकी छ सहायक नदियो के नाते 'सप्त सिंधु' कहते थे। यही 'सिंधु' शब्द प्राचीन फ़ारसी मे 'हिन्दू' हो गया, जिससे वर्तमान हिन्दू जाति और हिन्दुस्तान आदि के नाम पडे। इस दृष्टि से 'भारत-आर्याई', 'भारती' और 'हिन्दू' पर्यायवाची शब्द हैं, अर्थात 'हिन्दू' एक देश विशेष के निवासियों का नाम है, न कि किसी धर्म विशेष के अनुयायियो का परन्तु अब इस शब्द का प्रयोग जिन अर्थों में होता है, वह सर्वविदित ही है।

कुछ भी हो, धर्म की दृष्टि से भी पजाब मे बसने वाले आर्य भारत के सबसे पहले हिन्दू बने, क्योकि हिन्दू वैदिक धर्म का अभ्युदय इसी भूमि मे हुआ। ऋग्वेद से पता चलता है कि पूर्व वैदिक काल मे ही आर्य लोग यमुना तक बढ आये थे। उस समय समस्त आय जाति भिन्न भिन्न गणों (कबीलो) मे विभक्त थी। प्रत्येक गण का एक सरदार अथवा राजा होता था, और यह लोग आपस म युद्ध करते थे, परन्तु स्थानीय निवासियो के विरुद्ध लडने के लिए सब एक हो जाते थे। ऋग्वेद म अनार्यों के साथ निरतर युद्धों का वर्णन मिलता है।

वेदो मे इन स्थानीय लोगो को, जो सम्भवतः द्राविड जाति के थे, दास दस्यु, दानव, दैत्य, असुर और राक्षस आदि शब्दो से अभिहित किया गया है। उन लोगो की एक समृद्ध सभ्यता थी, जिसकी परम्परा प्राचीन 'सिंधु सभ्यता' के समय से चली आ रही थी।

उत्तर वैदिक काल मे आर्य धर्म और सस्कृति का केन्द्र सतलज और यमुना के बीच के क्षेत्र मे आ गया, और दोआब स्थित कुरु और पाँचाल राज्य आर्यों की मुख्य-भूमि बने। महाभारत मे वर्णित कुरुक्षेत्र का विनाशकारी युद्ध तत्कालीन पजाब और भारत की स्थिति का अच्छा ज्ञान कराता है। आधुनिकतम अनुसधानो के आधार पर इस महायुद्ध की तिथि ११६४ ईसा पूर्व निर्धारित हुई है। बाद के बौद्धकालीन भारत मे पजाब का नाम 'गान्धार' था, जो १६ महाजनपदो मे से एक था।

इतिहासज्ञो के मतानुसार ५०० ई० पूर्व के बाद कुछ काल तक यह प्रदेश सम्भवत. दारायु प्रथम के ईरानी साम्राज्य का अग रहा। परन्तु पजाब की पहली निश्चित ऐतिहासिक घटना सिकन्दर का आक्रमण ही है, जो ठीक ३२६ ई० पू० मे घटित हुआ। भारत का क्रमबद्ध इतिहास भी यही से आरम्भ होता है। उस समय पजाब मे अनेक छोटे-छोटे राज्य थे, जिनके बीच निरतर वैमनस्य रहता था। तक्षशिला के राजा अभी और भेलम-चुनाव के बीच के क्षेत्र के राजा पुरु की पारस्परिक शत्रुता से लाभ उठाकर सिकन्दर ने पुरु को परास्त किया। परन्तु व्यास नदी तक पहुँचते-पहुँचते अनेक आर्य वीर जातियों ने उसकी सेना को इतना अधिक क्लात और हतोत्साहित कर दिया कि उसे विवश होकर मुलतान, सिध और बिलोचिस्तान के रास्ते अपने देश को लौट जाना पडा। इसी वापसी यात्रा मे बाबुल (ईराक) के स्थान पर उसकी अकाल मृत्यु हो गई।

सिकन्दर की मृत्यु के बाद पुरु आदि भारतीय राजाओ ने पुनः स्वतत्र हो कर यूनानियो को मध्य पजाब से निकाल दिया। छः वर्ष बाद इस कार्य को चन्द्रगुप्त मौर्य ने सम्पन्न किया। चन्द्रगुप्त मगध से निकाले जाने के बाद से तक्षशिला के विद्यालय मे पढता था। सिकन्दर के आक्रमण के समय वह

पजाव में ही था। बाद में उनने अपने गुरू और भावी प्रधान मत्री चाणक्य की सहायता से पजाब पर अधिकार कर लिया। इस शक्ति के बल पर उसने मगध सम्राट को भी परास्त किया, और इस प्रकार ३२२ ई० पू० में वह भारत का पहला ऐतिहासिक सम्राट बना।

सोलह वर्ष बाद, जब बाख्तरिया (उत्तरी अफ़ग़ानिस्तान) के यूनानी शासक सेल्यूकस् ने, जिसे सिकन्दर इन क्षेत्रों में अपना उपराजा बनाकर छोड गया था, भारत में यूनानी सत्ता की पुनर्स्थापना के लिए पजाब पर चढाई की, तो उसे चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा भीषण रूप से पराजित होकर न केवल बहुत सा धन और देश ही देना पडा, बल्कि उसने सहर्ष अपनी प्रिय पुत्री हैलन का विवाह भी चन्द्रगुप्त से कर दिया।

चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार और पौत्र अशोक महान के राज्य-काल में पजाब अखडित रूप से विस्तृत मौर्य साम्राज्य का एक महत्वपूर्ण अग रहा। उस समय पजाब की प्रादेशिक राजधानी तक्षशिला में थी, और कोई न कोई मौर्य राजकुमार उपराज के रूप मे वहाँ निवास करता था। उसके अधीन क्षेत्र में, जिसे गान्धार प्रदेश कहते थे, सतलज से अफ़ग़ानिस्तान तक और सम्भवतः कश्मीर और सिंध प्रदेश भी सम्मिलत थे। अशोक के राज्यकाल में बौद्ध-धर्म यहाँ का राज-धर्म बना, जैसा कि एक ओर काँगडा और दूसरी ओर बहावलपुर में पाए गए बौद्ध स्तम्भो से प्रकट होता है।

अशोक की मृत्यु के बाद उत्तरी अफ़ग़ानिस्तान के बाख्तरी यूनानियों ने पजाब पर फिर से आक्रमण आरम्भ किए। बाद के यूनानी राजाओ मे, जिन्होंने पजाब पर राज्य किया, मेनेण्डर (मिनेन्द्र) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसका साम्राज्य किसी समय सिंध नदी से लेकर नर्मदा तक फैल गया था। उसने मगध पर भी चढाई की, परन्तु वह सुग सम्राट पुष्यमित्र के हाथों परास्त हुआ। उसके बाद भी पजाब मे यूनानी राजे बहुत समय तक स्वतत्र रूप से राज्य करते रहे, यद्यपि प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान नागसेन के सम्पर्क में आने से उन्होंने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था, और वे पूर्णतया भारतीय हो गए थे।

एक सौ वर्ष ईसा पूर्व से भारत पर उत्तरी ईरान की सिथियन जाति के

एक देश-भक्त खोखर ने छुरा घोंप कर उसका अन्त कर दिया।

मोहम्मद गौरी की मृत्यु और दिल्ली में स्वतंत्र पठान साम्राज्य की स्थापना से लेकर मुगल साम्राज्य के पतन तक की दीर्घ अवधि में पंजाब किसी न किसी रूप में दिल्ली केन्द्रित मुसलमानी सत्ता के अधीन रहा। पठान युग में पंजाब के सूबेदारों ने दो बार दिल्ली में नए राज-वंशों की स्थापना की। खिलजी वंश के पतन पर लाहौर के गवर्नर गियासुद्दीन ने तुगलक वंश की और तैमूर के भयंकर आक्रमण के बाद पंजाब के हाकिम खिज्रखाँ ने सैयद वंश का सूत्रपात किया। १३९८ ई० में मध्य-एशिया के प्रसिद्ध विजेता तैमूर लंग ने पंजाब में भीषण विध्वंस करते हुए दिल्ली पर आक्रमण किया। और १५२६ ई० में मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर का आक्रमण हुआ। बाबर को बुलाने वालों में भी पंजाब का तत्कालीन हाकिम दौलतखाँ सम्मिलित था। सूर साम्राज्य के शक्तिहीन होने पर १५५५ ई० में हुमायूँ ने सरहिन्द में सिकन्दर सूर को परास्त करके भारत में मुगल साम्राज्य की पुनर्स्थापना की।

भारतीय इतिहास में पानीपत की तीन लड़ाइयां प्रसिद्ध हैं। पहली लड़ाई १५२६ ई० में बाबर और दिल्ली सुलतान इब्राहीम लोदी के बीच हुई। दूसरी लड़ाई १५५६ ई० में बालक अकबर के संरक्षक बैरमखाँ और दिल्ली के अल्प-कालीन हिन्दू सम्राट् हेमचन्द्र (हीमूँ) के बीच, तथा तीसरी लड़ाई अफगान

सम्राट हर्षवर्धन ने, जिसे भारत का अन्तिम हिन्दू सम्राट कहा जाता है, थानेश्वर से और उसके बाद कन्नौज से सारे उत्तर भारत पर राज्य किया।

आठवीं शती में थानेश्वर राज्य का अन्त होने पर दक्षिण-पूर्वी पंजाब पर तोमर, राठौर और परिहार राजपूतों का आधिपत्य हो गया। तब से लेकर बारहवीं शती के अन्त तक की पाँच शताब्दियों में अनेक छोटे छोटे राजपूत राज्य आपस में लड़ते-भिड़ते रहे। दसवीं ग्यारहवीं शती में, जबकि मध्य पंजाब में पालवंशीय क्षत्रिय राजाओं का राज्य था, तब पंजाब पर मुसलमानी आक्रमण आरम्भ हुए। ग़ज़नी के तुर्क शासक सुबुक्तगीन और उसके बाद उसके बेटे महमूद ने पंजाब और भारत पर अनेक आक्रमण किए, जिनसे बार-बार परास्त और पीड़ित होने पर पाल राजा जयपाल ने ब्राह्मणों के आदेशानुसार चिता में जलकर अपने प्राणों की बलि दी।

महमूद ग़ज़नवी का छठा आक्रमण पंजाब के पाल राजा आनन्दपाल के विरुद्ध था। उसमें पालों की पराजय हुई, और पंजाब का बहुत सा अंश गज़नी साम्राज्य के अधीन हो गया। बाद में महमूद वंशीय शाहज़ादे पंजाब में प्रायः एक शताब्दी तक राज्य करते रहे। इसी बीच अफ़ग़ानिस्तान में ग़ोर वंश का उत्थान हुआ। बारहवीं शती के अन्तिम चरण में ग़ौरी सुलतान मुहम्मद ग़ौरी ने सिंध और पंजाब की मुस्लिम रियासतों को एक-एक करके अपने अधीन कर ११८६ में महमूद वंशीय शासक ख़ुसरो मलिक से लाहौर छीन लिया। इस प्रकार पंजाब में गौरी साम्राज्य का सूत्रपात्र हुआ।

मोहम्मद ग़ौरी और दिल्ली नरेश पृथ्वीराज चौहान की पहली लड़ाई ११९१ ई० में थानेश्वर के निकट तराइन में हुई, जिसमें गौरी को परास्त होकर भागना पड़ा। परन्तु अगले ही वर्ष तराइन की दूसरी लड़ाई में उसने पृथ्वीराज को परास्त कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार पंजाब पर मुसलमानी आधिपत्य के बल पर भारत में मुसलमानी साम्राज्य का सूत्रपात हुआ। गौरी की मृत्यु भी पंजाब में ही हुई। वह १२०६ ई० में पंजाब के खोखरों का विद्रोह दबाने के बाद ग़ौर वापस जा रहा था कि धाम्मक नामक स्थान पर

एक देश-भक्त खोखर ने छुरा घोंप कर उसका अन्त कर दिया।

मोहम्मद गोरी की मृत्यु और दिल्ली मे स्वतत्र पठान साम्राज्य की स्थापना से लेकर मुगल साम्राज्य के पतन तक की दीर्घ अवधि मे पजाब किसी न किसी रूप मे दिल्ली केन्द्रित मुसलमानी सत्ता के अधीन रहा। पठान युग मे पजाब के सूबेदारो ने दो बार दिल्ली मे नए राज वंशो की स्थापना की। खिलजी वंश के पतन पर लाहौर के गवर्नर गियासुद्दीन ने तुग़लक वश की और तैमूर के भयकर आक्रमण के बाद पंजाब के हाकिम खिज्रखाँ ने सैयद वश का सूत्रपात किया। १३६८ ई० मे मध्य-एशिया के प्रसिद्ध विजेता तैमूर लग ने पजाब मे भीषण विध्वंस करते हुए दिल्ली पर आक्रमण किया। और १५२६ ई० मे मुग़ल साम्राज्य के सस्थापक बाबर का आक्रमण हुआ। बाबर को बुलाने वालो मे भी पजाब का तत्कालीन हाकिम दौलतखाँ सम्मिलित था।, सूर साम्राज्य के शक्तिहीन होने पर १५५५ ई० मे हुमायूं ने सरहिन्द मे सिकन्दर सूर को परास्त करके भारत मे मुग़ल साम्राज्य की पुनर्स्थापना की।

भारतीय इतिहास मे पानीपत की तीन लड़ाइयाँ प्रसिद्ध हैं। पहली लड़ाई १५२६ ई० मे बाबर और दिल्ली सुलतान इब्राहीम लोदी के बीच हुई। दूसरी लड़ाई १५५६ ई० मे बालक अकबर के सरक्षक बैरमखाँ और दिल्ली के अल्प-कालीन हिन्दू सम्राट् हेमचन्द्र (होमूं) के बीच, तथा तीसरी लड़ाई अफ़ग़ान बादशाह अहमदशाह अब्दाली और मरहठो के बीच हुई, जिसमे मरहठों की पराजय के बाद पजाब मे सिखो का उत्थान हुआ।

सिक्ख

सिख सम्प्रदाए का प्रादुर्भाव पन्द्रहवी शती के अन्त मे भक्तियुग के प्रसिद्ध पजाबी संत गुरु नानकदेव द्वारा हुआ था। वह मूर्ति-पूजा तथा जाति-पाति के विरोधी थे, और एकेश्वरवाद का का प्रचार करते हैं। जो लोग उनके 'शिष्य' बने, वे पजाबी अपभ्रंश मे 'सिक्ख' कहलाए। जहाँगीर ने अपने बड़े बेटे खुसरो के विद्रोह में सहायता देने के दण्डस्वरूप सिख गुरु अर्जुनदेव को मरवा डाला था। इस घटना से क्रोधित होकर सिख लोग सदा के लिए मुग़ल साम्राज्य के शत्रु हो गए।

औरंगजेब सिखों से विशेष अप्रसन्न था, क्योंकि आठवें सिख गुरु हरराय ने उत्तराधिकार-युद्ध के समय दारा शिकोह को आश्रय प्रदान किया था। इसलिए जब गुरु हरराय की शीघ्र ही मृत्यु हो जाने पर तेग़बहादुर नवें गुरु बने, तो औरंगजेब ने उन्हें दिल्ली में बुलाकर भयकर रूप से उनका वध करा दिया।

इन घटनाओ की पार्श्वभूमि मे गुरू तेग़बहादुर के पुत्र गुरू गोविंदसिंह ने, जो दसवें और अन्तिम गुरू थे, मुग़ल साम्राज्य से टक्कर लेने की ठानी। उन्होंने आनन्दपुर-साहब मे एक बृहत यज्ञ किया, और वहाँ अपने शिष्यों को पाँच व्रत—कड़ा, कंघा, केश, किरपान और कच्छा—तथा 'सिंह' नाम धारण करने की प्रेरणा देकर 'खालसा' अर्थात् 'विशुद्ध वाहिनी' का संगठन किया। इस प्रकार उन्होंने एक साधारण हिन्दू भक्त सम्प्रदाय को एक अनुशासित सैनिक वर्ग मे परिणत कर दिया। इसके बाद उन्होंने पजाब के पहाडी राजाओ को अपने अधीन कर मुग़ल साम्राज्य पर सीधा आक्रमण आरम्भ किया। बहुत दिनो तक गुरिल्ला युद्ध चलता रहा, जिसमे गुरू गोविंदसिंह को सरहिन्द के मुग़ल हाकिम के हाथो अपने दोनों अल्पवयस्क पुत्रो का बलिदान भी देना पडा। आखिर औरंगजेब ने तग आकर उन्हे दक्षिण मे मिलने के लिए आमंत्रित किया। परन्तु इसी बीच १७०७ में बादशाह की मृत्यु हो गई, और उसके एक वर्ष बाद स्वय गुरू गोविन्द एक पठान के हाथों कत्ल हो गए।

मुग़ल साम्राज्य के पतन और १७६१ मे अहमदशाह अब्दाली द्वारा मरहठो की पराजय के बाद पजाब मे 'खालसा' अर्थात् सिख सघ का वास्तविक उत्थान आरम्भ हुआ। सिखो ने लाहौर पर अधिकार कर झेलम से सतलज तक के समस्त प्रदेश को अपने अधीन कर लिया। उस समय सिख सम्प्रदाय १२ समूहो अथवा 'सगठित दस्तों' मे बँटा हुआ था, जिन्हे 'मिसल' कहते थे। १७६० के बाद से कुचिया मिसल का नेता चडतसिंह विशेष शक्तिशाली हो उठा। उसी का पोता रजीतसिंह पजाब का पहला स्वतत्र सिख राजा बना।

रजीतसिंह ने सब मिसलो को अपने अधीन कर एकता के सूत्र मे बाँधा, और लाहौर को राजधानी बनाकर एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना की। उस

समय तक अंग्रेज भी पूर्व से धीरे धीरे सतलज तक बढ आए थे, और पूर्वी पजाब के सब छोटे-छोटे राज्य उनके अधीन हो गए थे। इसलिए १८०६ की एक सधि के अनुसार सतलज नदी अंग्रेजो और सिख राज्यो के बीच सीमा निर्धारित हुई। इसके बाद रजीतसिंह ने अपनी शक्ति बहुत बढा ली। १८१३ से १८२१ के बीच उसने सारे पश्चिमी पजाब और कश्मीर को जीत कर १८३४ तक पेशावर पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार सिख साम्राज्य सतलज से खैबर तक और सिंध से कश्मीर तक विस्तृत हो गया।

परन्तु १८३६ मे रजीतसिंह की मृत्यु के साथ ही विशाल सिख साम्राज्य मे अराजकता फैलने लगी। अनियत्रित खालसा सेना के पदाधिकारियो ने एक के बाद दूसरे राजवशज को गद्दी पर बिठाया, और मार डाला। अत मे सबसे छोटा पुत्र अवयस्क राजकुमार दिलीपसिंह राजा बना, और राजमाता *रानी जिन्दाँ राज-कार्य करने लगी।* परन्तु वास्तविक सत्ता सेना के हाथ मे थी। आखिर १८४५ मे सिख सेना और अंग्रेजो के बीच पहला युद्ध हुआ, जिसमे फिरोजपुर की लडाई मे सिखो ने अंग्रेजो को भीषण हानि पहुँचाकर परास्त किया। परन्तु अन्त में सिख सरदारो और जम्मू के डोगरा राजा गुलाबसिंह की स्वार्थपरता से सिख सेना का सर्वनाश हुआ, और सतलज नदी लाशो से भर गई।

१८४६ मे लाहौर सधि के अनुसार कश्मीर ७० लाख रुपये मे राजा गुलाब सिंह को दे दिया गया, और लाहौर के सिख राज्य पर एक प्रकार से अंग्रेजो की प्रभु-सत्ता स्थापित हो गई। रानी जिन्दा को पेन्शन देकर अलग कर दिया गया। परन्तु इस प्रबध के बावजूद १८४८ मे पुन युद्ध छिड गया। और कई सग्रामो के बाद, जिनमे सिख और डोगरा सामतो का देश-द्रोह अपनी चरम सीमा पर पहुँचा, सिख सेना पूरी तरह परास्त और विनष्ट हुई। इस प्रकार १८४६ ई० मे सिख राज्य के साथ-साथ पजाब की स्वतत्रता का भी अन्त हो गया।

शहीदों की भूमि

१८५७ के सिपाही विद्रोह मे पजाब के लोगो ने यद्यपि कोई विशेष भाग

नहीं लिया—और सिखों ने तो दिल्ली राज्य के विरुद्ध अपनी पुरानी शत्रुता के कारण उल्टा अंग्रेजों की ही हर तरह सहायता की—परन्तु बाद में भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए पंजाब का योगदान किसी भी दूसरे प्रदेश से कम नहीं रहा। एक प्रकार से संगठित सशस्त्र विद्रोह की नई परम्परा पंजाब से ही शुरू हुई, जब १८७२ ई० में नामधारी सिखों ने मालीरकोटला पर आक्रमण किया। यह विद्रोह विफल हुआ और ६६ प्रमुख नामधारी नेताओं को अंग्रेजों ने तोपों से उड़ा दिया। बाद की क्रांतिकारी परम्परा में भी सबसे ज्यादा नाम पंजाब के वीर देशभक्तों के ही मिलते हैं। लाला हरदयाल की गदर पार्टी, गुरुदत्तसिंह और 'कोमागाटा मारू' की वीरगाथा, भाई परमानन्द के महान प्रयत्न, बब्बर अकाली आन्दोलन, तथा मदनलाल धींगड़ा, करतारसिंह सराबा, सोहनसिंह भकना और अन्त में शहीद भगतसिंह, सुखदेव और उनके साथियों के आत्मबलिदान की अमर कहानियाँ भारत के आधुनिक वीर साहित्य का गौरवमय अंग हैं।

प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भिक दिनों में ही पंजाब में व्यापक विद्रोह के लिए निश्चित तिथि नियत हुई थी। परन्तु अंग्रेजी सरकार को पहले से सूचना मिल जाने के कारण यह योजना सफल न हुई। परिणामस्वरूप पाँच हजार पंजाबियों पर अभियोग चले, ५०० विप्लवियों को फाँसी पर लटकाया गया; ८०० को आजीवन कारावास का दंड मिला, ५०० को ऐन्डमान् भेजा गया, और हजारों को यों ही नजरबन्द कर दिया गया। वास्तव में देश के लिए फाँसी पर चढ़ने वाले अथवा ऐन्डमान् में आजीवन कारावास भुगतने वाले भारतीय युवकों में पंजाबियों की सख्या ही सदैव सब से ज्यादा रही है।

पंजाब का यह बलिदान-क्रम १३ अप्रैल १९१९ को अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा, जब अमृतसर के जलियाँवाला बाग में २० हजार के निहत्थे जन-समूह पर अंग्रेज कमान्डर जनरल डायर ने पूरे दस मिनट तक गोली-वर्षा करके हजारों को हताहत किया। इस हत्या-कांड से पंजाब भर में आग लग गई। और क्रांतिकारी आन्दोलन १९२८ तक फिर एक बार अपने चरम बिन्दु पर पहुंचा। भगतसिंह और उनके साथी इसी युग में हुए। परन्तु उसके बाद से

जोशीले नवयुवकों की इस प्रकार की गतिविधियाँ दिनोदिन शिथिल् होती गईं, और सतत अंग्रेज़ की सफल कूटनीति के फलस्वरूप साम्प्रदायिक समस्याओं ने पंजाब और भारत को घेर लिया। इन्हीं समस्याओं के परिणामस्वरूप १९४७ में स्वतंत्रता प्राप्ति पर भीषण विध्वंस और रक्तपात के साथ बंगाल की तरह पंजाब के भी दो भाग हो गए।

पंजाब में विशेषकर इस देश विभाजन के साथ जो प्रलयकारी घटनाएँ घटीं, उनकी स्मृति से आज भी हृदय कम्पित हो जाता है। दोनों ओर से लाखों लोग उजड़ गए, हज़ारों मारे गए। स्त्रियों का सतीत्व नष्ट हुआ, व्यापक रूप से अपहरण हुए, बच्चे भालों पर उछाले गए। करोड़ों की सम्पत्ति नष्ट हुई। आज चौदह वर्ष बाद भी उन भयानक दिनों में लगे घाव पूरी तरह भरने में नहीं आए हैं।

जाति और समाज

पंजाब के लोगों को भारत आर्या नस्ल का उत्तम नमूना समझा जाता है। परन्तु इस का यह अर्थ नहीं कि पंजाब के सब लोग विशुद्ध आर्य रह पाए हैं। पंजाब पर बाहर से प्रत्येक आक्रमण के बाद हज़ारों विदेशी यहीं बस गए। यूनानी, ईरानी, शक, हूण, मंगोल, अरब और चीनी नाना जातियों के लोग यहाँ आए, और यहीं के हो रहे। इस प्रकार के निरंतर जातीय सम्मिश्रण से वर्तमान पंजाबियों की उत्पत्ति हुई।

नस्ल की दृष्टि से पंजाबियों को चार बड़े समूहों में विभक्त किया जा सकता है। प्राचीन आर्यों से, जिन में यूनानी और शक आदि बाद में आने वाली आर्य व अनार्य जातियों का सम्मिश्रण हुआ, आज का साधारण हिन्दू समाज निर्मित है। यह नियमानुसार वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न जातियों उप-जातियों में विभाजित और व्यवस्थित है। अवश्य पंजाब में जाति-पाति व्यवस्था इतनी स्पष्ट और दृढ़ नहीं है, जितनी कि मध्य-देश में है। प्राचीन क्षत्रियों को अब 'खत्री' कहा जाता है, जो क्षत्रिय का अपभ्रंश ही नहीं, वरन् कार्य-भेद का भी द्योतक है। फिर बहुत से खत्री अब साहूकारी आदि के क्षेत्रों

में आ जाने से प्राय: वैश्यो मे गिने जाने लगे हैं। और पजाब के खत्रियों मे अधिक्तर *'अरोडवशी' अथवा 'अरोडे' कहलाते हैं, जिनके सम्बध मे यह दतकथा* है कि उनके पूर्वज सिंध मे रोडी नामक स्थान से आए थे। पजाब के देहात मे बसे हुए प्राय सारे ही खत्री 'अरोडे' थे, और सूदखोरी आदि मे बनियों से भी दो कदम आगे थे। फिर भी सामुहिक रूप से पजाबियो मे खत्री ही सब से ज्यादा सगठित, समृद्ध और समुन्नत रहे हैं। इन्हे पजाबियो का अग्रणी वर्ग समझना चाहिए। पजाब मे वैश्यो के काम अधिक्तर खत्री ही करते आए हैं। इस लिए उनमे और वैश्यो मे कोई विशेष अतर नही है। स्थानीय वैश्यो मे 'अग्रवाल' आदि जो लोग मिलते हैं, वे सम्भवत हिन्दी प्रदेश से जाकर वहाँ बसे है, और रहते-रहते पजाबी हो गए हैं।

अन्य जातीय समूहो मे जाट सब से ज्यादा हैं। सयुक्त पजाब की प्राय *साढ़े तीन करोड़ की जन-सख्या मे जाटो की संख्या साठ लाख थी। ये धर्म की* दृष्टि से अधिकतर मुसलमान और केशधारी थे। वर्तमान पूर्वी पजाब के पजाबी-भाषी जाट भी प्राय सारे ही सिक्ख हैं, तथा हिन्दू कहलाने वाले जाट बहुत थोडे से पजाबी और शेष हरियाना के बागरू लोग हैं। यह सब उत्तम कोटि के कृषक हैं।

पजाब मे तीसरा जातीय वर्ग राजपूतो का है, जिनके नाम से ही स्पष्ट है कि वे राजपूत युग मे राजस्थान से यहाँ आकर बसने वाले राजपूतो के वशज हैं। सयुक्त पजाब मे इनकी सख्या ३० लाख थी, जिनमे अधिकतर मुस्लिम धर्मावलम्बी थे। वर्तमान पजाब के राजपूतो मे प्राय दो तिहाई हिन्दू और एक तिहाई केशधारी होगे। परन्तु जैसा कि 'राजपूत' नाम को लेकर सभी जगहो पर हुआ है, पजाब मे भी अनेक हिन्दू शूद्र जातियां स्वय को राजपूत कहती हैं।

चौथी प्रमुख जाति गूजरो की है, जो एक जाति विशेष के रूप मे काश्मीर से गुजरात तक फैली हुई है। इन्होने जिस प्रकार गुजरात प्रदेश को अपना नाम दिया है, उसी तरह पजाब मे भी उनके नाम पर गुजरात, गुजरखां और गुजरांवाला आदि नगर हैं, जो अब पश्चिमी पाकिस्तान मे हैं। यह लोग

साधारणत. पशु-पालन का कार्य करते हैं, तथा जाटो और राजपूतो की तरह कुशल-कृषक हैं। हिन्दू गूजरो के उच्चवर्ग को प्राय क्षत्रिय वर्ण मे गिना जाता है।

इन चार बडे जातीय समूहों के अतिरिक्त, जो आकृति की दृष्टि से लगभग एक से हैं, कुछ भिन्न प्रकार के पहाडी लोग हैं, जिन मे राजपूत,गूजर और तिब्बती नस्ल का सम्मिश्रण है। यह लोग राजस्थानी से मिलती-जुलती अपनी अलग बोलियाँ तथा हिमालय प्रदेश के अन्य लोगो जैसी विशेष पर्वतीय संस्कृति रखते है। इस कारण इन्हें पजाबियो में नही गिना जाता। इसी प्रकार हरियाना के लोगो की भी मिली-जुली सी स्थिति है। उन मे हिन्दी-प्रदेशीय तत्व का ही बाहुल्य है, यद्यपि यहाँ के ग्रामीण निवासियो मे भी जाट ही प्रमुख हैं। परन्तु यहा के सभी मूल निवासियो के भाषिक, सामाजिक और सास्कृतिक सम्बध प जाब के लोगो से न होकर पश्चिमी उत्तर-प्रदेश और राजस्थान के लोगो से ही अधिक हैं। इस दृष्टि से इन्हे हिन्दी प्रदेश के लोगो मे ही गिनना चाहिए।

पजाब मे, जैसा कि पीछे बताया गया, कोई स्थानीय आदिवासी जन-जाति नहीं है। पजाब के हरिजन, जो सयुक्त पजाब मे अधिकतर ईसाई हो गए थे, या तो प्राचीन आर्यो के दासो के वशज हैं अथवा बाद मे पूर्व से आयात किए गए हैं। इनके अलावा 'अभियुक्त' कहलाने वाली जो खानाबदोश जन-जातियाँ देखने मे आती थी, जैसे 'साँसी, 'महतम' 'बरड' 'भेडकुट' आदि, वे सभी अन्य प्रदेशों से आ कर यहा फिरने लगी थी।

विशुद्ध पजाबी लम्बे कद, सुदृढ हाथ-पाँव और चौडी छाती वाला स्वस्थ सुगठित और बलवान व्यक्ति होता है। कश्मीरियो को छोडकर अन्य सब भारतीयों की अपेक्षा पजाबियो का रग अधिक खुलता हुआ गेहूँआ है। पजाब मे भूरे बालो और भूरी अथवा नीली आँखो वाले यूनानी रूप बहुत मिलते हैं। कुछ पुराने ब्राह्मण और खत्री वश तो बहुत ही सुन्दर और प्रभावी दीखते हैं। माँझा और मालवा कहलाने वाले क्षेत्रो के जाट शारीरिक बल, कद और गठन की दृष्टी से अद्वितीय हैं। प्राय. सभी किसान अत्यत स्वस्थ, बलिष्ट और अपार

परिश्रम क्षमता के मालिक हैं। कृषक के रूप में पजावी का कोई मुकाबला ही नहीं। परन्तु शहरी और देहाती का अन्तर अन्य प्रदेशो की अपेक्षा पजाब म कुछ अधिक प्रकट है।

धर्म और सस्कृति

बटवारे के बाद पूर्वी पजाव से लगभग सारे ही मुसलमानो के पाकिस्तान चले जाने के दृष्टिगत भारतीय पजावियो को अब सम्पूर्णतया 'हिन्दू' कहना चाहिए। इन मे केशधारी सिक्ख साम्प्रदाए भी सम्मिलित है, यद्यपि अब कुछ साम्प्रदायिक राजनीतिक नेता अपने विशेष हितों की पूर्ति के लिए उन्हे हिन्दुओ से अलग बतलाने लगे हैं। वास्तव में सिक्ख पथ हिन्दू धम की एक ऐसी ही शाखा अथवा सम्प्रदाए है, जैसे कि कबीर पन्थी, गोरख पन्थी पौर दादूपन्थ आदि अन्य सम्प्रदाए हैं। न केवल सब सिक्ख गुरु और उनके अनुयायी पक्के हिन्दू थे, तथा उनका धर्म प्रधानत हिन्दू परम्पराओ पर आधारित था, बल्कि आज भी पजाव और सिध के लाखो हिन्दू गुरु ग्र थ साहव के सिवा और किसी धर्म ग्रथ का नाम नहीं जानते। पश्चिमी पजाव के देहात में तो सर्वत्र गुरुओ की वाणी ही चलती थी। और सिक्खों से ज्यादा हिन्दू ही गुरुद्वारो म, जिन्हे वे धर्मशाले' कहते थे, माथा टेकने जाते थे। जाति पाति की व्यवस्था गुरुओ द्वारा निन्दित होने पर भी इस आधार पर हिन्दू और सिक्ख परिवारों के बीच रोटी बेटी के सम्बन्ध आज तक चले आ रहे हैं। इसके अलावा स्वय सिक्खो मे 'सहजधारी' और 'नामधारी' के नामो से उपसम्प्रदाए चलते हैं, जिन मे पहला वर्ग केश धारण न करने के कारण और दूसरा ब्राह्मण धर्म का अनुयायी होने के कारण हिन्दूओ से पृथक नहीं है। वास्तविकता यह है कि सिक्ख मत पजाबी हिन्दुओ के लिए एक सहज, सुबोध और लोक प्रिय धर्म रहा है। केशधारी सिक्खो का जो रूप रूप आज दिखाई देता है—और जिस कारण वे साधारण हिन्दुओ से भिन्न मालूम पडते हैं—वह तो, जैसा कि पीछे बताया गया, अतिम गुरु गोविन्द सिह ने युद्धकालीन परिस्थितियो मे सामायिक सैनिक उद्देश्यो से 'सजाया' था। इस सज धज के सिवा हिन्दुओ और सिक्खो के बीच और कोई भी अन्तर नही है। उनकी भाषा, रहन सहन और सस्कृति बिल्कुल एक सी है।

परन्तु पंजाब मे स्वयं हिन्दू धर्म की जडे कुछ अधिक गहरी नही हो पाई हैं। निरतर आक्रमण, उपद्रव और अशाति के वातावरण मे, जहाँ जीवन-रक्षा ही सब से बडा ध्येय हो, धार्मिक सूक्ष्मता की बहुत कम गुंजाइश होती है। यही कारण है कि पजाब के हिन्दू धर्म पर इस्लाम की सब से गहरी छाप पडी है, जिसका एक परिणाम तो सिक्ख पथ की व्यापक सफलता ही है।" प्राचीन हिन्दू मदिर, जो भी रहे होगे, मुसलमान आक्रामको ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिए। फलत. आज पजाब मे ज्वालामुखी और कुरुक्षेत्र के अतिरिक्त और कोई भी उल्लेखनीय हिन्दू तीर्थस्थान शेष नहीं रहा। शहरो मे शिवजी के शिवाले, राम और कृष्ण के ठाकुर द्वारे और देवी चन्डी के मन्दिर अवश्य मिलते हैं। और शहरी लोग धर्म की मोटी-मोटी बातो से परिचित भी हैं। परन्तु त्रिमूर्ति मे ब्रह्मा विष्णु और महेश को अलग-अलग पहचान देना शायद किसी भी साधारण पजाबी के लिए सम्भव न हो। फिर लोक धर्म या तो गुरुवाणी है, या आधा मुसलमानी। जिस प्रकार पजाब मे मुसलमान 'सन्यासी' और 'जोगी' रहे है, उसी प्रकार पजाबी हिन्दूओ मे 'पीरो' का सिलसिला चलता है। आज भारत मे जहाँ कहीं पजाबी शरणार्थी जाकर बसे हैं, वहाँ इस प्रकार के कितने ही पीरो' को अपना आडम्बर रचाए हुए देखा जा सकता है। इसी से मिलती 'देवी' की प्रथा है। कोई गुमनाम देवी किसी जाहिल औरत के शरीर मे प्रविष्ट कर जाती है, और तब वह अट शट बकने लगती है। इन 'पिरो' और 'देवियो' की सभाओ मे यद्यपि कुछ हिन्दू देवी-देवताओ के चित्र रख लिए जाते है, परन्तु वातावरण खालिस सूफियाना होता है। वही 'हाल' आना, सिर हिलाना और 'हू हू' के नारे लगाना इन मे भी चलता है। 'गोगा' (नाग) 'सखी सरवर' सीतलामाई और अगणित शुभ व अशुभ प्रेतात्माओ की पूजा इसके अतिरिक्त है। यदि एक और सिद्धो की शृंखला है, तो दूसरी ओर जाटो की पूर्वज-पूजा अपनी अलग विशिष्टता रखती है। १४ वी शती मे हुए रामानन्द के वैरागी भी काफी सख्या मे हैं। इस प्रकार मिला जुला कर पंजाब का लोक-धर्म हिन्दू मुस्लिम मिश्रित धर्म है। धार्मिक शब्दावली भी मुस्लिम-प्रधान है, जैसे ईश्वर के लिए, 'रब्ब' और 'परवरदिगार' और स्वय के लिए 'बन्दा' आदि शब्दो का

प्रयोग। अवश्य इन मे से कई बातें अब शेष नहीं रही।

आधुनिक युग के धार्मिक सुधारवादी आन्दोलनो मे से पजाब मे सब से ज्यादा प्रभाव आर्य समाज का है। आर्य समाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द यद्यपि काठियावाड के गुजराती थे, परन्तु उन के मूर्ति भजक वैदिक प्रचार को सर्वाधिक सफलता पजाब मे ही प्राप्त हुई। आर्य समाज प्राचीन वैदिक विचारो को आधुनिक विज्ञान के प्रकाश म देखने के प्रयास का नाम है। इसी लिए प जाब के शिक्षित वर्ग मे इसे अधिक मान्यता प्राप्त हुई है। कुछ काल पूर्व से हरियाना के जाट भी इस विचार-धारा से प्रभावित हो रहे हैं। प जाब की आर्य समाज सस्था ने एक समाज सुधार और शिक्षा प्रचार आन्दोलन के रूप में आश्चयजनक सफलता प्राप्त की है, परन्तु अब यह सगठन राजनीतिक पचडो मे पड कर ह्रासोन्मुख होने लगा है। इस समय तो यह प जाब के हिन्दुओ के लिए एक महान अभिशाप बन गया है। इस ने हिन्दी को हिन्दू मात्र से जोडने का जो चमत्कार दिखाया है, उससे खुद इस का भविष्य तो अधकारमय हुआ ही है, स्वय हिन्दी और प जाब के हिन्दू का भविष्य भी सकट मे पड गया है।

भाषा और साहित्य

पजाबियो की भाषा पजाबी है, जो शौरसेनी अपभ्र श के अन्तगत एक आधुनिक आय भाषा है। इस दृष्टि से पजाबी का सैद्धातिक स्थान पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती के समतुल्य तथा हिन्दी उर्दू आदि से श्रेष्ठ है। परन्तु पजाब मे शिक्षा माध्यम और राज भाषा के रूप मे एक दीघ काल तक उर्दू का आधिपत्य रहने के कारण पजाबी उतनी उन्नति नही कर सकी, जितनी कि उसे करनी चाहिए थी। अवश्य अब उसे उसका उचित स्थान दिया जा रहा है, और विगत कुछ वर्षों म उसम उच्च कोटि की साहित्यिक रचनाए हुई हैं।

पजाबी की यो तो अनेक बोलियाँ हैं, परन्तु मुख्यत इसके दो ही रूप माने जाते हैं—पजाब की पजाबी और जम्मू की बोली डोगरी। पजाब की पजाबी

मे लाहौर-अमृतसर की केन्द्रीय भाषा को साहित्यिक मानदंड माना जाता है। इस भाषा मे पुराना और नया उत्कृष्ट साहित्य उपलब्ध है। पजाबी की विशेषता उसकी सजीवता, सरसता और मुहावरेदारी है। उसमे थोड़े शब्दो मे अधिक कहने की अद्भुत क्षमता है।

पजाबी की अपनी लिपि गुरुमुखी है, जो सिख गुरुओ द्वारा निर्मित देवनागरी का एक परिवर्तित रूप है। कहते हैं कि गुरुओ ने एक गुप्त लिपि के रूप मे इसका प्रयोग आरम्भ किया। परन्तु पजाबी मे फ़ारसी और देवनागरी लिपियो का प्रयोग भी बराबर हुआ है। पुराना लौकिक साहित्य तो प्रायः सारा ही फारसी लिपि मे है। इस प्रकार प्रारम्भ से ही पजाबी की यह तीन लिपियाँ चली आ रही हैं। परन्तु जहा अतीत मे अन्य दो लिपियो से सम्बद्ध मूल भाषाओ, अर्थात फ़ारसी-अरबी और सस्कृत की साहित्यिक परम्पराओ ने पजाबी को समृद्ध और शक्तिशाली बनाया, वहाँ आज उसकी यही विशेषता साम्प्रदायिक कारणो से घोर विवाद का आधार बन गई है। वास्तव मे यह विवाद सर्वथा अनावश्यक और मूर्खतापूर्ण है, क्योकि जब तक सभी भारतीय भाषाओ के लिए सर्वसम्मति से देवनागरी लिपि अपनाने का निश्चय न हो जाए, तब तक के लिए केवल गुरुमुखी को (फारसी का तो खैर अब प्रश्न ही नहीं) पजाबी की एक मात्र लिपि मान लेना ही बुद्धिमता है।

इस मे सदेह नही कि प्रारम्भ म पजाबी और पश्चिमी हिन्दी एक ही थी। १० वी शती के अत मे, जब विभिन्न क्षेत्रीय अपभ्र श आधुनिक भारतीय भाषाओ का रूप धारण कर रही थी, तब पंजाब और मध्य-देश की भाषाओ मे कोई विशेष अंतर नहीं था। सूफी बाबा फरीद (१२ वी शती) और जोगी बाबा गोरखनाथ की रचनाओमे जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, वह आदि हिन्दी ही है, अथवा सधुक्कडी। बाद के पजाबी सतो ने भी कबीर, रवीदास और दादू-दयाल आदि की सधुक्कडी भाषा का ही अनुकरण किया है। स्वयं गुरु नानक ने, जिन्हें पजाबी के आदि रचयिताओ मे उच्चतम स्थान प्राप्त है, अपनी वाणी मे अधिकतर इसी भाषा का प्रयोग किया।

ग्यारहवी शती के प्रारम्भ मे, जबकि पजाब पर प्रति वर्ष मुसलमानी

आक्रमण आरम्भ हुए और पंजाबियो को जगह-जगह स्थानीय रूप से उन वाह्य आक्रमणों का मुकाबला करना पडा, तब 'वार' के नाम से एक युद्ध-सम्बन्धी गीत परम्परा प्रचलित हुई। इन रचनाओं में राजस्थान की वीर-गाथाओं के ढग पर पजाब के स्थानीय वीर योद्धाओं का वर्णन और कीर्ति-गान है। पजाबी के उसी आदि कालीन लोक-काव्य की शैली को आगे चल कर बाद के सिक्ख गुरुओं ने भी अपनाया।

पजाबी के लिखित सत काव्य मे एक तो मुस्लिम सूफियो का कलाम है, और दूसरा सिक्ख गुरुओं की वाणी। दोनों का दृष्टिकोण और विचार-व्यजना बहुत कुछ एक सी है। दोनों एकेश्वरवाद, मानवी समता तथा शांति और सद्‌भावना का उपदेश देते हैं। यह सारा साहित्य रहस्यवादी, अथवा आध्यात्मिक और उपदेशात्मक है। रचयिताओं में मुस्लिम सूफ़ी वर्ग के शाह हुसैन, सुल्तान बाहु और बुल्लेशाह तथा सिक्ख गुरुओं मे आदि गुरु नानक, अगद, अमरदास, रामदास, अर्जुनदेव और तेगबहादुर प्रमुख हैं।

सिक्ख गुरुओं की रचनाए 'गुरु ग्रथ साहब' मे सुरक्षित हैं। इसे पजाबी के आध्यात्मिक काव्य की सबसे महान कृति माना जाता है। यही सिक्ख सम्प्रदाए का आधारभूत धर्म-ग्रथ है। इस में, ऊपर गिना छ गुरुओं के नाम आए हैं, उनके अलावा कई अन्य हिन्दू और मुस्लिम सत कवियो की रचनाएँ भी सकलित हैं। अवश्य भाषा अनेक स्थानों पर तत्कालीन पजाबी न होकर आदि ब्रज और सधुक्कडी है।

सिख गुरुओ की अन्य रचनाओ मे गुरु नानक का 'जप साहब, गुरु अर्जुन देव की 'सुखमनी' और गुरु गोविन्द सिंह का 'जप साहब' सिक्खो के अत्यत प्रिय धर्म ग्रथ हैं। साहित्यिक दृष्टि से भी ये उच्चकोटि के हैं। गुरू गोविन्द सिंह ने सस्कृत, फ़ारसी, ब्रज और पजाबी चारो भाषाओ मे लिखा।

पजाबी साहित्य की दूसरी धारा सत्रहवीं और अठारहवीं शतियो के बीच उस ह्रासोन्मुख युग मे प्रवाहित हुई, जिसे हिन्दी मे शृंगारिक काव्य का रीति-काल कहते हैं। उस युग मे स्पष्ट पजाबी मे कुछ उत्कृष्ट रोमांटिक किस्से लिखे गये। यह रोमांटिक किस्से, जिन्हें 'पजाबी लौकिक

साहित्य की अमूल्य 'निधि' कहना चाहिए, अपने पूर्ववर्ती संत-काव्य से पूरी तरह प्रभावित हैं। पंजाबी के तीनो प्रेम प्रधान महाकाव्य 'हीर रांझा', 'सस्सी-पन्नु' और 'सोहनी महिवाल' दुःखांत हैं। इन मे वारिस शाह (१७३५—१७९८) कृत 'हीर' सबसे प्रसिद्ध और पंजाबी की सब से लोक-प्रिय साहित्यिक रचना है। पंजाबी जन-जीवन पर किसी भी वस्तु का इतना प्रभाव नही है, जितना कि 'हीर' का है। यह एक प्रकार से पंजाबियो की नैतिक प्रेरणा का स्रोत रहा है। 'हीर' मे तत्कालीन पंजाब की मिली-जुली हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का बड़ा अच्छा परिचय मिलता है।

पंजाबी के 'रोमांटिक कथा-काव्य' के अन्य रचयिताओ मे सूफी परम्परा के बुल्ले शाह भी गणनीय हैं। उनकी 'काफी' लोक-प्रिय है। उनके अलावा दामूदर, पीलू, हफीज, हाशिम और कादरयार के नाम भी उल्लेखनीय हैं। बाद के युग में दौलत राम, कालीदास, किशन सिंह, मिल्खी राम और विधाता सिंह 'तीर' आदि ने प्राचीन वीर-काव्य और रोमांटिक कथा-काव्य दोनों की परम्पराओ को जीवित रखने का प्रयास किया। विधाता सिंह 'तीर' की 'रूप रानी शकुंतला' उच्च साहित्यिक मूल्य रखती हैं। आधुनिक युग मे मोहन सिंह सहराई और 'रूप' आदि ने दर्जनो वार' लिखे है

पंजाबी मे गद्य के विकास का श्रेय जिस व्यक्ति को प्राप्त हुआ, वह थे भाई वीर सिंह। उन्होने १९४७ तक अपने ७५ वर्ष के जीवन मे सिक्ख इतिहास-सम्बन्धी बहुत से उपन्यास लिखे, जिनमे सिक्खो की वीरता और बलिदान तथा मुगल सम्राटो के अत्याचारो का वर्णन है। उनकी 'राणा सूरत सिंह' नामक लम्बी कविता मे वही 'परमात्मा की खोज' का संत काव्य-सम्बधी विषय चलता है। उनकी 'कलगीधर चमत्कार' और 'गुरुनानक चमत्कार' नामक गुरुगोविन्द सिंह और गुरु नानक की जीवनियां काफी लोक-प्रिय हुई हैं। उनके 'मेरे सैयां जिओ' नामक ग्रंथ को स्वतन्त्रता के बाद प्रकाशित पंजाबी की सर्व-श्रेष्ठ रचना के रूप मे राष्ट्रीय पुरस्कार भी दिया गया था।

भाई वीर सिंह के चार समकालीन कवियों मे धनीराम 'चात्रिक विशेष प्रसिद्ध हैं। उनके काव्य-संग्रह दो किसी भी अन्य भारतीय भाषा की तुलना में

रखे जा सकते हैं। उनके अलावा नवीनता लिए हुए कवियों में चरणसिंह, पूरण सिंह, प्रीतम सिंह 'सफीर', दीवान सिंह और बावा बलवत के नाम उल्लेखनीय हैं।

वर्तमान युग मे पजाबी के सबसे कुशल और प्रतिष्ठित कवि मोहन सिंह हुए हैं, और कवियित्री हैं अमृता प्रीतम। अमृता के प्रेम-काव्य में लोक-गीत और प्राचीन वीर गाथा की मधुर ध्वनि सुनाई पडती है। 'वारिसशाह के प्रति' नामक उनका करुण काव्य पजाब के विभाजन और साम्प्रदायिक रक्तपात के विरुद्ध शोकमय प्रतिवाद व्यक्त करने वाली एक मार्मिक रचना है।

पजाबी गद्य मे भाई वीरसिंह के बाद सबसे बडा नाम गुरुबख्श सिंह का है। भारत-पाक सीमा पर स्थित उनका प्रीतनगर नामक सामुहिक केन्द्र एक प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र रहा है। सामाजिक उपन्यास के क्षेत्र मे अभी हाल तक पजाबी के एक-मात्र सुपरिचित उपन्यासकार नानकसिंह थे, जिन्होंने प्रेमचन्द और शरद्चन्द्र का अनुसरण करते हुए नित्य जीवन पर आधारित करीब चालीस उपन्यास लिखे। उनमे 'चिट्टा लहू' और 'आदमखोर' विशेष प्रसिद्ध हैं। सुरेन्द्रसिंह नरूला और जसवतसिंह कवल भी अच्छे उपन्यासकार हैं।

लघुकथा अथवा कहानी मे पजाबी लेखको ने विशेष सफलता प्राप्त की है। इस क्षेत्र मे प्रमुख अगुवा सतसिंह सेखो और करतारसिंह दुग्गल, जिनका नाम हिन्दी और उर्दू जगत मे भी इतना ही सुपरिचित है, तथा कुलवतसिंह विर्क, नवतेज, सुजानसिंह और महेन्द्रसिंह 'सरना' के नाम गिनवाए जा सकते हैं। इन लेखको की कुछ रचनाएँ तो इतने उच्च स्तर की हैं कि उन्हें विश्व की सर्वोत्तम कहानियो के सग्रह मे जगह दी जा सकती है।

बलवतगार्गी ने पजाबी नाटक को अतर्राष्ट्रीय स्तर पर पहुँचाने का कार्य किया है, जिसमे अवश्य उनके कम्यूनिस्ट विचारों और राजनैतिक सम्बधो का भी काफी हाथ है। अभी हाल मे उन्हे पजाब सरकार की ओर से पजाबी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार होने के नाते पुरस्कार दिया गया है।

इन लेखको के अलावा पजाब के अधिकतर सिख नेता भी कभी न कभी साहित्यकार रहे हैं। ज्ञानी गुरुमुखसिंह 'मुसाफिर' पजाबी के प्रभावशाली कवि

हैं, और प्रसिद्ध कम्यूनिस्ट् नेता सोहनसिंह जोश धर्म-ग्रंथों के उत्तम टीकाकार माने जाते है। निरंजनसिंह 'तालिब', जो कलकत्ता से पंजाबी अख्बार 'देश-दर्पण' निकालते रहे हैं, अच्छे गद्यकार हैं। और तो और, स्वयं मास्टर तारासिंह किसी समय टार्जन टाइप के जंगली उपन्यास लिखा करते थे !

पंजाबी मे अभी बहुत सा काम होना बाकी है। दीर्घकाल तक उपेक्षित रहने के कारण उसकी स्वाभाविक प्रगति रुकी सी रही है। फिर वर्तमान युग की साम्प्रदायिक जटिलताएँ और हिन्दी-गुरुमुखी का झगड़ा इसके अलावा है। परन्तु यह निश्चय ही बड़े दुःख और लज्जा का विषय है कि बहुत से पंजाबी हिन्दू पंजाबी को अपनी मातृ-भाषा तक स्वीकार करने से इन्कार करते है। उनका यह कहना कि उनकी भाषा सदा से हिन्दी रही है, सर्वथा असत्य है। पंजाबी हिन्दू नारी समाज में हिन्दी-शिक्षा का कुछ प्रचार रहा है। परन्तु यदि शिक्षा के आधार पर ही किसी क्षेत्र की भाषा निर्धारित करनी है, तो हिन्दी से कही अधिक पंजाब की भाषा कहलाने का अधिकार उर्दू को है, जो आज भी पंजाब के साक्षर वर्ग की लगभग ७५ प्रतिशत संख्या के लिखने-पढने की एक मात्र भाषा है। अवश्य यह स्थिति केवल वर्तमान पीढ़ी तक सीमित है, और हिन्दी अपनी जगह ले रही है, परन्तु इसके आधार पर हिन्दी को पंजाबियों की भाषा तो नही कहा जा सकता।

पंजाबी लेखको ने उर्दू और हिन्दी को भी महान देन दी है। आधुनिक युग के उर्दू महाकवि इक़बाल का नाम अब यद्यपि पाकिस्तान के साथ जोड़ा जाता है, परन्तु उर्दू मे 'हिन्दोस्ताँ हमारा' का पहला राष्ट्रीय गीत उन्ही की रचना है। आज भारत मे उर्दू कविता के रखवाले अधिकतर पंजाबी ही हैं। कथाकारों मे कृष्ण चन्द्र, राजेन्द्रसिंह बेदी, देवेन्द्र सत्यार्थी, उपेन्द्रनाथ अश्क और हंसराज रहबर आदि सब पंजाबी है। हिन्दी मे भी सुदर्शन और चन्द्रधर गुलेरी से लेकर यशपाल, अज्ञेय, दिनेश और मोहन राकेश तक कई दर्जन नाम आते हैं।

गीत और किस्से

पंजाब जैसी वीर-भूमि, जो सदैव महान ऐतिहासिक घटनाओं का रंग-

स्थल रही है, बहादुरों के किस्सों से खाली नहीं रह सकती। कुछ किस्से-कहानियाँ रामायण, महाभारत और पंचतंत्र पर आधारित हैं। प्रह्लाद की ईश्वर-भक्ति और उसके असुर पिता हिरण्यकशिपु के नृसिंह अवतार द्वारा मारे जाने की पौराणिक कथा भी इन्हीं में सम्मिलित है। परन्तु सबसे प्रसिद्ध और प्राचीन लोक-कथा राजा रसालू की है। रसालू चमत्कारपूर्ण शक्तियों का मालिक था। वह शत्रुओं के विरुद्ध अद्भुत रूप से विजयी होता था। शूरवीरता और उदारहृदयता में वह पंजाब का एक आदर्श पुरुष है। उसकी कथा राजा शालिवाहन और उसकी दो रानियों तथा पूर्ण भक्त और गुरु गोरखनाथ जैसे विभिन्न पात्रों के इर्द-गिर्द घूमती है। पूर्ण बड़ी रानी का बेटा था, जिसे छोटी रानी की कुदृष्टि के फलस्वरूप निर्वासित होना पड़ा। उसकी दोनों आँखें क्रूरता-पूर्वक निकाल दी गई थीं। परन्तु अंत में वह गुरु गोरखनाथ की कृपा से पूर्ण सिद्ध बना, और उस के आशिर्वाद से छोटी रानी को पुत्र उत्पन्न हुआ, जो इस कथा के अनुसार चावल के एक दाने से पैदा हुआ था। यही पुत्र वयस्क होने पर राजा रसालू बना।

पंजाब के देहात की चौपालों में कथा-वाचक इस प्रकार के किस्से सुनाते हैं। और मीरासी लोग, जो पंजाब के परम्परागत चले आ रहे लोक-गायक और चारण थे, अभी हाल तक इन परम्पराओं को बनाए हुए थे। पंजाब में आल्हा-ऊदल, राजा बीरबल और मुग़ल बादशाहों के किस्से भी प्रचलित हैं। बादशाहों और बहादुरों के बाद अगला नम्बर प्रेमियों का है, जो पंजाबियों की दृष्टि में ऐसे ही आदर्श पुरुष हैं, जैसे कि रणक्षेत्र में अपने प्राणों की आहुति देने वाले वीर योद्धा होते हैं। राँझा, महीवाल, मिर्ज़ा और पन्नू पंजाब के सर्वप्रसिद्ध अनुसरणीय प्रेमी हैं। उनसे सम्बंधित लोक-कथाओं को अनेकों बार रंग-मंच और चित्र पट पर प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार यह प्रेम-कथाएँ पंजाब तक सीमित न रहकर समस्त भारत की सामान्य सम्पत्ति बन गई हैं।

गीतों में पंजाब का स्थान बहुत ऊँचा है। प्राचीन आर्यों की तरह आज का पंजाबी भी प्रत्येक काम गाते हुए करना पसन्द करता है। पंजाबी लोक-

गीतो के कितने ही रूप आधुनिक भारतीय सगीत का अग बन गए हैं, और हिन्दी चल-चित्रो मे विशेष स्थान पा रहे हैं। इन मे 'लोरी, 'माहिया' और 'ढोला' विशेष प्रशसित हैं। पजाब की 'लोरी' अपना अलग ही माधुर्य रखती है। उसमे माँ का सारा प्यार, कामनाएँ और महत्वाकाक्षाएँ समाई हुई होती हैं। 'माहिया' और 'ढोला' प्रेम और विरह के गीत हैं, जिन्हें गडरिए और किसान लोग एकात में गाते हैं। 'थल' लडकियो का गीत है, जो चरखे पर सूत कातते हुए गाया जाता है। इनके अलावा 'घोडी' 'सुहाग' और 'गिद्दा' नाम, के शादी के नृत्य गीत हैं, जिन्हें औरतें ढोलक के साथ मिलकर गाती हैं। इसी प्रकार बच्चे के जन्म पर 'होलार' गाया जाता है। इसमे भी बहुत सी औरतें एक साथ भाग लेती हैं। इन गीतो मे देहाती पजाब मुखरित होता है। कुछ गीतो का सम्बन्ध खास-खास रस्मो से है, कुछ का त्योहारो से और कुछ नृत्य के साथ गाने के लिए हैं, जैसे पजाब के विशिष्ट लोकनाच 'भगडा' और 'गिद्दा' के अपने अलग गीत हैं।

भंगडा और अन्य नृत्य

ढोल की उत्साह-प्रद ध्वनि के साथ अनुकूल सगीत का सगठन और हर्ष की हार्दिक भावना की सगति करती हुई हाथो, पैरो और गर्दन की तीव्र गति, घुघरुओ की मधुर झकार तथा नर्तको का उल्लासपूर्ण हाव-भाव, ये सब तत्व जब एकत्र होते हैं, तब भगडा जन्म लेता है। यह सच्ची प्रसन्नता का प्रदर्शन करने वाला पजाब का सब से आकर्षक सामुदायिक नृत्य है। भगडे का कोई विशेष नियम नही है, और न नर्तकों की कोई सख्या ही निश्चित है। ढोलिया बीच मे होता है, और उसके चारो ओर घेरे में नाच चलता रहता है। नृत्य को भग किए बिना जितने आदमी चाहे इस मे भाग ले सकते हैं।

पजाबी मुहावरे के अनुसार जब भगडा 'डाला' जाता है, तब सब काम बन्द हो जाते हैं। भगडा नाचने वालो के लिए अत्यन्त भावुक और आवेशपूर्ण होने के साथ-साथ बहुत स्वस्थ, बलिष्ठ और फुरतीला होना भी जरूरी है। यह हर्ष का नाच है, इसमे अग-अग थिरकने लगते हैं। बीच-बीच मे नर्तक हाथों

स्थल रही है, बहादुरो के किस्सो से खाली नही रह सकती। कुछ किस्से-कहानियाँ रामायण, महाभारत और पंचतत्र पर आधारित हैं। प्रह्लाद की ईश्वर-भक्ति और उसके असुर पिता हिरण्यकशिपु के नृसिंह अवतार द्वारा मारे जाने की पौराणिक कथा भी इन्हीं मे सम्मिलित है। परन्तु सबसे प्रसिद्ध और प्राचीन लोक-कथा राजा रसालू की है। रसालू चमत्कारपूर्ण शक्तियो का मालिक था। वह शत्रुओं के विरुद्ध अद्भुत रूप से विजयी होता था। शूरवीरता और उदारहृदयता में वह पंजाब का एक आदर्श पुरुष है। उसकी कथा राजा शालिवाहन और उसकी दो रानियों तथा पूर्ण भक्त और गुरु गोरखनाथ जैसे विभिन्न पात्रो के इर्द-गिर्द घूमती है। पूर्ण बड़ी रानी का बेटा था, जिसे छोटी रानी की कुदृष्टि के फलस्वरूप निर्वासित होना पड़ा। उसकी दोनों आँखें क्रूरता-पूर्वक निकाल दी गई थीं। परन्तु अंत में वह गुरु गोरखनाथ की कृपा से पूर्ण सिद्ध बना, और उस के आशिर्वाद से छोटी रानी को पुत्र उत्पन्न हुआ, जो इस कथा के अनुसार चावल के एक दाने से पैदा हुआ था। यही पुत्र वयस्क होने पर राजा रसालू बना।

पंजाब के देहात की चौपालो मे कथा-वाचक इस प्रकार के किस्से सुनाते हैं। और मीरासी लोग, जो पंजाब के परम्परागत चले आ रहे लोक-गायक और चारण थे, अभी हाल तक इन परम्पराओं को बनाए हुए थे। पंजाब मे आल्हा-ऊदल, राजा बीरबल और मुग़ल बादशाहो के किस्से भी प्रचलित हैं। बादशाहो और बहादुरों के बाद अगला नम्बर प्रेमियो का है, जो पंजाबियो की दृष्टि मे ऐसे ही आदर्श पुरुष हैं, जैसे कि रणक्षेत्र मे अपने प्राणो की आहुति देने वाले वीर योद्धा होते हैं। रांझा, महीवाल, मिर्ज़ा और पन्नू पंजाब के सर्वप्रसिद्ध अनुसरणीय प्रेमी हैं। उनसे सम्बधित लोक-कथाओं को अनेकों बार रग-मच और चित्र-पट पर प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार यह प्रेम-कथाएँ पजाब तक सीमित न रहकर समस्त भारत की सामान्य सम्पत्ति बन गई हैं।

गीतो में पजाब का स्थान बहुत ऊँचा है। प्राचीन आर्यों की तरह आज का पंजाबी भी प्रत्येक काम गाते हुए करना पसन्द करता है। पंजाबी लोक-

गीतो के कितने ही रूप आधुनिक भारतीय सगीत का अग बन गए है, और हिन्दी चल चित्रो मे विशेष स्थान पा रहे हैं। इन मे 'लोरी, 'माहिया' और 'ढोला' विशेष प्रचलित हैं। पजाब की 'लोरी' अपना अलग ही माधुर्य रखती है। उसमे माँ का सारा प्यार, कामनाएं और महत्वाकाक्षाएं समाई हुई होती हैं। 'माहिया' और 'ढोला' प्रेम और विरह के गीत हैं, जिन्हें गडरिए और किसान लोग एकात मे गाते हैं। 'चर्ख' लडकियो का गीत है, जो चरखे पर सूत कातते हुए गाया जाता है। इनके अलावा 'घोडी' 'सुहाग' और 'गिद्दा' नाम, के शादी के नृत्य गीत हैं, जिन्हें औरतें ढोलक के साथ मिलकर गाती हैं। इसी प्रकार बच्चे के जन्म पर 'होलार' गाया जाता है। इसमे भी बहुत सी औरतें एक साथ भाग लेती हैं। इन गीतो मे देहाती पजाब मुखरित होता है। कुछ गीतो का सम्बन्ध खास-खास रस्मो से है, कुछ का त्योहारो से और कुछ नृत्य के साथ गाने के लिए हैं, जैसे पजाब के विशिष्ट लोकनाच 'भगडा' और 'गिद्दा' के अपने अलग गीत हैं।

भंगडा और अन्य नृत्य

ढोल की उत्साह प्रद ध्वनि के साथ अनुकूल सगीत का सगठन और हर्ष की हार्दिक भावना की सगति करती हुई हाथो, पैरो और गर्दन की तीव्र गति, घुघरुओ की मधुर झकार तथा नर्तको का उल्लासपूर्ण हाव-भाव, ये सब तत्व जब एकत्र होते हैं, तब भगडा जन्म लेता है। यह सच्ची प्रसन्नता का प्रदर्शन करने वाला पजाब का सब से आकर्षक सामुदायिक नृत्य है। भगडे का कोई विशेष नियम नही है, और न नर्तको की कोई सख्या ही निश्चित है। ढोलिया बीच मे होता है, और उसके चारो ओर घेरे मे नाच चलता रहता है। नृत्य को भग किए बिना जितने आदमी चाहें इस मे भाग ले सकते हैं।

पजाबी मुहावरे के अनुसार जब भगडा 'डाला' जाता है, तब सब काम बन्द हो जाते हैं। भगडा नाचने वालो के लिए अत्यन्त भावुक और आवेशपूर्ण होने के साथ-साथ बहुत स्वस्थ, बलिष्ठ और फुरतीला होना भी जरूरी है। यह हर्ष का नाच है, इसमे अग अग थिरकने लगते हैं। बीच-बीच मे नर्तक हाथो

को ऊपर उठा कर एक टांग पर उछलते हैं, और 'वल्ले-बल्ले' और 'होय होय' का नारा लगाते हुऐ हाथो से ताली देते हैं। फिर नर्तक उछलना बन्द करके केवल ताल पर थिरकते रहते हैं। ऐसे अवसर पर एक प्रमुख बायें कान पर हाथ रखकर कोई 'बोल' या 'ढोला' गाता है और फिर पहले की तरह द्रुत-गति से नृत्य चल पड़ता है। आखिर मे गति इतनी तीव्र हो जाती है कि नाचने वाले के शारीरिक पट्ठो की सुदृढता और लचकीलेपन पर आश्चर्य होने लगता है। यह सम्पूर्णतया पुरुषो का नाच है; इसमे औरतो का कोई काम नहीं। परन्तु अब चल-चित्रो में औरतें भी भगडा नाचने लगी हैं!

भगडा नृत्य वेश-भूषा की दृष्टि से भी आकर्षक होता है। नर्तकों के सिर पर रंगीन साफा, उसी रग का तहमद और काली या नीला वास्कट से अजब रग बंध जाता है। परन्तु इस नृत्य की तीव्र गति, उछल-कूद और प्रकट धमाचौकडी के कारण कुछ लोग इसे 'असभ्य नृत्य' की सज्ञा देते हैं, जो न्यायोचित नहीं है। भगडा वास्तव में पजाब का सुन्दरतम नृत्य है, और पजाबी पौरुष और पराक्रम की परम्पराओ को पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित करता है। भगडा किसी वक्त भी 'डाला' जा सकता है, परन्तु साधारणत. त्योहारों पर इसका विशेष आयोजन होता है। अब तो राजनीतिक सफलता अथवा किसी भावना विशेष का प्रदर्शन करने के लिए भी भगडा डाला जाने लगा है।

भगडा के अलावा पजाब के अन्य लोक-नाचो मे 'गिद्दा', 'झूमर' और 'ढमयाल' प्रमुख हैं। गिद्दा पजाबी महिलाओ का विशेष नृत्य है। इसमे कई महिलाएं एक घेरे मे खडी होकर एक-एक टप्पे के साथ नाचती जाती हैं। कभी-कभी स्त्री पुरुष मिलकर भी गिद्दा नाचते हैं। झूमर आनन्द का परिचायक नृत्य है, और 'ढमयाल' खास पजाब का न होकर हरियाना का विशेष लोक-नृत्य है।

मेले और त्योहार

पंजाबी अपने त्योहारो म बडी श्रद्धा रखते हैं। त्योहार चाहे मौसमी हों, या फ़सली, धार्मिक हो या सामाजिक, पजाबी उन्हे सदैव बड़े उत्साह के साथ

मनाते हैं। सम्भवतः यह जीवन और उसकी रंगीनियों के प्रति इनके प्रगाढ़ प्रेम का ही परिचायक है कि इनके यहाँ होली एक ऐसा त्योहार बन गया है जो लगातार आठ दिन तक मनाया जाता है। उत्तर-भारत के दूसरे धार्मिक त्योहार, जैसे दशहरा, दीपावली, जन्माष्टमी, रामनवमी आदि सब विधिवत मनाए जाते हैं। परन्तु जिस त्योहार को पंजाब का विशेष देशीय त्योहार कहना चाहिए, वह है वैशाखी। अप्रैल में गेहूँ फटकार खलियानों में जमा हो जाती है। तब नववर्ष के प्रारम्भ पर पंजाब के किसान हर्षोल्लास के साथ इस प्रभावी त्योहार को मनाते हैं। जगह-जगह मेले लगते हैं, जिनमें किसान लोग नए वस्त्र धारण किए क्रय-विक्रय के लिए एकत्र होते हैं। नाना प्रकार के खेल-तमाशों के अतिरिक्त बहुधा ढोर-डंगर की प्रदर्शनी भी लगती है। भंगड़ा मंड-लियाँ अपना अलग रंग जमाती हैं। सिक्खों के लिए यह दिन एक विशेष धार्मिक महत्व रखता है, क्योंकि सन् १६५५ में इसी दिन गुरु गोविन्दसिंह ने 'खालसा' का संगठन किया था।

'लोहड़ी' पंजाब का एक खास त्योहार है, जो जनवरी के अंतिम दिनों में सर्दियों के अंत के प्रतीकस्वरूप मनाया जाता है। कुछ लोग होली की तरह इस त्योहार का सम्बन्ध भी भक्त प्रह्लाद से जोड़ते हैं। इन दिनों बच्चे घर-घर घूम कर लकड़ियाँ और उपले जमा करते हैं। नियत तिथि पर सायंकाल आग जलाई जाती है। लोग उसके इर्द-गिर्द एकत्र होकर गीत गाते हैं, तथा खील, बताशे और मकई के दानों के गुच्छे अग्नि को अर्पित करते हैं।

दिवाली से अगला दिन 'टीका' अथवा 'भैया दूज' के रूप में मनाया जाता है। बहनें चावल और केसर की पीठी का टीका भाइयों के माथे पर लगाती हैं। यह एक प्रकार से भाइयों को अपनी रक्षा के लिए शपथ-बद्ध करने की रस्म है। रक्षा-बंधन का साधारण त्योहार इसके अलावा है, जिस में बहन-भाइयों के साथ दूसरे लोग भी भाग लेते हैं। बसंत पंचमी भी पंजाब में विशेष रूप से मनाई जाती है। उस दिन बड़ा भारी मेला लगता है। आर्य समाजी लोग शिवरात्रि को दयानन्द के ज्ञान-दिवस के रूप में मनाते हैं, क्योंकि महर्षि दयानन्द को, जब वह बालक थे, इसी रात्रि में सत्य का बोध हुआ

सिक्खो के लिए अक्तूबर-नवम्बर मे 'गुरुपर्व' सब से महत्वपूर्ण दिवस है। पजाब मे अमृतसर, तरनतारन और आनन्दपुर साहब के अलावा पटना (बिहार) में भी इसका विशेष आयोजन किया जाता है। पटना गुरु गोविन्द सिह का जन्म स्थान है।

रहन-सहन, वस्त्र और भोजन

पजाबी अपने रहन-सहन का विशेष ध्यान रखते हैं। पजाब का किसान कई अन्य प्रदेशो के किसानों की तरह नगा-भूखा व्यक्ति नही होता, बल्कि अच्छा खाता-पीता खुशहाल आदमी होता है। वह सारे देश मे सब से ज्यादा कुशल और प्रगतिशील किसान है। वह सामान्यत. प्रसन्नचित्त और आनन्दमग्न रहता है। उस का मकान वर्तमान शहरी जीवन के विपरीत आज भी काफ़ी बडा और खुला हुआ होता है। सामने ही ड्योढी होती है, जो बैठक का काम देती है। अन्दर बडा सा सेहन होता है, जिसके पीछे ढोर-डगर बाधने का अलग स्थान रहता है। मकान मे कई कोठडियाँ होती हैं, जो आम तौर से गारे की अधी दीवारो पर कडियो के सहारे सीधी छतें डाल कर बनाई जाती हैं। पजाब मे छतें हमेशा समतल होती हैं, और चारो ओर नीची मुडेर सी बनी रहती है। ऐसी छतो पर पुराने जमाने मे युद्ध के लिए मोर्चे लगते थे। आज भी अवसर आ पडे, तो मोर्चे लग जाते हैं।

किसान का मकान बहुत साफ-सुथरा और थोडे बहुत फ़र्नीचर से सुसज्जित रहता है। आठ-दस चारपाइयाँ, एक दो अच्छे पलग, दरियाँ, खेस, कम्बल, रजाइयाँ, स्टूल, बक्स, मोढे, चरखे, आइने और पीतल के बर्तन प्रायः प्रत्येक घर मे रहते हैं। सिक्खो को छोड कर, जिनके पथ मे तमाखू निषिद्ध है, अन्य लोगों के घरो मे एक-दो अच्छे कीमती हुक्के भी रहते हैं। इनके अलावा आधे दर्जन मवेशी, एक रथ या बैलगाडी अथवा घोडा (यद्यपि अब साइकल का ही अधिक रिवाज हो चला है) और लाइसेंस सहित या उसके बिना ही एक-दो बन्दूकें, यह सब जरा अच्छे किस्म के किसान की निशानियाँ हैं। शहरी घरो में ऐसी ही वस्तुएँ तनिक आधुनिक ढग की होती हैं। पजाबी सारे देश मे

सब से ज्यादा आधुनिकता-प्रिय हैं। निम्न-मध्यम-वर्गीय लोग भी अपने घरों को आधुनिक फर्नीचर, सोफ़ा-सेट, ड्रेसिंग-टेबल और पर्दों से सजाने के इच्छुक रहते हैं। वास्तव में समस्त भारत में सब से ऊँचा जीवन-स्तर पंजाबियों का है।

जैसा कि बताया गया, पंजाबी साधारणतः अच्छे खाते-पीते लोग हैं। इसलिए इनका खान-पान और पहनावा भी अच्छे स्तर का होता है। पंजाबी वस्त्र यों तो बहुत सादा है, परन्तु विशेष अवसरों के लिए एक-दो कीमती रेशमी जोड़े प्रायः प्रत्येक के पास रहते हैं। किसान का साधारण वस्त्र गाढ़े के तहबन्द, उसी के लम्बी आस्तीनों वाले कुर्ते और प्रायः सीधी बंधी हुई पगडी तक सीमित है। चमड़े का अच्छा मजबूत नागरा जूता हरेक के पाँव में होता है, परन्तु विशेष अवसरों पर रेशमी रंगीन तहबंद, रेशमी धारीदार कुर्ता और उस पर काली साटिन अथवा इटैलियन की वास्कट का प्रयोग किया जाता है, जिस पर बहुधा सफेद बटन लगे हुए होते हैं। इस वस्त्र के साथ, जिसे पंजाब का रस्मी देशीय वस्त्र कहना चाहिए, पगडी भी विशेष ढंग से बांधी जाती है। पगड़ी को माथे पर से ऊपर तक पट्टी के रूप में बांध कर कभी एक ओर और कभी दोनों ओर कानों पर छोटे-छोटे शमले छोड दिए जाते हैं। इस वस्त्र और पगड़ी के साथ पंजाबी जवान की सज धज बडी प्रभावशाली और दर्शनीय हो जाती है।

शहरों में अभी हाल तक शलवार का काफ़ी रिवाज था। उसके साथ साधारणतः अंग्रेजी कमीज और कोट का प्रयोग किया जाता था। कुल्ले के ऊपर पगडी बाँध कर बहुत ऊंचा तुर्रा रखना एक प्रिय फ़ैशन था। यह वस्त्र एक प्रकार से पंजाब का सभ्य वस्त्र समझा जाता था। हिन्दू, मुसलमान और कुल्ले के बिना सिक्ख भी सब इसी का प्रयोग करते थे। परन्तु अब यह वस्त्र और पगड़ी केवल पुराने ढंग के लोगों में ही शेष रह गई है। छोटी मोरी के पाय-जामे के साथ कोट और पगडी अब भी चलती है, परन्तु रस्मी वस्त्र के रूप में भारत के सामान्य राष्ट्रीय वस्त्र अथवा अंग्रेजी सूट का प्रयोग ही अधिक है। खास पंजाब में धोती और साडी का रिवाज अपेक्षया कम है।

सिक्खों के लिए अवश्य पगडी का कोई बदल नही है। इसलिए उनके यहाँ यह वस्तु पूर्ववत शिरोधार्य है । सिक्खो मे पगडी बाधने के अनेक प्रकार और अनेक फैशन हैं, जिनकी व्यवस्था म सिक्ख सज्जनों को प्रतिदिन भाइने के सामने काफी समय व्यय करना पडता है। सिक्खों म, विशेषकर युवक समुदाय मे, 'जहाज-रूप' पगडी ही अधिक पसन्द की जाती है।

वस्त्र के विषय मे पजाबी स्त्री की स्थिति वस्तुतः ईर्ष्या-जनक है। वह भारी सख्या मे वस्त्र सिलवा कर रखती हैं, और बहुधा खुद भी हाथ से या मशीन से कुछ न कुछ सीती-काढती रहती है। फुलकारी, जिसे बाग भी कहते हैं, उसकी विशिष्ट हस्त-कला है, जिससे वह अपनी ओढनी और चादर आदि को रगीन धागो के फूलो से सजाती रहती है। शलवार, कमीज और चुन्नी (ओढ़नी) इन तीन को ही पजाबी स्त्री का साधारण वस्त्र माना जाता है। परन्तु पश्चिमी देहात मे पुरुषों की तरह तहबद बाँधने का रिवाज भी रहा है। शलवार और कमीज यो, तो बहुत साधारण वस्त्र मालूम पडते हैं, परन्तु इनमे भी फैशन ने जितने पल्टे खाए हैं, उनकी व्याख्या करने के लिए एक अलग ही पुस्तक अपेक्षित है। कुछ भी हो, पजाबी नारी का यह परम्परित वस्त्र अखिल भारतीय साडी के मुकाबले पर अपनी साख बराबर बनाए हुए हैं। यह अपनी चुस्ती, सुरूपता और अन्य सुविधाओ के कारण आज प्राय सारे ही भारत मे छात्राओ तथा काम-काज करने वाली लडकियो के कार्य वस्त्र के रूप म स्वीकृत हो चला है।

पजाबी भोजन जितना पौष्टिक और स्वास्थ्य प्रद होता है, उतना ही सादा और सरल भी है। गेहूँ की रोटी, जो साधारणत तदूर मे पकाई जाती है, इसका प्रधान तत्व है, और प्रचुर मात्रा मे घी और छाछ का प्रयोग इस की विशेषता है। देहाती लोग गर्मियो म जौ और चना तथा सर्दियो मे मकई ज्वार और बाजरा की रोटी भी खाते हैं। अन्य लोग भी शौक के तौर पर इन अनाजो का प्रयोग करते है। चावल का प्रयोग मैदानी इलाको मे बहुत कम है। साधारणत इसे कभी-कभी रोटी के साथ अल्प मात्रा मे लिया जाता है अथवा खीर के रूप मे। पहाडी क्षेत्रो मे अवश्य चावल प्रधान खाद्य है। पजाब मे 'रोटी' ही भोजन है, जिसे किसी भी चीज, यहाँ तक कि प्याज की एक

गाँठ अथवा अचार के एक टुकड़े के साथ खाया जा सकता है। इस लिए पजाबी मे भोजन को 'रोट' कहते हैं। रोटी के नाना प्रकार हैं, जिनमे से 'चपाती' शहरी सज्जनो की खुराक है। रोटी के साथ आम साग-सब्जियाँ और दाल वगैरह, विशेषकर उडद की दाल चलती है, जिसम पर्याप्त मात्रा मे घी का तुडका पडा हुआ होता है। पजाबी मिर्च-मसाले अधिक नही खाते। घी के अलावा दूध, दही और मक्खन का भी खूब प्रयोग किया जाता है। इनमे दही और उससे तैयार होने वाली वस्तुए जैसे रायता, कढी और लस्सी तो प जाबियो की सब से प्रिय वस्तुए हैं। लस्सी को तो पजाब का राष्ट्रीय पेय समझना चाहिए। पीने की दूसरी वस्तु सर्दाई है। अवश्य कुछ आज की आर्थिक स्थिति और कुछ आधुनिकता के प्रभाव से चाय आदि का बहुत रिवाज हो गया है। कुछ वर्ष पूर्व तक पजाब मे कोई चाय का नाम भी नही जानता था।

पजाबियो मे गुरुकुल वर्ग के आर्य समाजियो तथा बाहर के कुछ बनियो और जैनो को छोड कर अधिकत्तर लोग, जिनमे ब्राह्मण भी सम्मिलित हैं, मांस खा लेते हैं। परन्तु सिक्खो के सिवा अन्य वर्गो मे रोज-रोज खाने का रिवाज नही है। बहुत सी शहरी औरतें घर वालो के लिए मास पका देती है, परन्तु स्वय नही खाती। सिक्खो मे नामधारियो के सिवा बाकी सब मासाहारी हैं। उन्हें झटका किए हुए बकरे और मुर्ग आदि के अलावा सुअर का मांस विशेष प्रिय है। इसे यह लोग 'महाप्रसाद' कहते हैं। कुछ उच्च जातीय हिन्दू भी सुअर का मांस खा लेते है। तथाकथित निम्न जातियो के लोग तो खैर खाते ही हैं। सिखो मे तम्बाकू का धार्मिक निषेध है, यद्यपि उसका उल्लघन कुछ कम नही होता, और सुरापान की आदत भी आम है।

पजाबी नारी

पजाब की शहरी युवती समस्त भारत मे सबसे ज्यादा फैशनेबल् और स्मार्ट् कालिज-गर्ल् के रूप मे प्रसिद्ध है। वह साधारणत सुन्दर, सुगठित, स्वस्थ और अच्छी खिलाडी होती है। उसके व्यक्तित्व मे स्वतत्रता और कर्मण्यता का एक भरा रहता है। परन्तु सामान्य नारी-सुलभ विशेषताएँ उस

मे कुछ कम ही दीखती हैं। मृदुता और नम्रता का तो एक दम से अभाव है। कहते है कि पजावी युवतियाँ इसी कारण नर्स् के पेशे मे कुछ अधिक सफल नहीं होती।

देहात मे औरत बड़ी परिश्रमी और लड़ाकिन मजदूर हैं। पजाबी स्त्रियो मे बहुधा हाथा-पाई की नौबत आ जाती है, और खून-खराव हो जाता है। यह झगड़ा करने और रोने मे दक्ष होती हैं। छाती पीटना और सियापा करना इनकी विशेष कला है। वास्तव मे सोग मनाने की औपचारिक क्रिया का जो कलात्मक रूप पजाव मे दिखाई देता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। रोने मे स्वर और लय का विशेष ध्यान रखा जाता है, और अच्छा रोने वालियों की वडी माँग रहती है।

जैसा कि बताया गया, विशुद्ध शारीरिक सौंदर्य और आकर्षण मे पजाबी युवती का कोई मुकाबला नही। गठन और स्वास्थ्य की दृष्टि से वह समस्त भारत में सर्वश्रेष्ठ है, और रग की स्वच्छता और नाक नक्शे की सुरूपता मे भी वह कश्मीरी नारी से होड लेती है। इस पर उसका अनुकूल देशीय वस्त्र और गले में योजित उपेक्षा से डाला हुआ भीना दुपट्टा वडे-वडे अनुभवी ऋषियो की तपस्या भग कर देने के लिए पर्याप्त है।

फैशन् की रिसर्च मे वह सबसे आगे है। उसके वालो और वस्त्रो की काट-छाँट ऋतुओ के साथ वदलती है। कुमारियो मे तो नही, परन्तु विवाहित स्त्रियों मे यूरोपियन् ढग का मेक-अप सारे भारत मे सम्भवत. सबसे ज्यादा पजाब मे प्रचलित है। आजकल तो यहां की ग्रामीण स्त्रियाँ भी पाउडर-क्रीम और लिप्-स्टिक् से लैस दिखाई देती हैं।

परन्तु यह शारीरिक सौंदर्य कुछ ही वर्ष चलता है। विवाह के वाद शीघ्र ही पजावन का शरीर सूखना या फूलना शुरू हो जाता है। उच्च मध्यम-वर्ग की आधुनिक महिला की दशा तो सचमुच दयनीय हो जाती है। थल-थल करती चर्बी की तहो पर कसी हुई चुस्त कर्नाटकी चोली, चेहरे की झुर्रियो पर पाउडर का गाढ़ा लेप और होठो पर लिप्-स्टिक् की परत पर परत, यह सब मिलकर वस्तुत एक करुणात्मक दृश्य उपस्थित करते हैं।

पंजाबी चरित्र

पजाबी एक वीर जाति है। इसलिए वीर जातीय विशेषताएँ इनमें सामान्यतः पाई जाती हैं, जैसे आत्मविश्वास, व्यक्तिगत स्वाभिमान, दिखावे की प्रवृत्ति, आत्मश्लाधा, उदारहृदयता, अतिथि-सत्कार तथा परोपकार की भावना आदि। परन्तु इस क्षेत्र मे भी पजाबियो की कुछ प्रवृत्तियाँ अध्ययन का एक रोचक विषय हैं। उदाहरण के लिए, सब से पहली बात, जो औसत पजाबी के चरित्र मे दिखाई देती है, वह है सामान्य से कुछ अधिक मात्रा मे हिंसा का तत्व, अर्थात् किसी बात पर सहसा भयंकर रूप से उत्तेजित हो उठना, और बिना सोचे-समझे कोई विध्वसक अथवा घातक कार्य कर बैठना। समस्त भारत मे सबसे ज्यादा कत्ल पजाब मे होते हैं। यहाँ माता, पिता, पत्नी और भाइयो तक की हत्या कर देना एक साधारण सी बात है। हिंसात्मक आचरण की ओर इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण ही पजाबियो ने गांधीजी के अहिंसा वाद को कभी दिल से स्वीकार नही किया। वास्तव मे वे उनके सिद्धान्तो को एक तरह की कायरता का पर्याय मान कर सदैव उनका उपहास ही करते रहे। राजनीतिक अर्थों मे पजाबियो के निकट अनुसरणीय आदर्श पुरुष भगत सिंह जैसे वीर देश-भक्त हैं।

सांसारिक जीवन और उसके सुखो से अगाध प्रेम पजाबी चरित्र की दूसरी विशेषता है। हँसी दिल्लगी, जिन्दादिली और सौंदर्य-भक्ति उसमे कूट-कूट कर भरी हुई है। पजाब मे वीर-योद्धाओ से भी अधिक प्रसिद्धि और लोक-प्रियता राँझा और महिवाल जैसे आदर्श प्रेमियो को मिली है। पजाब का प्रत्येक युवक स्वय को राँझा और हर सुन्दर युवती को अपनी भावी हीर समझता है। कोई भी नारी उसके रूप और पुरुषत्व की उपेक्षा नही कर सकती, यह प्राय प्रत्येक पजाबी युवक की एक सहज धारणा है। एक अश मे यह धारणा सही है। परन्तु जितना अधिक वह नारी को प्रभावित करता है, उतना ही कम वह नारी के प्रति निष्ठ है। सामयिक या स्थायी विवाह के विषय में वह जाति-पाँति, यहाँ तक कि भाषा और देश का भी विचार नही करता। आज कितने ही पजाबी घरानो मे विदेशी बीवियाँ एक साधारण-सी

बात हो गई है। परन्तु नारी का वास्तविक सम्मान पंजाबी साधारणतः नहीं करता। वह औरत को केवल मनोविनोद का एक साधन समझता है। इस लिए प्रेम और विवाह मे निष्ठा को वह अधिक महत्व नही देता। रांझा आदि उसके निकट केवल आदर्श प्रेमी ही हैं।

औसत पंजाबी अपना स्वास्थ्य बनाये रखने, अपने शारीरिक बल का प्रदर्शन करने और उसकी प्रशंसा कराने का बहुत इच्छुक रहता है। वास्तव मे यह शारीरिक शक्ति ही शताब्दियों से उसकी आत्म-रक्षा का एक मात्र साधन रही है। निरंतर आक्रमणों से अपने बचाव के लिए उसे सदैव ही बाहु-बल पर निर्भर रहना पड़ा है। आज भी बहस मे पिछड़ जाने पर आस्तीनें चढ़ा लेना और विपक्षी को दो-दो हाथ करने की चुनौती देना औसत पजाबी का अतिम तर्क होता है।

पंजाबी का व्यक्तित्व स्पष्ट और सरल है। उसमे साधारणतः कोई रहस्य, उलझाव या जटिलता नहीं होती। औसत पजाबी दिल खोलकर ठहाके लगाना, गालियां बकना और घनिष्ट मित्रो के साथ अश्लील परिहास करना पसन्द करता है। वह स्पष्ट-वक्ता और शेखी-बाज है। गुस्से मे आने पर तुरत जान से मार डालने की धमकी देता है। एक-आध अपशब्द के बिना तो उसका कोई भी वाक्य पूरा नही हो सकता। शत्रुता मे वह लड़े बिना नही रहता, परन्तु दोस्ती निभाना भी वह खूब जानता है। उसमे छल-कपट और हीन-भावना बहुत कम दिखाई देती है।

वह होशियार है, परन्तु उसकी होशियारी बहिमुखी है, अर्थात् वह ठोस और क्रियात्मक प्रकार की है। पजाबी अधिक अनुभवशील या कला-प्रिय नहीं होता, और न साधारणतः दार्शनिक सूक्ष्मताओं के चक्कर मे पड़ता है, बल्कि वह यथार्थ जीवन की व्यवहारिक समस्याओ पर दृष्टि रखता है, और उन्हें सफलतापूर्वक हल करता है। इसी से उसमे अपने आपको परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लेने की वह अद्भुत क्षमता पैदा हुई है, जिसे उसकी तीसरी और सबसे बड़ी विशेषता कहना चाहिए। कोई सकट ऐसा नहीं, जिसका वह धैर्य-पूर्वक मुकाबला न कर सकता हो। इस दृढ़ता, साहस और आत्मविश्वास के

पीछे उसका दो हजार वर्ष का इतिहास है। निरंतर उपद्रवो मे उसे नित्य-नई परिस्थितियो का सामना करना पडा है; बहुधा अपना निवासस्थान बदलना पडा है। इससे उसमे किसी एक स्थान पर जम कर रहने की प्रवृत्ति सुदृढ नही हो पाई। वह न केवल भारत मे, बल्कि दुनियाँ मे कही भी बडी आसानी के साथ बस सकता है, और बसा है। उसकी अपनी सास्कृतिक पार्श्वभूमि अधिक गहरी नही हो पाई। इसलिए वह नई बातो और नए लोगो को अधिक सहजता से स्वीकार कर लेता है। और यद्यपि उसका एक स्पष्ट 'पजाबीपन' है, परन्तु प्रान्तीय भावना उसमे न होने के बराबर है। यह उसके सास्कृतिक पिछडेपन का एक चिन्ह भी है, और एक बडा गुण भी। इससे जीवन-सम्बधी उसका दृष्टिकोण सकीर्ण नही हो पाया। व्यवहारिक दृष्टि से वह प्रायः अतर्राष्ट्रीय है। यह बात केवल पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थियो पर ही लागू नही होती, बल्कि विभाजन के पहले से ही भारत के अन्य प्रदेशो तथा बर्मा, मलय, सियाम, हॉंगकॉंग, नैरोबी, मम्बासा, ईरान, अमरीका और कॅनेडा मे लाखो पजाबी काम करते आ रहे हैं। वास्तव मे भारत के बाहर बसे हुए भारतीयो मे सबसे ज्यादा पजाबी है।

पजाबी भारत के हर प्रदेश, हर शहर और हर पेशे मे हैं। वे सफल, विकासोन्मुख और सम्पन्न हैं। सिख विशेषकर एक अत्यत परिश्रमी और व्यवसाय साहसिक वर्ग के नाते राष्ट्र का बहुमूल्य अग हैं। परन्तु एक स्थान जो पजाबियो से प्राय रिक्त है, वह है अखिल भारतीय नेतागीरी अथवा देश का शासन। ऐसा लगता है कि पजाबी स्वभाव से नायक या शासक नहीं हैं, बल्कि एका आज्ञाकारी सैनिक हैं, जिसे कुछ करने का आदेश देने के लिए कोई दूसरा प्रभावशाली व्यक्ति होना चाहिए। और यद्यपि उनमे व्यक्तिगत रूप से अनेक देशभक्त और कई राजनीतिक नेता हुए हैं, परन्तु एक वर्ग विशेष के रूप मे पजाबियो का झुकाव राजनीति की ओर बहुत कम है। वे किसी क्षेत्र विशेष मे देश का नेतृत्व करने का सचेष्ट प्रयत्न भी नहीं करते। यही कारण है कि लाला लाजपतराय के बाद पजाब ने और कोई भी अखिल भारतीय स्तर का नेता पैदा नही किया। वास्तव म यह कहना अनुचित न होगा कि भारतीयों

मे विशुद्ध राजनीतिक चेतना और समझ का सब से ज्यादा अभाव पंजाबियों मे है। इस कारण वे चतुर नेताओं के हाथो मे बड़ी सहजता से खेल जाते हैं। सिखो में तो एक पूरा वर्ग आज भी सत्रहवीं शती मे रह रहा है। औरंगजेब की रूह उन पर हर वक्त मंडराती रहती है। उन्हें दिल्ली के सिंहासन पर सदैव कोई न कोई मुग़ल ही बैठा हुआ दिखाई देता है ! इनमें कितने ही ऐसे हैं, जो अभी भी भारत मे ब्रिटिश राज की पुनर्स्थापना का स्वप्न देखते हैं, और अपनी सहायता के लिए अंग्रेज़ों को बुलाने की बातें करते हैं। सिखों ने अनेक देश-भक्त और वीर-शहीद पैदा किए हैं; स्वतन्त्रता के लिए अपना सबसे ज्यादा रक्त बहाने वालो मे सिख हैं, परन्तु इसके साथ ही यह एक विचित्र सत्य है कि सबसे ज्यादा निर्लज्ज विदेशी पिट्ठू और निकृष्टतम देश-द्रोही भी इन्हीं मे हैं।

अंत मे पंजाबियो के भविष्य के सम्बंध मे कुछ कहना अप्रासंगिक न होगा। जहाँ तक शरणार्थियों का सम्बंध है, यह सत्य है कि पश्चिमी पंजाब से निकलते समय बहुत कुछ क्षति उठाने के बावजूद वे न केवल फिर से अपने पैरों पर खड़े हो गए हैं, बल्कि इन तेरह-चौदह वर्षों मे उन्होंने भारी प्रगति की है। पंजाबी प्रकृति से अत्यंत स्वाभिमानी हैं। इसलिए भीख माँगना उनके लिए नितांत असम्भव है। साहस, परिश्रम और व्यवहारिक बुद्धि से काम लेकर प्रत्येक परिवार ने अपने लिए कुछ न कुछ बना लिया है। परन्तु आत्म-रक्षा के इस घोर संग्राम मे, जिसका मूल उद्देश्य केवल पैसा कमाना था, वे अपने नैतिक स्तर को भी बनाए रख सके हों, यह संदिग्ध है। अब अच्छे-भले पंजाबियों में भी धूर्त, कपटी और कायर व्यक्ति दिखाई देन लगे हैं। यह बड़े दुख और चिंता का विषय है।

दूसरी ओर ठीक इन्हीं कारणों से पंजाब ने समय-समय पर दलीय राज-नीति जो दिशा अपनाती है, और जिस प्रकार एक भाषी पंजाब प्रदेश के उचित सुझाव को जान-बूझ कर *साम्प्रदायिक रंग दिया जाता* है, उसे देखते हुए यह डर सदैव बना हुआ है, कि पंजाबियों की एक बड़ी संख्या को कहीं फिर एक बार उजड़ना न पड़े। यदि ऐसा हुआ, तो इनकी आगामी पीढ़ियों के लिए न

केवल पुराना पजाब ही इतिहास का विषय होगा, बल्कि शायद वर्तमान पंजाब भी एक स्मृति मात्र ही बन कर रह जाएगा।

इन विकट सम्भावनाओ से बचने का एक उपाय है। और वह यह कि जम्मू से लेकर दिल्ली तक समस्त पजाबी और अर्द्ध-पजाबी क्षेत्रो के विलय से एक-भाषी बृहत पंजाब प्रदेश की स्थापना की जाए। हरियाना क्षेत्र और हिमाचल मे अवश्य हिन्दी बोलियाँ और पहाड़ी चलती है; और इस दृष्टि से इन क्षेत्रो को हिन्दी-भाषी कहा जा सकता है। परन्तु हिन्दी-भाषी होने के कारण ही इन्हे पजाब से जुड़ा रहने देना चाहिए, ताकि सीमांत प्रदेश पजाब सुदृढ और आत्म-निर्भर प्रदेश बन जाए। यदि पजाब के कुछ लोगो की मातृ-भाषा भी हिन्दी है, तो इससे कुछ अंतर नही पड़ता। हिन्दी सारे देश की सामान्य भाषा होने के नाते प्रत्येक प्रदेश की अनिवार्य द्वितीय भाषा है ही। हिन्दी की पढ़ाई और उसमे काम-काज की व्यवस्था तो हर जगह होगी ही। इसलिए हिन्दी-भाषी किसी भी प्रदेश मे बिना किसी कठिनाई के रह सकते हैं। इसके अलावा जब देश भर के अहिन्दी-भाषियो के लिए हिन्दी सीखना जरूरी है, तो पजाब के हिन्दी-भाषी अथवा अन्य प्रदेशो के हिन्दी-भाषी पजाबी, या जो भी क्षेत्रीय भाषा हो, उसे क्यो न सीखें ? कम से कम पजाब मे 'पजाबी सूबा' सम्बधी वर्तमान साम्प्रदायिक समस्या का इसके सिवा और कोई हल दीखता नहीं।

हरा-भरा समतल प्रदेश है। वास्तव में यही असल कश्मीर है, और शुद्ध अर्थों में केवल यहीं के लोगों के लिए 'कश्मीरी' शब्द का प्रयोग होता है। अन्य भागों, जैसे जम्मू और लद्दाख के लोगों को क्रमशः डोगरे और चिब् तथा लद्दाखी कहा जाता है। प्रस्तुत अध्याय में 'कश्मीरी' से अभिप्राय केवल घाटी और उसके आस-पास के कश्मीरी-भाषी निवासियों से ही है, न कि राजनीतिक अर्थों में समस्त कश्मीर राज्य के नागरिकों से। वैसे भी समस्त कश्मीर राज्य के विविध प्रकृति वाले लोगों का कोई सामान्य जातीय अथवा सांस्कृतिक नाम नहीं है। जम्मू के डोगरों और चिबों तथा लद्दाख के निवासियों का प्रसंग अलग है।

क्षेत्रफल की दृष्टि से संयुक्त कश्मीर एक बड़ा प्रदेश है। परन्तु उसकी कुल जन-संख्या कुछ अधिक नहीं है। प्राय. ९० हज़ार वर्ग मील क्षेत्र में केवल ४० लाख लोग बसते हैं। लगभग तीन चौथाई घाटी में केन्द्रित हैं, और इनमें ९३ प्रतिशत मुस्लिम धर्मावलम्बी हैं। जम्मू को मिलाकर भी समस्त कश्मीर राज्य में मुसलमानों का अनुपात ७५ प्रतिशत से अधिक है। इस दृष्टि से यह वर्तमान भारत का एक मात्र प्रदेश है, जहाँ मुसलमानों की बहुसंख्या है। जम्मू प्रांत अवश्य हिन्दू प्रधान है, और लद्दाख को साधारणत: बौद्ध माना जाता है।

भू-स्वर्ग

कश्मीर लगभग सारा ही विषम पर्वतीय प्रदेश है। हिमालय की अंतिम उत्तर-पश्चिमी शृंखलाओं तथा उनकी घाटियों से यह निर्मित है। साधारणतः एक 'तीन मंजिला इमारत' से इसकी उपमा दी जाती है। इस इमारत का तोरण दक्षिण की ओर जम्मू की पहाड़ियों में खुलता है, जिन्हें स्थानीय बोली में 'कंडी' कहते हैं। यहाँ से ८ हज़ार फुट की ऊँचाई पर स्थित पीर पंजाल तक पहली मंजिल बनती है। इससे आगे बानिहाल दर्रे को पार करते ही दूसरी मंजिल स्वयं कश्मीर की घाटी है। अगली सीढ़ियाँ उत्तर-पूर्व में बल्तिस्तान तक और पूर्व में लद्दाख के पठार तक चली गई हैं। सुदूर उत्तर में गिलगित और उसके बाईं ओर चित्राल की ऊँचाइयाँ हैं। उनसे परे अफ़ग़ा-

निस्तान के काफिरस्तान क्षेत्र की एक पट्टी कश्मीर को सोवियत संघ से पृथक करती है। उत्तर-पूर्व में लद्दाख के सिरे पर कराकुरम् की गिरि-शृंखला और उससे परे अक्साई चिन् का पठार है, जिस पर इन दिनों साम्यवादी चीन का अवैध अधिकार बतलाया जाता है। ठीक उत्तर और पूर्व में चीन है। इस प्रकार कश्मीर राज्य कई शक्तियों के बीच में घिरा हुआ विशेष अंतर्राष्ट्रीय महत्व का प्रदेश है।

कश्मीर के ऊँचे पहाड़ों की चोटियाँ सदैव हिम-मंडित रहती हैं। अगणित नदी-नाले, झरने और सरोवर इसको प्लावित करते हैं। जल-वायु सर्दियों में अत्यन्त शीतल तथा गर्मियों में सुखद और स्वास्थ्य-वर्द्धक होती है। सिंध सहित पंजाब और पश्चिमी पाकिस्तान की सब नदियाँ कश्मीर से प्रवाहित होती हैं, तथा सिंध और सतलज के सिवा शेष नदियों के उत्स भी कश्मीर में हैं।

कश्मीर पर प्रकृति-माता की विशेष कृपा-दृष्टि है। घाटी में रंगों का चमत्कार वस्तुतः दर्शनीय होता है। प्रातः से सायं तक वातावरण अनेक रंग बदलता है। डल, वुल्लर और मनसबल की सुन्दर झीलें; अच्छबल, अनन्त-नाग और वेरीनाग के झरने, गुलमर्ग, सोनमर्ग, पहलगाम और लोलाब के क्रीडास्थल तथा निशातबाग, नसीमबाग और शालिमार के उत्कृष्ट उद्यान विश्व-विख्यात हैं। वास्तव में कश्मीर प्राकृतिक सौंदर्य का आगार है। प्रतिवर्ष देश-विदेश से हजारों पर्यटक मनोविनोद और स्वास्थ्य-वर्द्धन के लिए यहाँ आते हैं। इसीलिए इस प्रदेश को 'पर्यटकों का स्वर्ग' कहा जाता है। पर्यटन व्यवसाए यहाँ का एक मुख्य धन-स्रोत है। झेलम नदी और डल झील में तैरते हुए बजरे (हाउस्-बोट) इस व्यवसाय की सफलता की ओर संकेत करते हैं।

यह फलों, फूलों और मेवों का देश है। सेब, नाशपाती और अखरोट यहाँ की सौगात है। कमल, गुलाब, चमेली और नरगिस के फूलों से सारी घाटी सुशोभित रहती है। केसर एक अत्यन्त आकर्षक फूल ही नहीं, अपितु यहाँ की आय का एक मुख्य साधन भी है। पाम्पुर नामक स्थान पर इसकी विशेष रूप से खेती होती है। कार्तिक की चाँदनी रातों में, जब केसर के फूल खिले

और पार्वती के नाम पर 'सतीसर' कहलाती थी। उस में 'राक्षसों' का वास था, जिनके राजा का नाम था जलोद्भव। ये 'दैत्य' मनुष्यों का भक्षण कर जाते थे। इस विपत्ति के प्रतिकार के लिए ऋषि कश्यप ने एक हजार वर्ष तक तपस्या की। अंततः उनकी तपस्या सार्थक हुई। और देवी ने शारिका के के रूप मे प्रकट होकर दैत्यराज जलोद्भव पर एक कंकड़ी गिराई। यही कंकड़ श्रीनगर मे स्थित वर्तमान हरिपर्वत के नाम से प्रसिद्ध है। दैत्यराज के इस प्रकार मृत्यु को प्राप्त होने के बाद उसकी प्रजा भयभीत होकर भाग गई। तब कश्यप ने झील का पानी बारामूला के रास्ते बाहर निकाल दिया, और 'मनुष्यों' को यहाँ बसाया। इस प्रकार कश्यप के अनुयायियों का आवास-स्थान, 'कश्यप-मेरू' अर्थात 'कश्यप का पहाड़' कहलाया, जो कालांतर में बिगड़कर 'कश्यपमर', 'कश्यपमीर' और फिर 'कश्मीर' बन गया। इस कथा मे आर्यों के कश्मीर मे प्रवेश करने तथा वहाँ के मूल निवासियों को भगा कर स्वयं वहाँ बसने का वर्णन हुआ है, यह सहज ही मे समझा जा सकता है। कुछ भी हो, इसमे संदेह नही कि समूची कश्मीर घाटी किसी काल मे एक बड़ी झील थी अवश्य। वहाँ १२ हजार फुट की ऊँचाई पर भी समुद्री जानवरो की अस्थियाँ मिली हैं, जिनसे प्रकट होता है कि सतीसर के भी अस्तित्व में आने से पहले यहाँ सर्वत्र समुद्र था।

यूनानी उल्लेखो मे कश्मीर को 'कस्पीरिया' कहा गया है। एक धारणा यह भी है कि कश्मीर का नाम वास्तव मे 'कश' या 'काश' जाति के नाम पर पडा है, जो किसी काल मे यहाँ के पहाडो पर आबाद थी। वैदिक आर्य अपनी जिस मुख्य-भूमि को 'सप्त-सिंधु' कहते थे, उसमे कश्मीर भी सम्मिलित था। बौद्धकाल मे यही 'गान्धार' कहलाया।

कश्मीर का इतिहास सातवीं शती ईसा पूर्व से मिलता है। कल्हण ने राजतरंगिनी का प्रारम्भ महाराज गोनन्द से किया है। परन्तु प्रामाणिक इतिहास २५० ई० पू० मे सम्राट अशोक द्वारा कश्मीर विजय से ही माना जाता है। तब बौद्ध धर्म यहाँ का राज-धर्म बना। कहते हैं कि 'श्रीनगर' अशोक ने ही बसाया था। उस समय मौर्य साम्राज्य के जो अत्यन्त धनवान

'श्रेष्ठी' लोग होते थे, वही यहाँ आकर रहते थे। अशोक के बाद कश्मीर में पुनः स्वतंत्र राज्य स्थापित हुआ। २०० ई० पू० में यहाँ राजा जलद का था। वर्तमान शंकराचार्य चोटी पर स्थित मंदिर उसी का बनवाया हुआ बतलाया जाता है। उसी युग में यहाँ उत्तर पश्चिम से शक गणों के आक्रमण आरम्भ हुए, जो ईस्वी सन् के प्रारम्भ तक जारी रहे। इस बीच कश्मीर पूर्ण रूप से शकों के अधीन हो गया। इसके बाद जब उत्तर-भारत में सिथियन् जाति की यूचिकुशान नामक शाखा के सम्राट कनिष्क का युग आया, तब कश्मीर भी उसके साम्राज्य में सम्मिलित था। उस समय यह बौद्ध धर्म का एक प्रधान केन्द्र बना। यहाँ कनिष्कपुर, हुविष्कपुर आदि अनेक प्रसिद्ध नगर और बौद्ध मठ थे। गुप्त युग में कश्मीर सम्भवतः उन्हीं जातियों के स्थानीय सरदारों के अधीन था और यहाँ बौद्ध धर्म का आधिपत्य पूर्ववत बना हुआ था। परन्तु छठी शती तक हूणों के आक्रमण अपने चरम बिन्दु पर पहुँच गए। तब कश्मीर पर हूणों का पूर्ण रूप से आधिपत्य हो गया। इनमें मिहिरकुल, जो ५२८ ई० में मध्य-भारत से भाग कर कश्मीर में आ बैठा था, सब से भयंकर था। वह इतना कठोर, बर्बर और निर्दयी था कि कहते हैं वह पीर पंजाल की पहाड़ियों से जीवित हाथियों को गिरा कर उनके मरने का दृश्य देखा करता था। उसने कश्मीर में एक भी बौद्ध मठ अथवा मंदिर शेष न रहने दिया, जैसा कि हुएन-सियाग ने एक शती बाद अपने यात्रा-वृत में लिखा है। बचे-खुचे बौद्ध भिक्षु लद्दाख और तिब्बत की ओर भाग गए, जहाँ उनके अनुयायी आज भी रह रहे हैं। कश्मीर का हूण राजा गोपादित्य अवश्य कुछ सभ्य था। ब्राह्मण पंडितों के नित्य सम्पर्क से उसकी बर्बरता कुछ कम हो गई थी।

हूणों के बाद छठी शती के अंत में पुनः हिन्दू राज्य स्थापित हुआ। प्रवरसेन द्वितीय राजा बना। उसने प्राचीन श्रीनगर को राजधानी बनाकर यहाँ प्रवरसेनपुर नाम से नया नगर बसाया। आठवीं और नवीं शतियों में भी यहाँ हिन्दू राजाओं का ही राज्य रहा। इनमें ललितादित्य और अवन्ती वर्मण विशेष प्रसिद्ध हैं। उन्होंने कई बड़े-बड़े मंदिर, पक्की सड़कें और नालियाँ आदि बनवाईं, तथा शांति और सुरक्षा की उत्तम व्यवस्था की। मार्तंड का प्रसिद्ध

मंदिर, जिसके ध्वसावशेष आज भी दर्शकों को आश्चर्य विभोर कर देते हैं, ललितादित्य का बनवाया हुआ बतलाया जाता है। वह अपने युग का एक बहुत बड़ा विजेता भी था। उसने मगध तक पर आक्रमण किया, और समस्त उत्तरी भारत के अलावा मध्य-ऐशिया तक अपने साम्राज्य को विस्तार दिया। इतिहासकार अलबेरुनी ने लिखा है कि उसके राज्य-काल में कश्मीर के लोग प्रति वर्ष अपने राजा के देश विजय की खुशी मे त्योहार मनाया करते थे। नवीं शती में अवन्ती वर्मण के राज्य काल मे सोइया नामक प्रसिद्ध अभियता ने सोइयापुर के स्थान से, जो आज सोपुर कहलाता है, झेलम के पानी के निकास की व्यवस्था की थी। इस प्रकार उसने घाटी को जलमग्न होने से बचाया था। उस युग मे कश्मीर में भवन-निर्माण और प्रस्तर-शिल्प उन्नति के शिखर पर थे। उस समय की राजधानी अवन्तीपुर बनिहाल और श्रीनगर के बीच आज भी विद्यमान है।

दसवी से चौदहवीं शती तक, जिस बीच उत्तर-भारत मे मुसलमानी सम्राज्य का विस्तार हुआ, कश्मीर पर स्थानीय हिन्दू राजाओं का राज्य रहा। इनमें महारानी दिद्दा (१०-११ वी शती) का नाम विशेष प्रसिद्ध है। उसने महमूद गज़नवी को दो बार कश्मीर से मार भगाया। परन्तु बाद के राजे उत्तरी तातारी आक्रामको से कश्मीर की रक्षा न सके। उन तातारी आक्रामको के सम्बन्ध मे कल्हण ने लिखा है कि ये सशस्त्र दल केवल जलाने, लूटने और कत्ल करने में ही सिद्धहस्त थे, जबकि उस युग मे स्वय कश्मीर के लोग कला कौशल, साहित्य, ज्योतिष और धर्म-शास्त्र के ज्ञाताओं के रूप मे समस्त भारत मे प्रसिद्ध थे। ऐसे समय भी बीते, जब कश्मीर के हिन्दू राजे चीन के सम्राट को खिराज अदा करते थे।

१३२२ ई० मे, जबकि कश्मीर मे राजा सहदेव का राज्य था, तब तातारी सरदार जुल्फी क़ादरखां ने समस्त कश्मीर मे भयकर तबाही मचाई। परन्तु अततः जब वह ५० हजार ब्राह्मण गुलाम और बहुत सा लूट का माल लेकर अपने मुल्क को लौट रहा था, तब पहाडो मे बर्फ में दब कर वह और उसके सैनिक सब मारे गये। उसके बाद कूटारानी ने, जिसे कहीं राजा सहदेव की

पत्नी और वही पुत्री बतलाया गया है, अपने तुर्किस्तानी मंत्री शाहमीर की सहायता से राज-पाठ संभाला। वह एक बहादुर औरत थी। उसने बाहरी आक्रमणों का सफलता पूर्वक मुकाबला किया। (कश्मीर की रानियाँ' नामक पुस्तक में ऐसी १८ हिन्दू वीरांगनाओं का उल्लेख मिलता है) परन्तु अंतत उस के तुर्क वजीर शाहमीर ने धोखे से राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया और रानी से बलात विवाह करने की चेष्टा की। तब कूटारानी ने मान-रक्षा के लिए आत्म-हत्या कर ली।

अब शाहमीर शमसुद्दीन के नाम से बादशाह बना। उसके वंश में कश्मीर के कई मुसलमान बादशाह हुए। इन में सिकन्दर, जिसने १३५४ ई० से १४१६ ई० तक राज्य किया, अत्यंत धर्मांध और नृशंस शासक था। उसने अनेक प्राचीन मंदिरों का विध्वंस किया, तथा प्रजा को बलात मुसलमान बनाने का अभियान चलाया। कहते हैं कि उसके राज्य-काल के अंत तक कुछ ब्राह्मणों के सिवा शेष सब लोग, जो कश्मीर में रह गए, मुसलमान हो चुके थे। ब्राह्मणों में भी केवल ११ परिवार बचे थे।

परन्तु सिकन्दर के विपरीत उसका उत्तराधिकारी जैनुलाबदीन बहुत अच्छा बादशाह सिद्ध हुआ। वह कश्मीर के लोगों में आज भी 'बडशाह' अर्थात् बड़े बादशाह के नाम से प्रसिद्ध है। उसने बचे-खुचे ब्राह्मणों को संरक्षण दिया तथा कुछ पुराने ध्वंसित मंदिरों की मरम्मत करवाई। उसके युग में बहुत से हिन्दू फिर वापस आ गए। उसने चीन और तुर्किस्तान से दक्ष कारीगरों को बुलाकर कश्मीर में बसाया, तथा उनके द्वारा रेशम और उन के उद्योग, शालों की बुनाई, लकड़ी की खुदाई और फलों की बागवानी के धंधे आरम्भ कराए। उसी के राज्य काल में काश्मीर के इतिहास पर कल्हण का कार्य संस्कृत में जोनराज ने और फ़ारसी में मुल्ला अहमद ने सम्पन्न किया। मरनहर, जिसके द्वारा नील डल के फ़ालतू पानी का निकास होता है, उसी प्रगतिशील बादशाह की कृति बतलाई जाती है।

जैनुलाबदीन के बाद और भी कई बादशाह हुए। परन्तु वे उत्तर से आने वाले चक् आक्रामकों का मुकाबला न कर सके। कश्मीर में कई छोटे-बड़े चक्

सरदारो का ग्राधिपत्य हो गया। घाटी के पहले चार शासक गाज़ीओं ने फिर तलवार के ज़ोर से इस्लाम फैलाया, और सिकन्दर का कार्य सम्पन्न किया। आखिरी चक शासक याकूबखाँ था, जिसे मुगल सम्राट अकबर की सेनाओं ने १५८७ ई० मे परास्त कर कश्मीर को मुग़ल साम्राज्य म सम्मिलित किया।

मुगल बादशाओ ने कश्मीर को खूब बनाया सँवारा। स्वय अकबर कई बार यहाँ आया। झील डल के किनारे नसीम बाग उसी का लगवाया हुआ बताया जाता है। जहागीर और मल्का नूरजहान तो प्राय. यहाँ आते थे। उन्होने शालिमार, अच्छावल और वेरीनाग के बाग लगवाए, तथा आगरे से श्रीनगर तक सारे रास्ते में अनेक सराएँ और पडाव बनवाए। कहते हैं कि नूरजहान जब पहली बार कश्मीर आई, तो वह यहाँ के चित्रोपम दृश्य को देख कर अनायास ही कह उठी थी—यदि धरती पर कही स्वर्ग है, तो वह यही है, यही हे, यही है। तभी से कश्मीर को 'जन्नते-अरज़ी' अर्थात भू स्वर्ग कहा जाने लगा।

औरगजेब के बाद मुग़ल साम्राज्य की अवनति होने पर १७५० ई० मे अफगान बादशाह अहमदशाह दुर्रानी ने कश्मीर पर आक्रमण किया। उस युग में पडित जियाराम भान और पडित नाथुराम टीकू जैसे कई कश्मीरी ब्राह्मणो ने अपनी बुद्धिमता और व्यवहार-कुशलता से अफगान दरबार मे उच्च पद प्राप्त किया। परन्तु अफ़गान यहाँ के लोगो को लूटते रहे और वर्षो तक उन पर घोर अत्याचार ही करते रहे। कहते हैं कि अफ़गान शासक कश्मीरियो को बोरियो मे बन्द करके झील डल में फेंक दिया करते थे। इस भयकर लूट-खसोट और मार धाड से लोग इतने उत्पीडित हुए कि माताए अपने बच्चो को लोरी देते हुए कहने लगी—'या खुदा, क्या कभी ऐसा नही हो सकता कि सिख राज पहाडो को पार करता हुआ यहाँ तक आ जाए ?'

आखिर कश्मीर के लोगो की ओर से पडित बीरबल धर महाराजा रणजीतसिंह के दरबार मे उपस्थित हुए। उन्होने महाराज से कश्मीर को अफगानो से मुक्त कराने की प्रार्थना की। इस पर १८१६ ई० मे सिख सेना ने डोगरा राजा गुलाबसिंह और मिश्र दीवानचन्द के नेतृत्व मे कश्मीर पर चढाई

की, और अफ़ग़ान गवर्नर मौहम्मद आज़म खां को परास्त कर कश्मीर को सिख राज्य में विलीन कर लिया।

परन्तु कश्मीरियों के दुर्भाग्य से सिख राज्य भी अफ़ग़ान राज्य से कुछ कम कष्टकर सिद्ध न हुआ। सिखों के युग में भी कश्मीरी इतने उत्पीड़ित हुए कि 'सिख-मु हू' अत्यंत कठोर के अर्थों में कश्मीरी भाषा का एक मुहावरा बन गया। सिखों के युग में राजा गुलाबसिंह जम्मू का राजा था। रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद उसने बल्तिस्तान और लद्दाख आदि को जीत कर अपना राज्य दूर-दूर तक फैला लिया। उसके जनरल ज़ोरावरसिंह ने १८४२ ई० में तिब्बत पर भी आक्रमण किया। लद्दाख में भारत की वर्तमान सीमाएं उसी काल में निर्धारित हुई थीं।

सिखों और अंग्रेजों की लड़ाइयों में राजा गुलाबसिंह तटस्थ रहा। आखिर १८४६ ई० की अमृतसर संधि के अनुसार ७० लाख रुपये के बदले सारे कश्मीर पर गुलाबसिंह का राज्य स्वीकार कर लिया गया और गुलाबसिंह ने अंग्रेजों की प्रभु-सत्ता स्वीकार कर ली। तब से यहां इसी डोगरा वंश का राज्य चला आ रहा था। गुलाबसिंह के बाद रणबीरसिंह, प्रतापसिंह और हरिसिंह तीन महाराजे और हुए। चौथे वंशज युवराज कर्णसिंह वर्तमान जनतंत्रीय सरकार के सद्रे-रियासत अर्थात् राज-प्रधान हैं।

रणबीरसिंह ने गिलगित को जीता, और अपने पिता गुलाबसिंह का अनुसरण करते हुए भारत की भौगोलिक सीमाओं को विस्तृत किया। अंतिम महाराजा हरिसिंह के समय में भारत स्वतंत्र हुआ और उसके साथ ही कश्मीर पर पाकिस्तान ने कबायलियों का आक्रमण कराया। तब कश्मीर राज्य भारतसंघ का अंग बना, और भारतीय सेनाओं ने तुरन्त वहां पहुंच कर उसकी रक्षा की। कुछ दिनों की लड़ाई के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्वधान में युद्ध विराम संधि हुई, जिसके फलस्वरूप आज कश्मीर के एक तिहाई भाग पर पाकिस्तानी अधिकार है, और भारत की सुरक्षा के लिए सदैव खतरा बना रहता है।

जाति, धर्म और समाज

कश्मीरियों में आर्य तत्व की प्रधानता बतलाई जाती है। परन्तु अन्य उत्तरी

की, और अफ़ग़ान गवर्नर मोहम्मद आज़म खाँ को परास्त कर कश्मीर को सिख राज्य में विलीन कर लिया।

परन्तु कश्मीरियों के दुर्भाग्य से सिख राज्य भी अफ़ग़ान राज्य से कुछ कम कष्टकर सिद्ध न हुआ। सिखों के युग में भी कश्मीरी इतने उत्पीड़ित हुए कि 'सिख-मुंह' अत्यंत कठोर के अर्थों में कश्मीरी भाषा का एक मुहावरा बन गया। सिखों के युग में राजा गुलाबसिंह जम्मू का राजा था। रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद उसने बल्तिस्तान और लद्दाख आदि को जीत कर अपना राज्य दूर-दूर तक फैला लिया। उसके जनरल ज़ोरावरसिंह ने १८४२ ई० में तिब्बत पर भी आक्रमण किया। लद्दाख में भारत की वर्तमान सीमाएं उसी काल में निर्धारित हुई थीं।

सिखों और अंग्रेज़ों की लड़ाइयों में राजा गुलाबसिंह तटस्थ रहा। आखिर १८४६ ई० की अमृतसर संधि के अनुसार ७० लाख रुपये के बदले सारे कश्मीर पर गुलाबसिंह का राज्य स्वीकार कर लिया गया और गुलाबसिंह ने अंग्रेज़ों की प्रभु-सत्ता स्वीकार कर ली। तब से यहां इसी डोगरा वंश का राज्य चला आ रहा था। गुलाबसिंह के बाद रणबीरसिंह, प्रतापसिंह और हरिसिंह तीन महाराजे और हुए। चौथे वंशज युवराज कर्णसिंह वर्तमान जनतंत्रीय सरकार के सद्रे-रियासत अर्थात् राज-प्रधान हैं।

रणबीरसिंह ने गिलगित को जीता, और अपने पिता गुलाबसिंह का अनुसरण करते हुए भारत की भौगोलिक सीमाओं को विस्तृत किया। अंतिम महाराजा हरिसिंह के समय में भारत स्वतंत्र हुआ और उसके साथ ही कश्मीर पर पाकिस्तान ने कबायलियों का आक्रमण कराया। तब कश्मीर राज्य भारत-संघ का अंग बना, और भारतीय सेनाओं ने तुरन्त वहां पहुंच कर उसकी रक्षा की। कुछ दिनों की लड़ाई के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्वधान में युद्ध-विराम संधि हुई, जिसके फलस्वरूप आज कश्मीर के एक तिहाई भाग पर पाकिस्तानी अधिकार है, और भारत की सुरक्षा के लिए सदैव खतरा बना रहता है।

जाति, धर्म और समाज

कश्मीरियों में आर्य तत्व की प्रधानता बतलाई जाती है। परन्तु अन्य उत्तरी

जातियो, जैसे दास, हूण, तुर्क, तातारी, मगोल और चीनी आदि के लक्षण भी स्पष्टत दृष्टिगत होते हैं। पर्याप्त मात्रा मे यहूदी सम्मिश्रण भी है। कुछ इतिहासज्ञो का मत है कि सिकन्दर महान की कुछ सेनाएँ चित्राल के रास्ते कश्मीर से होकर आई थीं। यहूदी सम्भवत उससे भी पहले यहाँ आ चुके थे। यहूदियो जैसी वक्र नासिका कश्मीरियो मे बहुत मिलती है। ये अधिकतर उज्ज्वल गौर वर्ण और स्पष्ट नाक-नक्शे वाले सुन्दर लोग हैं। समस्त भारत मे सब से ज्यादा गोरे रग के लोग कश्मीरी हैं। किसान, मजदूर और मल्लाह अभ्रांत वर्ग के लोगो जितने गोरे तो नही होते, परन्तु उनसे उत्तम स्वास्थ्य और सुदृढ शरीर वाले होते हैं। 'हाथो' कहलाने वाले छोटे कद के कश्मीरी मजदूरों की भार उठाने की क्षमता भारत विख्यात रही है। साधारणत कश्मीरियो को आर्य नस्ल से ही माना जाता है।

धर्म और समाज की दृष्टि से कश्मीरियों के दो बडे समूह है, हिन्दू और मुसलमान। पर यह सब सामान्य पूर्वजो के नाते सयुक्त हैं। अधिकतर मुसलमान हैं, जो शेष भारत के मुसलमानो की तरह सैय्यद, शेख, मुगल और पठान इन चार जातियो म विभाजित और व्यवस्थित हैं। शेखो की बहुसख्या है। ये अधिकतर प्राचीन क्षत्रियो के वशज जान पडते हैं। कश्मीरी मुसलमानो के यहाँ वश को 'कराम' कहते हैं। कई 'करामो' के नाम हिन्दू मुसलमानो मे सामान्य हैं, जैसे 'प डित, 'रैंजू', कुचरू, किचलू, सपरू, बट, ऋषि, मट्टू आदि। इसी प्रकार मागेर, तातरे, दर (डार), डगर, राठौर और नायक आदि पुराने क्षत्रिय नाम भी दोनो मे मिलते हैं। 'लोण' कराम सम्भवत वैश्यो से और 'डामर' (डोम) शूद्रो से निकला है। 'हांजी' कहलाने वाले मुसलमान मल्लाह भी, जो हजरत नूह को अपना प्रथम-पुरुष बतलाते हैं, कोई प्राचीन हिन्दू जाति के हैं। इन के यहा शूद्र का शब्द गाली के रूप मे प्रयुक्त होता है। यहाँ यह बात स्पष्ट कर देनी चाहिए कि दो चार को छोड कर बाकी सब कश्मीरी करामो के नाम वास्तव मे हिन्दू उपजाति नाम नही हैं, बल्कि किसी कारणवश लोगो के दिए हुए उप नाम मात्र हैं। जिसमे जो विशेष बात देखी गई, उसका वैसा ही नाम पड गया, जैसे गुरटू, किचलू आदि, अर्थात 'गेरू मिट्टी' (जैसा रग) या 'छिदरी दाढी

वाला' इत्यादि।

कश्मीर मे सैय्यदो को 'मीर' कहते हैं। मुगलो का कराम नाम भी 'मीर' अथवा 'मिरजा' है। इनके अलावा 'बेग' 'बान्डी', 'बाश' और 'अशाई' आदि भी मुगल नाम समझे जाते हैं। स्वय कश्मीरी मुसलमान इन लोगो को 'विदेशी' मानते हैं। पठान लोग अब अधिकतर पाकिस्तानी अधिकृत क्षेत्र मे हैं।

कश्मीरी मुसलमान अन्य भारतीय मुसलमानो से बहुत कुछ भिन्न हैं। भावनाओं और विचारो की दृष्टि से वे आज भी वैसे ही 'कश्मीरी' हैं, जैसे कि सिकन्दरशाह के समय से पहले थे। पुराने मंदिरो के स्थान पर मस्जिदें अवश्य बन गई, परन्तु कश्मीरी मुसलमान धनी होने पर भी हज करने नहीं जाते। उन्हें साधु-सत, पीर-फकीर और ज्योतिषी पडित से ही अधिक श्रद्धा रही है। 'ऋषि बाबा' मख्दूम साहब और अन्य परिजादों के मजार (कबरें) 'धामी' अर्थात देशी कहलाते हैं, जबकि सैय्यद और सैय्यदजादे विदेशी समझे जाते हैं। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि कश्मीर मे स्थानीय सतो को आज भी ऋषि कहा जाता है, चाहे वे हिन्दू हों अथवा मुसलमान। दोनो सम्प्रदाय सब साधु-सतो का समान आदर सत्कार करते हैं। श्रीनगर की शाहहमदान मस्जिद और पीर पडित पादशाह की जियारत हिन्दू-मुसलमान दोनो के निकट समान रूप से पवित्र हैं। कश्मीरियो के यहाँ हिन्दुत्व और इस्लाम एक ही भाषा मे बोलते हैं। वे साम्प्रदायिक कटुता से अपरिचित हैं। साथ ही जादू-टोना, गडे-तावीज और प्रेतात्माओ मे आस्था दोनो मे एक जैसी है। शुभाशुभ की भ्रातियाँ और अन्धविश्वास भी सब मे एक से हैं। अभी हाल तक देहात में रोग का एक मात्र निदान किसी सत-फकीर अथवा पडित से मत्र पढवाना था। बच्चों के गले में अगणित तावीज बधे रहते थे। फलित ज्योतिष और गडे-तावीज का व्यापार खूब चलता था। भिखमगे फकीर भी महात्मा बने रहते थे। अवश्य अब शिक्षा के प्रसार से इस प्रकार की रूढियाँ बहुत कम हो गई हैं। कश्मीर के कृषक, मजदूर और कारीगर प्राय सब मुसलमान हैं।

दूसरा वर्ग हिन्दुओ का है। इनमें अधिकाश ब्राह्मण हैं, जो यहाँ 'पडित' कहलाते हैं। लगभग आधे पडित केवल श्रीनगर मे रहते हैं, और शेष देहात मे

फैले हुए हैं। यह कश्मीर के परम्परागत चले आ रहे राजनीतिज्ञ, जमीन्दार, विद्वान, ज्योतिषी, पुरोहित, अध्यापक, गुरू और राजकीय कर्मचारी है। इनके अनेक वंश उत्तम कोटि के बुद्धिजीवियों के रूप में समस्त उत्तरी भारत में फैले हुए हैं। यह वेदान्त से लेकर व्यापार तक प्रत्येक क्षेत्र में सफल हैं। भारत के प्रशासन, शिक्षा और राजनीति में इनका विशेष हाथ रहा है। यह अपने आप को पूर्ण रूप से भारत के साथ सम्बद्ध रखते हैं, पर स्वयं को सदैव 'कश्मीरी पंडित' ही कहते है, चाहे कश्मीर के साथ इनका कुछ भी सम्बंध शेष न रह गया हो। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि शेष भारत में पहले केवल कश्मीरी पंडितों को ही 'कश्मीरी' कहा जाता था, न कि मुसलमानो को। यह पंडित हिन्द आर्य नस्ल का श्रेष्ठतम नमूना हैं। वास्तव में इस समय समस्त भारत में विशुद्ध आर्य तत्व केवल इन्ही तक सीमित रह गया है। इनके ग्यारह परिवार, जो सिकन्दरशाह के अत्याचारो के बावजूद कश्मीर में डटे रहे थे, 'मलमास' कहलाते हैं। और शेष परिवार, जो पहले विस्थापित होकर बाद में लौटे, अथवा भारत में अन्य स्थानो पर जा बसे, वे बानमास' कहलाते हैं। फिर आगे दोनो वर्गों की अनेक शाखाएँ निकलती हैं, जिनमे कुछ अब्राह्मण भी आ मिले हैं। इस प्रकार कश्मीर के प्रायः सभी हिन्दू स्वयं को 'पंडित' कहने लगे हैं। कश्मीरी हिन्दुओं में कुछ खत्री और सिख भी हैं। यह प्रकटतः पंजाब के निवासी हैं, और सिख युग में यहाँ आने के बाद से रहते-रहते कश्मीरी हो गए हैं।

डोगरे

जम्मू प्रांत का दक्षिणी भाग डोगरो और चिबो का देश है। यह दोनो वर्ग जाति से राजपूत हैं और सम्भवतः भारत पर मुसलमानी आधिपत्य होने के बाद यहाँ आकर बसे थे। डोगरे धर्म से कट्टर हिन्दू हैं, परन्तु बाद में कुछ मुसलमान भी हुए। परम्परा के अनुसार राजपूतो के पाँच वंशो ने यहाँ आकर अपना आधिपत्य स्थापित किया। जम्मूँ, बसहोली और किश्तवाड के राजे हिन्दू रहे, जबकि भिम्बर और राजौरी के राजे मुसलमान हो गए। इन छोटे-छोटे

राज ओं मे सर्वदा आपसी युद्ध होते थे । अठारहवीं शती के मध्य मे राजा रणजीतदेव जम्मू का शासक था । १७८० ई० मे उसकी मृत्यु पर उसके तीन बेटा म गद्दी के लिए लडाई हुई । उससे लाभ उठाकर सिखो ने यहाँ अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया । महाराजा रणजीतसिंह के युग मे उसी डोगरा राजा रणजीतदेव के छोटे भाई सूरतसिंह के तीन पडपोते गुलाबसिंह, ध्यानसिंह और सचेतसिंह सिख दरबार मे उच्च पदाधिकारी थे । उन्हे क्रमानुसार जम्मू, पूँछ और रामनगर का राजा बनाया गया । जम्मू का राजा गुलाबसिंह आगे चलकर समस्त कश्मीर का महाराजा बना, और सम्पूर्ण ब्रिटिश युग मे कश्मीर पर उसी के वश का राज्य रहा । इस युग को इतिहास म 'डोगराशाही' युग कहते हैं ।

'डोगरा' शब्द की उत्पत्ति कई प्रकार से बतलाई जाती है । कुछ लोग इसे सस्कृत के 'दुर्गर्त्त' से मानते हैं, जो किसी काल मे इस क्षेत्र का नाम था । सरूईंसर और मानसर की दो झीलों के बीच मे स्थित होने के कारण इसे 'द्विगर्त्त' भी कहते थे । यही शब्द अपभ्रश से 'दुगड़' हो गया, जिससे डगर, डुगरा और डोगरा आदि शब्द निकले । एक और धारणा इस प्रकार है कि यह शब्द वास्तव मे 'डूगर' अथवा 'डोगर' से निकला है, जो राजस्थानी म पहाडी या टीले के लिए प्रयुक्त होता है । राजपूतो ने जम्मू की पहाडियों को यह नाम दिया, जो आगे चलकर 'डोगरा' के रूप म स्वय उनके लिए प्रचलित हो गया ।

डोगरो मे सामाजिक दृष्टि से दो बडे समूह थे । सामत और सेना-नायक 'मियाँ राजपूत' कहलाते थे, और किसान आदि आम डोगरे थे । जाति-पाँति की दृष्टि से सबसे ऊँची जाति 'डोगरा' ब्राह्मणो की है । उनके बाद राजपूत, खत्री और ठक्कर इस क्रम से है । राजपूत अधिकतर कृषक और सैनिक हैं । और खत्री साधारणत साहूकारी और सरकारी नौकरी मे काम करते हैं । कुछ थोडे से मुसलमान और सिख डोगरे भी हैं, परन्तु सामान्य पूर्वजों और भाषिक एकता के कारण सब डोगरे सदा से एक पृथक इकाई के रूप में ही रहे हैं । ये कश्मीरियो से बिल्कुल भिन्न हैं । इनके सामाजिक सम्बन्ध पजाब और

हिमाचल प्रदेश के पहाडी राजपूतो के साथ ही अधिक हैं। डोगरो का खान-पान और पहनावा पंजाबी हिन्दुओ जैसी ही है। यह आमतौर से थोडा खुला पायजामा, कुर्त्ता और कोट आदि पहनते हैं, और गोल पगडी बांधते हैं। इनके भोजन मे गेहूँ या जौ की रोटी, दाल-भात और दूध-घी प्रधान है। पजाबियो की तरह डोगरे भी प्राय सभी बकरे और सुअर का माँस खा लेते हैं।

डोगरो की बोली 'डोगरी' कहलाती है। यह वास्तव मे पजाबी की ही एक शाखा है। इसकी कोई विशेष लिपि नही मानी जाती। परन्तु पत्र-व्यवहार आदि के लिए 'टक्करी' अथवा देवनागरी का प्रयोग किया जाता है। डोगरी मे कोई विशेष उल्लेखनीय लिखित साहित्य उपलब्ध नही है। वैसे भी डोगरों में शिक्षा-प्रचार अपेक्ष्या कम ही रहा है।

डोगरे राजपूत अत्यत वीर, सुदृढ और साहसी होते हैं। वे जन्म से सैनिक और योद्धा हैं। अपने युग मे उन्होने समस्त कश्मीर, लद्दाख और गिलगित को जीत कर भारत की सीमाओ को विस्तृत किया था। डोगरा-राज्य मे कश्मीर की सुरक्षा केवल उन पर निर्भर थी। उस काल मे कश्मीरी सेना मे अधिकतर डोगरे ही होते थे। ब्रिटिशकालीन भारतीय सेनाओं मे भी उन्होंने बडी प्रसिद्धि प्राप्त की। १९४७ मे कश्मीर पर कबायली हमले का पहला वार उन्होने ही रोका था। उस प्रयास मे ऊडी के स्थान पर ब्रिगेडियर राजेन्द्रसिंह की सम्पूर्ण डोगरा सेना वीरगति को प्राप्त हुई थी। स्वतत्र भारत की सेनाओ का भी एक गौरवमय भाग डोगरो से निर्मित है। डोगरे जवान बडे स्वस्थ,सुन्दर और सजीले होते हैं। परन्तु इनकी स्त्रियाँ कुछ अधिक आकर्षक नहीं होती। इनके यहाँ अभी तक पर्दे का रिवाज चला आ रहा है। सक्षेप मे, जो गुण दोष अन्य राज-पूतो मे हैं, वही इनमे भी हैं।

जम्मू प्रात मे डोगरो से मिलती-जुलती जाति चिबो की है। यह अधिक्तर मुसलमान हैं परन्तु कुछ हिन्दू भी हैं। यह स्वय को एक राजपूत सरदार जस्सू की सतान वतलाते हैं। जस्सू के वशजो मे धर्मचन्द नामक एक व्यक्ति मुगल दरबार मे वैद्य था। उसने जहाँगीर के रोग की सफल चिकित्सा की थी, जिससे प्रसन्न होकर बादशाह ने एक शहज़ादी का विवाह उससे कर दिया, और

सरल-स्वभाव और शांति-प्रिय लोग हैं। जौ की मोटी रोटी और नमक मक्खन वाली चाय इनका प्रिय भोजन है। इनके यहाँ दूध बकरी का होता है, अथवा याक गाय का, जिसे यह लोग 'जोहू' कहते हैं। इनके लम्बे चोगे जैसे पहनावे में स्त्री-पुरुष का कोई विशेष भेद नही दिखाई देता। इनकी बोली लद्दाखी है, जो तिब्बती से मिलती-जुलती है, और वैसी ही लिपि में लिखी जाती है।

कश्मीरी भाषा और साहित्य

कश्मीरियो की भाषा कश्मीरी है, जिसे 'दर्दी' भाषा-कुल मे गिना जाता है। इस कुल का केन्द्र गिलगित् है, जहाँ की भाषा 'शीना' कहलाती है। अन्य शाखाएँ एक ओर कोहिस्तान (बल्तिस्तान), चित्राल और काफिरस्तान तक तथा दूसरी ओर दर्दा बानिहाल तक फैली हुई हैं। मध्य-ऐशिया की 'ताजिक' और 'तुर्कमन' आदि भाषाओ के साथ इसका विशेष सम्बन्ध है। इस दृष्टि से *कश्मीरी इस परिवार की सबसे दक्षिणी शाखा है।*

भाषा शास्त्रियों के मतानुसार दर्दी भाषाएँ मूल से 'आर्य' हैं, परन्तु यह न तो यूरोपीय हैं, और न भारत-ईरानी ही, बल्कि स्वय मे एक अलग आर्य परिवार की हैं। इसका सम्बन्ध वैदिक सस्कृत और ईरानी 'अवेस्ता' से भी पहले की आर्य भाषा से समझना चाहिए। बाद में इसकी 'शीना' शाखा कश्मीर मे प्रचलित हुई। यहाँ उसमे पहले सस्कृत और उसके बाद फारसी, अरबी, तुर्की पश्तो और पजाबी के अनेक शब्द परिवर्तित रूप मे समाविष्ट हो गए। इस प्रकार वर्तमान कश्मीरी भाषा सस्कृत प्राकृत के अन्तर्गत न होते हुए भी शब्द-भडार और विषय वस्तु की दृष्टि से 'भारतीय' हो गई है। अवश्य मुस्लिम लेखक अरबी-फारसी शब्दो का कुछ अधिक प्रयोग करते हैं और पडित लोग सस्कृत का। कुछ लोग कश्मीर को सस्कृत से निकली हुई भाषा मानते हैं, जो *अरबी-फारसी से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण भारतीय परिवार से बाहर* हो गई है, परन्तु भाषा विज्ञान इस धारणा की पुष्टि नहीं करता। वास्तव मे कश्मीरी का आधार शीना है। केवल बढे शब्द सस्कृत अथवा अरबी-फारसी के हैं।

कश्मीरी की बोलियो मे दक्षिण-पूर्वी पहाडियो की 'किश्तवाडी' और बानिहाल के आस-पास की 'पोगल' और 'राम-बाणी' आदि की गणना की जाती है। कश्मीरी के लिए मुस्लिम काल से फारसी लिपि का प्रयोग होता आ रहा है, परन्तु यह कश्मीरी स्वरो तथा ध्वनियो के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। दूसरी ओर प डित लोग 'शारदा' लिपि का प्रयोग करते आए हैं। देवनागरी भी प्रयुक्त होती है। वास्तव मे शारदा को ही कश्मीरी की अपनी लिपि कहना चाहिए।

कश्मीरी मे कुछ प्राचीन साहित्य के अलावा लोक-गीतो का समृद्ध भंडार है। परन्तु अभी हाल तक उपेक्षित रहने के कारण उसे पूर्ण विकास के वे अवसर नही मिले, जो पजाबी को छोड कर भारत की अन्य प्रमुख भाषाओ को विगत एक शताब्दी से प्राप्त हैं। कश्मीरी न केवल कभी राज-भाषा नहीं रही, बल्कि अभी हाल तक यह प्राथमिक शालाओ मे पाठ्य-क्रम का विषय भी नहीं थी। प्राचीन हिन्दू युग मे दरबारी भाषा सस्कृत थी, और मध्ययुगीन मुस्लिम काल मे फारसी। डोगरा युग मे फारसी का स्थान उर्दू ने लिया, जो आज भी कश्मीर की राज-भाषा और शिक्षा-माध्यम के पद पर आसीन है। कश्मीर के विभिन्न भागो के बीच भाषिक सम्पर्क का मुख्य साधन भी उर्दू है, और आधुनिक युग मे कश्मीरी साहित्यकार प्रायः उर्दू मे ही लिखते रहे हैं। वास्तव मे कश्मीरी का आधुनिक साहित्य, विशेषकर गद्य साहित्य विगत पन्द्रह-बीस वर्षों की ही उपज है।

कश्मीरी पद्य की परम्परा अवश्य काफी पुरानी है। उस का प्रारम्भ १३ वी शती से माना जाता है, जबकि शतिकठ नामक शैव उपासक ने अपने 'महानय प्रकाश' मे जन-भाषा कश्मीरी का प्रयोग किया। परन्तु कश्मीरी काव्य का प्राचीनतम नमूना, जो आज उपलब्ध है, १४ वी शती मे हुई कवयित्री लल्लद्यद के भक्तिपूर्ण गीत हैं। उसी युग में हुए नुन्द ऋषि कहलाने वाले मुस्लिम सत शेख नूरुद्दीन के उपदेशात्मक पद्य भी इसी कोटि मे आते हैं। इन दोनों सत कवियो की वाणी मे कश्मीर की मिली जुली धार्मिक परम्पराएं पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित होती हैं। लल्लद्यद अथवा लल्लेश्वरी कश्मीर की मीरा थी। वह

शादीखाँ नाम देकर मुस्लिम धर्म में दीक्षित कराया। उसी शादीखाँ की मुस्लिम सतान से मुसलमान चिब्रों का विकास हुआ, जबकि हिन्दू चिब् अपना विकास उसके मुसलमान होने से पूर्व की सतान से बतलाते हैं। विभाजन से पूर्व दोनों सम्प्रदायों के चिब् प्रतिवर्ष नौशहरा मे स्थित शादीखाँ की क़ब्र पर एकत्र होते थे। अब अधिकतर मुसलमान चिब् जम्मू के पाकिस्तानी अधिकृत क्षेत्र में हैं।

जम्मू और कश्मीर की अन्य जातियों मे गूजर और बकरवाल उल्लेखनीय हैं। यह अधिकतर मुसलमान हैं, और जम्मू मे गाएँ भैंसो तथा कश्मीर मे भेड बकरियों के रेवड चराते हैं। कुछ कृषक भी हैं। डोगरा राजपूतों की तरह यह लोग भी लम्बे कद और गोरे रंग के तथा सुन्दर चेहरे मोहरे वाले हैं। इनका खाना गोरन रोटी, मक्खन और दूध है। इसलिए इनके शरीर की बनावट खूब मजबूत होती है। यह अक्सर तहबद और लम्बा कुर्ता पहनते हैं, और सिर पर साफ़ा लपेटते हैं। बहुत से गूजर अपनी अलग बोली बोलते हैं, जिसे वे 'प्रेमी' कहते हैं। यह डोगरी और कश्मीरी की खिचडी है। हिन्दू गूजरों की एक शाखा 'गद्दी' (गडरिया) कहलाती है। यह अधिकतर किश्तवाड में मिलते हैं।

लद्दाख़ी

कश्मीर प्रांत का पूर्व की ओर का आधे से अधिक भाग लद्दाख है। यह क्षेत्रफल की दृष्टि से स्वय में एक बडा देश है, परन्तु यहाँ जनसख्या इतनी अल्प है कि इस सारे क्षेत्र को कश्मीर का एक जिला बना लिया गया है। यह बहुत ऊँचा पठार है। यहाँ सर्दियों म भीषण सर्दी और गर्मियो में दिन के वक़्त मुलतान वाली गर्मी पडती है। वर्षा बिल्कुल नहीं होती। यह दुनिया मे सबसे कम आबाद इलाकों में से है। इसकी उत्तरी और पूर्वी सीमाओं को लेकर इन दिनों भारत और चीन के बीच घोर विवाद छिडा हुआ है। चीन ने कुछ अनिवासित भारतीय क्षेत्र पर बलात अधिकार भी कर रखा है।

लद्दाख बहुत प्राचीन देश है। किसी समय मे यहाँ हिन्दू राजाओं का राज्य था, जिनका वश आज भी सुरक्षित है। बहुत काल तक यह प्रदेश तिब्बत के

अधीन रहा, और सम्भवत यहीं से यहाँ लामा मत फैला। भूगोल की पुस्तकों में इसे 'छोटा तिब्बत' भी कहा गया है। १८४२ ई० में गुलाबसिंह की डोगरा सेना ने इसे तिब्बत से छीन कर कश्मीर में सम्मिलित किया। तभी से यह कश्मीर और भारत का अंग चला आ रहा है।

लद्दाख के लोग मंगोली नस्ल की तिब्बती शाखा से हैं। तिब्बतियों की भाँति यह भी बौद्ध धर्म और लामा मत के अनुयायी हैं। इनका रहन-सहन, वेश-भूषा और खान-पान आदि सब तिब्बतियों जैसा है। कुछ लद्दाखी शिया मुसलमान भी हैं। परन्तु इनके यहाँ धार्मिक स्वतन्त्रता इतनी अधिक है कि बहुधा एक ही परिवार में एक भाई बौद्ध, दूसरा मुसलमान और तीसरा ईसाई हो सकता है। यह लोग साम्प्रदायिक विद्वेष से अनभिज्ञ है। स्वयं बौद्धों में, जो बहुसंख्यक हैं, 'लाल टोपी' और 'पीली टोपी' के नाम से दो सम्प्रदाए चलते हैं। इनमें क्या अंतर है, यह किसी बाहर वाले के लिए समझना ज़रा कठिन है। तिब्बत में लामावाद समाप्त हो गया, पर लद्दाख में अभी तक लामाओं का शासन चल रहा है। वही यहाँ के धर्माधीश हैं और वही सामंत। सब से बड़े लामा कौशिक बाकुला वर्तमान कश्मीर सरकार में लद्दाखी विषयों के उपमन्त्री हैं।

लद्दाखियों की संख्या केवल ३० हज़ार बतलाई जाती है। इनके कई कबीले हैं, जैसे ग्यापो, रिंगन, मुंगरिक और जिर्क आदि। बड़े लामाओं को छोड़ कर शेष प्रायः सभी लोग खेती करते हैं अथवा भेड़ें पालते हैं। थोड़े से व्यापारी हैं, जो पहले राजधानी लेह की मंडी से माल लेकर तिब्बत और सिंकियांग तक जाया करते थे। उन देशों के व्यापारी भी यहाँ आते थे। पर अब चीनी कम्यूनिस्ट सरकार के प्रतिबन्धों के कारण यह व्यापार प्रायः समाप्त सा हो गया है। दूसरी ओर हाल ही में श्रीनगर से लेह तक पक्की सड़क बन जाने से कश्मीर और भारत के साथ लद्दाख के सम्बन्ध अधिक सुदृढ़ हो गए हैं। लद्दाखियों का पिछड़ापन भी धीरे-धीरे दूर हो रहा है। इनके यहाँ सदियों से जो अनेक अंधविश्वास तथा बहुपतिवाद और परिवार में एक भाई को लामा बनाने की प्रथा चली आ रही थी, वह भी अब कम हो चली है। वैसे यह बहुत

सरल-स्वभाव और शांति-प्रिय लोग हैं। जौ की मोटी रोटी और नमक-मक्खन वाली चाय इनका प्रिय भोजन है। इनके यहाँ दूध बकरी का होता है, अथवा याक गाय का, जिसे यह लोग 'जोहू' कहते हैं। इनके लम्बे चोगे जैसे पहनावे में स्त्री-पुरुष का कोई विशेष भेद नहीं दिखाई देता। इनकी बोली लद्दाखी है, जो तिब्बती से मिलती-जुलती है, और वैसी ही लिपि में लिखी जाती है।

कश्मीरी भाषा और साहित्य

कश्मीरियों की भाषा कश्मीरी है, जिसे 'दर्दी' भाषा-कुल में गिना जाता है। इस कुल का केन्द्र गिलगित् है, जहाँ की भाषा 'शीना' कहलाती है। अन्य शाखाएँ एक ओर कोहिस्तान (बल्तिस्तान), चित्राल और काफ़िरस्तान तक तथा दूसरी ओर दर्रा बानिहाल तक फैली हुई हैं। मध्य-ऐशिया की 'ताजिक' और 'तुर्कमन' आदि भाषाओं के साथ इसका विशेष सम्बन्ध है। इस दृष्टि से कश्मीरी इस परिवार की सबसे दक्षिणी शाखा है।

भाषा शास्त्रियों के मतानुसार दर्दी भाषाएँ मूल से 'आर्य' हैं, परन्तु यह न तो यूरोपीय हैं, और न भारत-ईरानी ही, बल्कि स्वय में एक अलग आर्य परिवार की हैं। इसका सम्बन्ध वैदिक सस्कृत और ईरानी 'अवेस्ता' से भी पहले की आर्य भाषा से समझना चाहिए। बाद में इसकी 'शीना' शाखा कश्मीर में प्रचलित हुई। यहाँ उसमें पहले सस्कृत और उसके बाद फारसी, अरबी, तुर्की पश्तो और पजाबी के अनेक शब्द परिवर्तित रूप में समाविष्ट हो गए। इस प्रकार वर्तमान कश्मीरी भाषा सस्कृत प्राकृत के अन्तर्गत न होते हुए भी शब्द-भडार और विषय वस्तु की दृष्टि से 'भारतीय' हो गई है। अवश्य मुस्लिम लेखक अरबी फारसी शब्दों का कुछ अधिक प्रयोग करते हैं और पडित लोग सस्कृत का। कुछ लोग कश्मीर की सस्कृत से निकली हुई भाषा मानते हैं, जो अरबी-फारसी से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण भारतीय परिवार से बाहर हो गई है, परन्तु भाषा विज्ञान इस धारणा की पुष्टि नहीं करता। वास्तव में कश्मीरी का आधार शीना है। केवल बड़े शब्द सस्कृत अथवा अरबी-फारसी के हैं।

कश्मीरी की बोलियो मे दक्षिण-पूर्वी पहाडियो की 'किश्तवाडी' और बानिहाल के आस-पास की 'पोगल' और 'राम-बाणी' आदि की गणना की जाती है। कश्मीरी के लिए मुस्लिम काल से फारसी लिपि का प्रयोग होता आ रहा है, परन्तु यह कश्मीरी स्वरो तथा ध्वनियो के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। दूसरी ओर पडित लोग 'शारदा' लिपि का प्रयोग करते आए हैं। देवनागरी भी प्रयुक्त होती है। वास्तव मे शारदा को ही कश्मीरी की अपनी लिपि कहना चाहिए।

कश्मीरी मे कुछ प्राचीन साहित्य के अलावा लोक-गीतो का समृद्ध भडार है। परन्तु अभी हाल तक उपेक्षित रहने के कारण उसे पूर्ण विकास के वे अवसर नहीं मिले, जो पजाबी को छोड कर भारत की अन्य प्रमुख भाषाओ को विगत एक शताब्दी से प्राप्त हैं। कश्मीरी न केवल कभी राज-भाषा नहीं रही, बल्कि अभी हाल तक वह प्राथमिक शालाओ मे पाठ्य-क्रम का विषय भी नही थी। प्राचीन हिन्दू युग मे दरबारी भाषा सस्कृत थी, और मध्ययुगीन मुस्लिम काल मे फारसी। डोगरा युग मे फारसी का स्थान उर्दू ने लिया, जो आज भी कश्मीर की राज-भाषा और शिक्षा माध्यम के पद पर आसीन है। कश्मीर के विभिन्न भागो के बीच भाषिक सम्पर्क का मुख्य साधन भी उर्दू है, और आधुनिक युग मे कश्मीरी साहित्यकार प्राय: उर्दू मे ही लिखते रहे हैं। वास्तव मे कश्मीरी का आधुनिक साहित्य, विशेषकर गद्य साहित्य विगत पन्द्रह-बीस वर्षों की ही उपज है।

कश्मीरी पद्य की परम्परा अवश्य काफी पुरानी है। इस का प्रारम्भ १३ वी शती से माना जाता है, जबकि शतिकठ नामक शैव उपासक ने अपने 'महानय प्रकाश' में जन-भाषा कश्मीरी का प्रयोग किया। परन्तु कश्मीरी काव्य का प्राचीनतम नमूना, जो आज उपलब्ध है, १४ वी शती म हुई कवयित्री लल्लद्यद के भक्तिपूर्ण गीत हैं। उसी युग मे हुए नुन्द ऋषि कहलाने वाले मुस्लिम सत शेख नुरुद्दीन के उपदेशात्मक पद्य भी इसी कोटि मे आते हैं। इन दोनों सत कवियो की वाणी मे कश्मीर की मिली जुली धार्मिक परम्पराएं पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित होती हैं। लल्लद्यद अथवा लल्लेश्वरी कश्मीर की मीरा थी। वह

का प्राकृतिक सौंदर्य मुखरित हो उठा है। अकेले झेलम पर अगणित गीत रचे गए हैं। चिनार पर, केसर पर, शाल की ऊन पर, चरखे पर, फलों के बगीचे पर तथा दुल्हा-दुल्हिन को लगाई जाने वाली मेहदी पर अनेक गीत हैं। लोरियाँ तथा शीरी-फरहाद और नागराज-हीमाल आदि की प्रेम-कथाएँ इनके अलावा हैं। यह सब गीत हिन्दू-मुसल्मानों के साँझे हैं।

अन्य प्रदेशों की तरह कश्मीर में भी नाचने-गाने वालो की टोलियाँ घूमती हैं। यहाँ इन लोगो को 'बांड' अर्थात 'भाँड' कहते हैं। इन टोलियो के पास सारंगी और रबाब आदि के अलावा 'दहरा' नाम का एक विशेष बाजा रहता है। यह लोहे की एक सलाख होती है, जिस पर लोहे की ही चूड़ियाँ सी पड़ी रहती हैं। इसको हिलाकर चूड़ियो की ध्वनि के साथ ताल उत्पन्न की जाती है। कश्मीर के देहाती गायक प्रायः इसी के सहारे गाते हैं।

कश्मीर मे नृत्य की परम्परा बहुत पुरानी है। विद्वानो का मत है कि प्राचीन युग मे भारत के शास्त्रीय नृत्य का एक मुख्य केन्द्र कश्मीर भी था। यहाँ नृत्य-शास्त्र पर अनेक टीकाएं लिखी गई थी। ऐसी टीकाकारो में ७-८वीं शताब्दी में हुए अभिनवगुप्त का नाम विशेषप्रसिद्ध है। परन्तु कश्मीर की अपनी विशेषता उसके लोक-नृत्य हैं। इन नृत्यों मे यहाँ के लोगो का शांतिमय जीवन पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित होता है।

'रौफ' यहाँ का सबसे प्रसिद्ध और सुन्दरतम लोक-नृत्य है। इसमे लड़कियाँ एक-दूसरे की कमर मे हाथ डालकर लहरो की तरह आगे-पीछे डोलती हुई बड़ा मनोहारी दृश्य उपस्थित करती हैं। वे साथ मे बारी-बारी से कोई अनुकूल गीत गाती जाती हैं, परन्तु स्वर-सगति अथवा ताल के लिए कोई वादन नहीं होता। इस नृत्य मे अंग-संचालन और गति-रूप बहुत सुन्दर बन पड़ता है, और पोशाक भी विशेष आकर्षक होती है। यह मुख्यतः स्त्रियो का नृत्य है, और एक प्रकार से कश्मीरियों का धार्मिक नृत्य बन गया है। अवसर त्योहारों पर इसका आयोजन किया जाता है।

एक और नृत्य, जिस मे युवक और युवतियाँ केवल मनोविनोद के लिए भाग लेती हैं, 'हिक्त्' कहलाता है। इसमें एक-एक लड़की और लड़का हाथों

मे हाथ डाल कर पहले धीरे धीरे और फिर तेजी से घूमते जाते हैं। यहाँ तक कि गति इतनी तीव्र हो जाती है कि प्रत्येक जोडा एक काय मालूम होने लगता है। इस नृत्य रूप मे भी कोई वादन नही होता।

जम्मू के डोगरो के यहाँ अपना अलग 'भगडा' नृत्य है, जिसका मेले-त्योहारो पर विशेष आयोजन किया जाता है। यह पजाबी भगडा से कुछ अधिक परिमार्जित और सुसगठित होता है, और इसमे पोशाक भी डोगरो की अपनी देशीय होती है। ढोल की ध्वनि के साथ भगडा नाचते हुए डोगरे जवान बहुत ही सुन्दर और प्रभावी दीख पडते हैं। लद्दाख मे स्वाँग से मिलते-जुलते आध्यात्मिक प्रकार के नृत्य हैं, जिनमे लामा लोग नकली चेहरे लगा कर आसुरी शक्ति पर दैवी शक्ति की विजय का परम्परित विषय प्रस्तुत करते हैं।

त्योहार

कश्मीरियो की मिली-जुली धार्मिक लोक-परम्पराओ की तरह उनके कई त्योहार और रीति रिवाज भी एक से हैं। पीर प डित तो प्राय सभी साँझे हैं, और उनकी स्मृति मे मनाए जाने वाले त्योहारो मे हिन्दू-मुसलमान सब समान श्रद्धा के साथ भाग लेते हैं। कश्मीरियो मे सत भक्ति की परम्परा बहुत सुदृढ है। सतो को साधारणत 'ऋषि बाबा' कहा जाता है, अर्थात हिन्दू लोग ऋषि कहते हैं, और मुसलमान बाबा। ऐसे सतो के मजारो अथवा समाधियो पर सयुक्त मेले लगते हैं। बच्चे के जन्म तथा ब्याह-शादी के अवसरो पर एक से गीत गाए जाते हैं। हिन्दु-मुसलमान दोनो बच्चे का मु डन-सस्कार करते हैं। इसे ये लोग 'जरकासम' कहते हैं। प डित लोग लडके के यज्ञोपवीत का उत्सव बडी धूम धाम से मनाते हैं, और मुसलमानो के यहाँ 'खतने' की रस्म् पर खूब खुशियाँ मनाई जाती हैं।

धार्मिक त्योहारो म हि दुस्तान के प्राय सभी बडे त्योहार कश्मीर म प्रचलित हैं। जैसे मुसलमानो की दोनो ईदें, शबे-बरात, मीलाद और शिया मुसलमानो की मुहर्रम् आदि, तथा हिन्दुओ का दशहरा, दीवाली, रक्षाबधन, होली,

शिव की भक्ति में लीन हो कर गीत गाया करती थी। उसकी कविताओं का संग्रह 'लल्ल वाक्यनि' के नाम से प्रसिद्ध है।

पन्द्रहवीं शती के प्रशंसित सुलतान जैनुलाबदीन के दरबारी कवियों ने फारसी से अनुवाद की परम्परा प्रतिष्ठित की। उस युग में फ़िरदौसी का 'शाहनामा' कश्मीरी में अनुदित हुआ, तथा 'बाणासुर वध' नामक एक महाकाव्य, 'जैन चरित' नामक एक पद्य-जीवनी और 'जैन-विलासी' नामक एक नाटक भी लिखा गया।

लल्लद्यद की परम्परा में सोलहवीं शती में हब्बा खातून और अठारहवीं शती में अरणिमाल दो प्रसिद्ध कवयित्रियाँ हुईं। हब्बा खातून एक मामूली किसान की लड़की थी, जो अपनी कविता, संगीत और सुन्दरता के कारण यूसुफ शाह चक की रानी बनी। अरणिमाल एक ब्राह्मण फ़ारसी कवि की परित्यक्त पत्नी थी। उसने कश्मीरी भाषा में कुछ सुन्दरतम गीतों की रचना की। अठारहवीं शती में प्रकाशराम कुरिगामी ने 'रामावतार चरित्र' के नाम से रामायण पर उच्च स्तर की कविता लिखी। उन्नीसवीं शती में एक ओर महमूद गामी की रोमांटिक परम्परा में 'यूसुफ़-जुलेखा' 'लैला मजनू' और 'गुलरेज' जैसी फ़ारसी की श्रेष्ठ मसनवियों के उत्तम अनुवाद हुए, और दूसरी ओर परमानन्द ने कृष्ण और शिव सम्बन्धी प्रचलित लोक परम्पराओं के आधार पर 'राधा-स्वयंवर, 'सुदामा-चरित' और 'शिवलग्न' आदि उच्च कोटि का काव्य प्रस्तुत किया।

वर्तमान शती का प्रारम्भ मक़बूल और वहाब की यथार्थवादी रचनाओं तथा रसूल मीर की गजल से हुआ। इनसे प्रेरणा लेकर गुलाम अहमद महजूर, जिनकी १९५२ में मृत्यु हो गई आधुनिक कश्मीरी कविता के नायक बने। तत्कालीन सामंती शोषण से पीड़ित कश्मीरी जनता में मुक्ति की भावना सब से पहले महजूर ने ही जागृत की। उन के समकालीन कवि अब्दुल अहमद 'आजाद' अधिक स्पष्ट वक्ता और बलशाली थे। सामंती राजशाही और साम्राज्यवाद की दोहरी गुलामी के विरुद्ध जनता के संघर्ष में आजाद और गुलामहुसन बेग 'आरिफ' ने युद्ध की और गाथा गाई। अब्दुलसत्तार 'आसी' जैसे कुली-कवि भी हुए, जिन्होंने कश्मीरी मजदूरों के दुःख-दर्द का चित्र खींचा।

यहाँ तक कि जिन्द कौल (मास्टर जी) जैसे भक्त कवि ने भी कहीं-कहीं यही स्वर अपनाया। १९४७ तक यही परिस्थिति रही।

परन्तु कबायली हमले ने आज़ादी की लड़ाई को जनता के मोर्चे में बदल दिया। तब से जो नई राष्ट्रीय कविता प्रस्फुटित हुई है, उसके एक प्रमुख नायक हैं दीनानाथ 'नादिम्'। उन्होंने कश्मीरी कविता में नई जान डाली। उनके चतुर्दिक एकत्रित होने वाले तरुण मित्रों के दल में नूरमोहम्मद 'रोशन', रहमान 'राही,' उमेश कौल, प्रेमनाथ 'प्रेमी,' अर्जुनदेव 'मजबूर,' और गुलामनबी 'फिराक' आदि अनेक उत्तम कवि हैं। इन सब के यहाँ 'नए कश्मीर' के स्वागत के साथ-साथ वामपक्षी विचारों का प्रचार, और कभी-कभी निराशा की ध्वनि भी सुनाई पड़ती है। केवल 'मास्टरजी' के यहाँ मानवतावाद का आध्यात्मिक स्वर है। उनकी पद्य-पुस्तक 'सुमरन' को १९५६ की सर्वश्रेष्ठ कश्मीरी रचना के नाते राष्ट्रीय पुरस्कार दिया गया था।

वर्तमान युग में महजूर के बाद सब से अधिक प्रसिद्धि अख़्तर महिउद्दीन को प्राप्त हुई है। वह एक प्रतिभाशाली कवि और कुशल कथाकार हैं। गद्य-क्षेत्र में उनके अलावा 'रोशन', नादिम, उमेश कौल, जुत्शी और ताज बेगम की कहानियाँ भी उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत करती हैं। इन लेखकों की कहानियों से विकासोन्मुख कश्मीरी गद्य का सुखद प्रारम्भ हो गया है। आशा की जा सकती है कि पर्याप्त राजाश्रय से कश्मीरी में पुस्तक-प्रकाशन और पत्रकारिता के विकास के साथ-साथ साहित्य की अन्य विधाओं की ओर भी उचित ध्यान दिया जाएगा।

गीत और नृत्य

कश्मीरी जीवन गीतों से ओतप्रोत है। देहात में लोग प्रायः ही मिलकर गाते और नाचते हैं। प्रत्येक अवसर के लिए उपयुक्त लोक-गीत हैं, यहाँ तक कि वृद्धों की मृत्यु पर गाए जाने वाले 'वान' नाम के शोक-गीत भी हैं। प्रेम गीतों की संख्या तो अपार है; और ये वास्तविक काव्य-गुण लिए हुए हैं। कश्मीर की शायद ही कोई वस्तु हो, जो गीतों का विषय न बनी हो। इन गीतों में कश्मीर

का प्राकृतिक सौंदर्य मुखरित हो उठा है। अकेले झेलम पर अगणित गीत गए हैं। चिनार पर, केसर पर, शाल की ऊन पर, चरखे पर, फलों के बाग पर तथा दुल्हा-दुल्हिन को लगाई जाने वाली मेहदी पर अनेक गीत हैं। लोरि तथा शीरीं-फरहाद और नागराज-हीमाल आदि की प्रेम-कथाएँ इनके अला हैं। यह सब गीत हिन्दू-मुसलमानों के साझे हैं।

अन्य प्रदेशों की तरह कश्मीर में भी नाचने-गाने वालों की टोलियाँ घूम हैं। यहाँ इन लोगों को 'बाड' अर्थात 'भांड' कहते हैं। इन टोलियों के पास सारं और रुबाब आदि के अलावा 'दहरा' नाम का एक विशेष बाजा रहता है। य लोहे की एक सलाख होती है, जिस पर लोहे की ही चूड़ियाँ सी पड़ी रहत हैं। इसको हिलाकर चूड़ियों की ध्वनि के साथ ताल उत्पन्न की जाती है कश्मीर के देहाती गायक प्रायः इसी के सहारे गाते हैं।

कश्मीर में नृत्य की परम्परा बहुत पुरानी है। विद्वानों का मत है कि प्राचीन युग में भारत के शास्त्रीय नृत्य का एक मुख्य केन्द्र कश्मीर भी था। यहाँ नृत्य-शास्त्र पर अनेक टीकाएँ लिखी गई थीं। ऐसी टीकाकारों में ७-८वीं शताब्दी में हुए अभिनवगुप्त का नाम विशेषप्रसिद्ध है। परन्तु कश्मीर की अपनी विशेषता उसके लोक-नृत्य हैं। इन नृत्यों में यहाँ के लोगों का शांतिमय जीवन पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित होता है।

'रौफ' यहाँ का सबसे प्रसिद्ध और सुन्दरतम लोक-नृत्य है। इसमें लड़कियाँ एक-दूसरे की कमर में हाथ डालकर लहरों की तरह आगे-पीछे डोलती हुई बड़ा मनोहारी दृश्य उपस्थित करती हैं। वे साथ में बारी-बारी से कोई अनुकूल गीत गाती जाती हैं, परन्तु स्वर-संगति अथवा ताल के लिए कोई वादन नहीं होता। इस नृत्य में अंग संचालन और गति रूप बहुत सुन्दर बन पड़ता है, और पोशाक भी विशेष आकर्षक होती है। यह मुख्यतः स्त्रियों का नृत्य है, और एक प्रकार से कश्मीरियों का धार्मिक नृत्य बन गया है। अवसर त्योहारों पर इसका आयोजन किया जाता है।

एक और नृत्य, जिस में युवक और युवतियाँ केवल मनोविनोद के लिए भाग लेती हैं, 'हिकत्' कहलाता है। इसमें एक-एक लड़की और लड़का हाथों

मे हाथ डाल कर पहले धीरे-धीरे और फिर तेजी से घूमते जाते हैं। यहाँ तक कि गति इतनी तीव्र हो जाती है कि प्रत्येक जोडा एक काय मालूम होने लगता है। इस नृत्य रूप मे भी कोई वादन नहीं होता।

जम्मू के डोगरो के यहाँ अपना अलग 'भगडा' नृत्य है, जिसका मेले-त्योहारो पर विशेष आयोजन किया जाता है। यह पजाबी भगडा से कुछ अधिक परिमार्जित और सुसगठित होता है, और इसमे पोशाक भी डोगरो की अपनी देशीय होती है। ढोल की ध्वनि के साथ भगडा नाचते हुए डोगरे जवान बहुत ही सुन्दर और प्रभावी दीख पडते हैं। लद्दाख में स्वांग से मिलते-जुलते आध्यात्मिक प्रकार के नृत्य हैं, जिनमे लामा लोग नक्ली चेहरे लगा कर आसुरी शक्ति पर दैवी शक्ति की विजय का परम्परित विषय प्रस्तुत करते हैं।

त्योहार

कश्मीरियो की मिली-जुली धार्मिक लोक-परम्पराओ की तरह उनके कई त्योहार और रीति रिवाज भी एक से हैं। पीर प डित तो प्राय सभी साँझे हैं, और उनकी स्मृति मे मनाए जाने वाले त्योहारो मे हिन्दू-मुसलमान सब समान श्रद्धा के साथ भाग लेते हैं। कश्मीरियो मे सत भक्ति की परम्परा बहुत सुदृढ है। सतो को साधारणत 'ऋषि बाबा' कहा जाता है, अर्थात हिन्दू लोग ऋषि कहते हैं, और मुसलमान बाबा। ऐसे सतों के मजारों अथवा समाधियो पर सयुक्त मेले लगते हैं। बच्चे के जन्म तथा ब्याह शादी के अवसरो पर एक से गीत गाए जाते हैं। हिन्दु-मुसलमान दोनो बच्चे का मु डन-सस्कार करते हैं। इसे ये लोग 'ज़रकासम' कहते हैं। प डित लोग लडके के यज्ञोपवीत का उत्सव बडी धूम धाम से मनाते हैं, और मुसलमानो के यहाँ 'खतने' की रस्म् पर खूब खुशियाँ मनाई जाती हैं।

धार्मिक त्योहारो मे हिन्दुस्तान के प्राय सभी बडे त्योहार कश्मीर में प्रचलित हैं। जैसे मुसल्मानो की दोनों ईदें, शबे-बरात, मोलाद और शिया मुसल्मानों की मुहर्रम् आदि, तथा हिन्दुओ का दशहरा, दीवाली, रक्षाबधन, होली,

वसन्तपचमी, जन्माष्ठमी आदि । पंडित लोग शिवरात्रि का त्योहार विशेष उत्साह से मनाते हैं । उससे पहले घरों की सफ़ाई की जाती है, और विवाहित लड़कियों को नए कपडे और रुपया-पैसा दिया जाता हैं । चैत्र मे नए साल का त्योहार 'नवरे' के नाम से मनाया जाता है । उस दिन कहीं-कहीं पंडितों' का मेला भी लगता है । कश्मीर में 'वसत' को 'सोत' कहते हैं, और यह धार्मिक कार्य-क्रम के साथ मनाया जाता है । पंडित लोग वैशाखी का त्योहार और खीर भवानी का जन्म दिन भी बडे प्रेम से मनाते हैं । भादों मे विनायक-चतुर्थी के अवसर पर सवा सेर आटे की विशेष प्रकार की रोटियाँ बनाकर अडोस पडोस में बाटी जाती हैं । जम्मू मे 'बच-दुआ' महिलाओं का विशेष त्योहार है, जिस मे औरतें खूब सज धज कर और अपने नवजात बच्चों को साथ लेकर गाती-बजाती भाग लेती हैं । जम्मू मे वैष्णु देवी की यात्रा और कश्मीर मे अमरनाथ गुफा की यात्रा हिन्दू मात्र के लिए विशेष महत्व रखती है । प्रति वर्ष देश भर से हजारों श्रद्धालू इन यात्राओं मे भाग लेने के लिए आते हैं ।

खान-पान और पहनावा

कश्मीर में अधिकतर धान की खेती होती है । इसलिए पूर्वीय और दक्षिण भारतीयों की तरह यहाँ के लोगों का मुख्य भोजन भी चावल है । यह चावल के साथ साधारणत मछली पसन्द करते हैं, जो यहाँ की भीलों और नदियों में प्रचुर परिमाण मे मिलती है । एक और वस्तु, जिसे यहाँ के अमीर-गरीब सब लोग बडे चाव से खाते हैं, 'कडम' का साग है । यह सरसों के साग जैसा होता है, और कश्मीर मे बारहों महीनों सर्वत्र मिलता है । इसे कई तरह से बनाया जाता है । परन्तु साधारणत पूरे पत्तों को मिर्च-मसालों के साथ उबाल लेने का तरीका है । यह तरी वाला साग और भात के रूप में चावल सर्व साधारण कश्मीरियों का प्रिय भोजन है । कडम के पत्तों का आचार भी डाला जाता है ।

कश्मीर के सभी हिन्दू आमिष भक्षी हैं । पंडित लोग भी खूब मास खाते हैं । पजाब के मांसाहारी ब्राह्मणों के अलावा उत्तरी भारत में कश्मीर के

पंडित लोग ही सम्भवत एक ऐसा ब्राह्मण वर्ग है, जो प्राय नियम से मांस-मछली का सेवन करते हैं। कश्मीर मे फल, दूध और अंडो की बहुतायत है, परन्तु स्वय कश्मीरी लोग इन वस्तुओ की ओर अधिक प्रवृत्त नही हैं। इसमे सम्भवत आम कश्मीरियो की गरीबी का भी कुछ हाथ है।

कश्मीर मे कई प्रकार की जड़ें, पौधे और फूल खाद्य सामग्री मे गिने जाते हैं। अनेक प्रकार की गुच्छियाँ यहाँ मिलती हैं, जिन से बडे स्वादिष्ट भोजन तैयार होते हैं। तरकारियों के क्षेत्र मे भी कश्मीर की अपनी श्रेष्ठता है। तरह-तरह की सब्ज़ियाँ यहाँ उगाई जाती हैं। शीत प्रधान जलवायु के कारण, यूरोप की कई सब्ज़ियाँ और फल फूल, जो भारत मे अन्यत्र नही उग सकते, कश्मीर मे बडी सहजता से पनप जाते हैं।

कश्मीरियो का प्रिय पेय चाय है। परन्तु यह शेष भारत की चाय से कुछ भिन्न होती है। एक तो यह साधारणत हरी पत्ती वाली होती है, और दूसरे इसके बनाने और पीने का तरीका भी भिन्न है। हरी पत्ती की चाय बडे यत्न से बनानी पडती है। बहुधा उसमें दूध बिल्कुल नही डाला जाता। दूध मिला लेने पर उसका रग गुलाबी हो जाता है। इसे साधारणत नमक डाल कर पिया जाता है, और कभी-कभी मक्खन अथवा मलाई भी मिला ली जाती है। गरीब लोग अपनी चाय मे मकई का आटा भी घोल कर पीते हैं।

कश्मीर के प्राय प्रत्येक घर म चाय बनाने का अलग प्रबध रहता है। इनके यहाँ यूरोपियन तरीके से केतली और पिर्च प्यालों का रिवाज बहुत कम है। आमतौर से एक विशेष बर्तन का प्रयोग किया जाता है, जिसे 'समावर' कहते हैं। यह जग जैसा बडा सुन्दर बर्तन होता है, और इसके नीचे कोयलो की आँच सुलगी रहती है, जिससे चाय हर वक्त गर्म मिलती है। चाय पीने के लिए कपो के स्थान पर कटोरे जैसे चीनी के प्याले प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार यह लोग बडे सलीके से चाय पीते हैं, और अतिथियो को पिलाते हैं।

कश्मीरियो का साधारण वस्त्र एक लम्बा चोला होता है, जिसे 'फिरन्' कहते हैं। यह ढीले आस्तीनो वाला गाउन् सा होता है, और घुटनों से नीचे तक लटकता रहता है देहात में स्त्री-पुरुष सब इसी का प्रयोग करते हैं।

इस पर फूल भी काढे रहते हैं। नीचे शलवार जैसा पाजामा पहना जाता है। पडिताइन का 'फिरन' अवश्य कुछ भारी और कीमती होता है। परन्तु पडित पुरुषों में इसका रिवाज नहीं है। वे प्राय पुराने ढग के दरबारी वस्त्र का प्रयोग करते हैं, अथवा आधुनिक वस्त्र का। इसके अलावा पडितो के यहाँ पगडी विशेष महत्व रखती है, जबकि कश्मीरी मुसल्मानो मे शिरोवेष्ठन अथवा दस्तार केवल मुल्लाओं तक सीमित है। यह इज्जत का निशान समझी जाती है। सर्वसाधारण तो केवल एक कुलाह जैसी टोपी पहनते हैं। यह बहुधा इतनी छोटी होती है कि इससे केवल खोपडी का पिछला भाग ही ढका जाता है। विवाह से पहले लडकियाँ भी इसी प्रकार की टोपी पहनती हैं। अवश्य अब सभ्य वर्ग मे फ़र की गोल टोपी बहुत प्रचलित है। यह कश्मीरी टोपी के नाम से पजाब आदि प्रदेशो मे भी खास-खास लोगो का फैशन बन गई है। कश्मीर की एक और विशेष वस्तु 'काँगडी' है। यह एक खास पेड की छडियो से बुनकर बनाई हुई छोटी सी टोकरी होती है, जिसके भीतर मिट्टी का कटोरा रहता है। उसमें कोयले सुलगा लेते हैं, और इसे चादर के अन्दर छाती के पास अथवा गोद मे रख लेते हैं। इससे सर्दियों की भीषण सर्दी में शरीर को गरमाई पहुँचती रहती है।

कश्मीरी नारी

कश्मीरी नारी का सौंदर्य विश्व विख्यात है। भारत की सुन्दरतम स्त्रियों म कश्मीरी हैं। वास्तव में वे श्रेष्ठतम हैं। रग और चेहरे-मोहरे की दृष्टि से वे इटली और स्पेन की औरतों को मात करती हैं। इनका रग बहुत उजला, त्वचा अधिक मुलायम और मुखाकृति प्राय यहूदी सादृश लिए होती है। यूनानी रूप भी बहुत मिलते हैं, विशेषकर पण्डिताइनो म, जो पर्दे म रहने के कारण आम कश्मीरी औरतों से भी अधिक गोरी और सुकोमल होती हैं। मुसलमानों में पर्दा केवल शहरी मध्यम वर्ग तक ही सीमित रहा है। परन्तु अब प डितों की तरह इनके यहाँ भी यह प्रथा समाप्त सी हो चली है। देहात के आम लोगों मे तो कभी भी पर्दे का रिवाज नहीं रहा। किसान औरतें पुरुषों के साथ समान स्तर

पर खेतों मे काम करती हैं। इससे उनका रंग कुछ मैला पड जाता है, परन्तु स्वास्थ्य मे वे शहरी औरतो से उत्तम होती हैं। कश्मीरी स्त्रियाँ गप-शप की शौकीन, बातूनी, मुँह-फट और मौखिक लडाई मे दक्ष होती हैं। वे पुरुषो से कुछ अधिक ही परिश्रम करती हैं। गरीबी, कठोर परिश्रम और जल्दी बच्चे पैदा हो जाने के कारण इनका स्वास्थ्य और सौंदर्य भी शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।

कश्मीरी स्त्री का वस्त्र बिल्कुल आकर्षणविहीन है। लम्बी आस्तीनो वाले ढीले ढाले 'फिरन' मे शारीरक बनावट पूर्णतया छुप जाती है। इस वस्त्र के सम्बन्ध मे एक कश्मीरी लेखक ने लिखा है कि इसे सम्भवत किसी ईर्ष्यालु पुरुष न नारी का सौंदर्य छुपाने के उद्देश्य से ही अविष्कृत किया था। इस बेढंगे वस्त्र के साथ युवतियाँ सिर पर खोपडीनुमा टोपी पहनती हैं, जिससे आकृति और अधिक हास्यास्पद हो जाती है। विवाह के बाद टोपी के ऊपर एक चौरस रूमाल अथवा ओढनी रहती है। गले में भारी-भरकम मालाएँ और कानो में चाँदी के अगणित झुमके पहने जाते हैं। बहुधा झुमको का भार इतना अधिक हो जाता है कि उन्हें धागे द्वारा सिर के बालों से बाँध दिया जाता है। इस वस्त्राभूषण के साथ कश्मीरी औरतें बहुत कुछ मध्य ऐशिया की उजबेक और ताजीक औरतो जैसी दीखने लगती हैं। इनका आकर्षण मुख्यत इनके गोरे रंग, चेहरे की बनावट और आंखो की सुषमा मे है। शारीरिक गठन और व्यक्तिगत स्वच्छता की दृष्टि से यह कुछ अधिक प्रशसनीय नहीं हैं। वास्तव मे कश्मीरी स्त्रियाँ निजी सफाई का बहुत कम ध्यान रख पाती हैं। इसमे कुछ तो इस देश के शीतल जलवायु का दोष है, और कुछ यहाँ के आम लोगो की गरीबी और अज्ञानता का। अवश्य अब शिक्षा के व्यापक प्रचार से सभी परिस्थितियाँ बदल रही हैं। अतीत में कश्मीरी औरतों के नैतिक चरित्र के सम्बन्ध मे भी अनेक किवदंतियाँ प्रचलित थीं। उन में सत्य का एक अश अवश्य होगा, परन्तु अधिकांश कुछ साहित्यकारों की कुत्सित कल्पना का प्रतिबिम्ब मात्र था। कुछ भी हो, आजकल उस प्रकार की कहानियाँ बहुत कम सुनने में आती हैं। यह प्रगति का लक्षण है।

कश्मीरी चरित्र

अभी हाल तक कश्मीरीयों के सम्बन्ध मे बहुत सी अप्रिय बातें कही जाती थी। सब से ज्यादा जोर इस बात पर था कि औसत कश्मीरी प्रकृति से कायर है। अंग्रेजो ने उन्हें हर जगह 'डरपोक, लालची और झूठे 'लिखा है। परन्तु वास्तव मे यह बातें अधिकतर गलत थीं। स्वयं कश्मीरियों ने अपने आचरण से इन्हें गलत सिद्ध कर दिया है। कबायली हमले के समय कश्मीरी युवको ने न केवल आक्रमणकारियों का डट कर मुकाबला किया, बल्कि मक्बूल शेरवानी जैसे अमर शहीदो के गौरवमय उदाहरण भी प्रस्तुत किए। शहीद शेरवानी ने वस्तुत: व्यक्तिगत शूरवीरता की चरम सीमा को छू लिया। आजादी के लिए लड़ने वाली 'कश्मीर मिलेशियाँ' मे हिन्दू-मुसल्मान समान रूप से सम्मिलित थे। सब के होटों पर एक ही स्वर था—हम कश्मीरी हैं ; हम कश्मीर की रक्षा करेंगे ! कश्मीर में उस समय हिन्दू-मुस्लिम एकता का जो विलक्षण प्रदर्शन देखने में आया, वह कश्मीरी परम्पराओं का एक अभिन्न अंग है। कश्मीर मे यह एकात्मकता आज भी बनी हुई है। और इस दृष्टि से वर्तमान भारत में धर्म निर्पेक्ष राष्ट्रीयता का सब से सुदृढ गढ कश्मीर है।

कबायली हमले के पूर्व भी कश्मीरियों ने अनेकों बार साहस, दृढता और वीरता का परिचय दिया है। १६३१ से १६४६ तक कश्मीरी जनता ने राजनीतिक अधिकारों के लिये निरंतर संघर्ष किया। १६४६ ई० मे दीवान काक पंडित के राज-शाही अत्याचारो के विरुद्ध 'नया कश्मीर' आन्दोलन मे कितने ही कश्मीरी युवको ने अकथनीय कष्ट सहे। इसी आन्दोलन की क्रांतिकारी गुप्त धारा मे 'जोनी' जैसी वीरागनाएँ भी हुईं। जोनी एक साधारण कृषक महिला थी। पर उसने भूमिगत क्रांतिकारी दलो के बीच सदेशवाहिका का कार्य करने में अद्भुत वीरता का उदाहरण प्रस्तुत किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि शतियो की दासता, दरिद्रता और दमन ने कश्मीरी जनता की कमर तोड दी थी। एक के बाद दूसरे निरंकुश शासक के अत्याचार सहते-सहते वे कुछ काल के लिए विद्रोह की शक्ति खो बैठे थे। इससे उनमे एक प्रकार की निष्क्रियता आ गई थी। वे इतने दब गए थे कि लड़ाई का विचार

तक उनके मन मे उत्पन्न नही होता था। नित्य जीवन मे लडने-भिडने की कोई विशेष आवश्यता भी नही थी। मुट्ठी भर दाने सहज ही मे उपलब्ध हो जाते थे। इससे यहाँ के लोग अत्याधिक शातिप्रिय, मार-काट से दूर रहने वाले और ठडे मिज़ाज के बन गए। इसके अलावा दीर्घ काल तक नि शस्त्र रहने के कारण भी उन मे अवाछनीय अहिंसावाद को प्रोत्साहन मिला। सम्भवत इस प्रकार उन के सम्बन्ध मे भीरुता के आरोप की उत्पत्ति हुई।

वास्तव में औसत कश्मीरी आलसी और निश्चेष्ट हो गया था। आलसी तो वह आज भी है। परिश्रम की क्षमता रखते हुए भी वह कुछ अधिक 'करना' नहीं चाहता। कहावत है कि कश्मीर का कुत्ता भी केवल भौंकता है, काटता नही! कुछ भी हो, इतनी बात निर्विवाद है कि औसत कश्मीरी कुछ अधिक महत्वाकांक्षी अथवा कर्मठ और व्यवहार-साहसिक नही होता। वह अपने घर और गाँव से चिम्टे रहने का अभ्यस्त है। कश्मीर से बाहर उसकी दौड केवल पजाब की मडियों तक है, जहाँ वह आज भी सर्दियो में मजदूरी करने चला आता है। 'हाथो' कहलाने वाले यह लोग किसी काल मे कश्मीर की दरिद्रता और अज्ञानता का सजीव चित्र उपस्थित करते थे। यह इतने गदे और बुद्धिहीन होते थे कि पजाब के लोग उन्हे एक प्रकार से आदमी ही नही समझते थे। अवश्य अब वह पहले की सी हालत नहीं रही, न कश्मीरी लोग उतने गदे ही रह गए हैं। कहते हैं किसी काल मे श्रीनगर की दुर्गंध दो मील से मालूम पडने लगती थी। इन परिस्थितियो मे कुछ तो परिवर्तन हुआ होगा।

आम कश्मीरी जितने सीधे और सरल होते हैं, पडित लोग उतने ही चतुर, कपटी और अवसरवादी मशहूर हैं। उनमे व्यक्तिवाद, आत्मश्लाघा और अहकार की मात्रा भी सामान्य से कुछ अधिक पाई जाती है। कहते हैं इनमे पारस्परिक विश्वास और सहयोग की भावना बिलकुल नहीं होती। यह भी कहा जाता है कि यह लोग नितात कृपण और स्वार्थी होते हैं। परन्तु वास्तव में बात केवल इतनी जान पडती है कि यह लोग अन्य कश्मीरियो की अपेक्षा बौद्धिक रूप से कुछ अधिक उन्नत और नीति निपुण रहे हैं। इनमे अपने आप को नई परिस्थितियो के अनुसार ढालने की अद्भुत क्षमता है। इस कारण यह

प्रत्येक क्षेत्र में सहजता से अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर लेते हैं। इसके अलावा विशुद्ध ब्राह्मण होने के नाते इनका सम्मान समस्त भारत मे है। यह लोग प्रत्येक प्रदेश और समाज मे सदैव ऊँचा स्थान पाते रहे हैं। सामती युग में इन्हे आलसी, विलासप्रिय और निकम्मा भी कहा जाता था, परन्तु कश्मीर और कश्मीर के बाहर इनकी प्रकट सफलता और उन्नति को देखते हुए यह बात कुछ न्यायोचित नहीं जान पडती। अधिक विस्तार में न जाकर केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस वर्ग का एक रत्न स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से आज तक भारत का प्रधानमत्री है। केवल प्रधान मत्री ही नही, बल्कि चालीस करोड भारत-वासियो का हृदय-सम्राट, देश का उद्धारक और विश्व का एक महान नेता है। एक और सपूत सघ के सबसे बडे सदस्य राज्य का मुख्य मत्री है। कई एक अखिल भारतीय महत्व के राजनैतिक नेता हैं और कितने ही उच्च स्तर के प्रशासक, न्यायाधीश, विधिज्ञ, शिक्षा-विशारद, लेखक, दार्शनिक और धर्म-शास्त्री हैं। *साराश यह है कि भारत के कर्णधारों मे कश्मीरी पडित* प्रथम श्रेणी मे हैं।

परन्तु कहते हैं कि स्वय कश्मीर में पडित लोग इतने क्रियाशील नहीं हैं। वहाँ वे प्राय आराम से बैठकर जीवन बिताने के इच्छुक रहते हैं। इसके साथ ही यह एक विचित्र बात है कि वे अन्य कश्मीरियों की अपेक्षा कुछ अधिक ही अध-*विश्वासी और रूढि-ग्रस्त हैं। उनकी तुलना मे शिक्षित वर्ग के मुसलमान सशय* ग्रस्त और भावुक कम तथा क्रियाशील और यथार्थवादी अधिक हैं। यह कश्मीरी मुसलमान ही हैं, जिनकी कारीगरी की धूम सारी दुनियाँ मे है। उनके हाथ की बनी हुई लकडी, धात और पपरमैशी की वस्तुएँ, रेशम और ऊनी धागे की कशीदाकारी और वस्त्र तथा गब्बे, नम्दे, पश्मीने और शाल आदि शिल्प की दृष्टि से *अद्वितीय माने जाते हैं। कश्मीर के यह शिल्पी और अन्य लोग, जिन* मे हपक, मल्लाह और चरवाहे सभी सम्मिलित हैं, अब आधुनिक शिक्षा के सम्पर्क से ज्ञान विज्ञान और संस्कृति के क्षेत्रो में भी आ रहे हैं। विशुद्ध बौद्धिक योग्यता मे भी यह पडितों से किसी प्रकार हीनतर नही हैं। इन्हें पूर्ण अवसर मिले, तो यह कश्मीर को वास्तविक अर्थों मे 'भूस्वर्ग' बना सकते हैं।

हिन्दी प्रदेश

महापर्वत हिमालय और विन्ध्या के बीच मे स्थित, गंगा, यमुना, चंबल, बेतवा और नर्मदा के जल से प्लावित विशाल समतल मैदान हिन्दी-प्रदेश है। इस उपजाऊ भूमि के लोग जैसे भौगोलिक दृष्टि से भारत के मध्य मे हैं, ठीक वैसे ही देश के इतिहास, जातित्व, धर्म, सस्कृति और राजनीति मे भी इनका स्थान केन्द्रीय है।

'हिन्दी-प्रदेश' की कोई निश्चित सीमाएँ नही हैं; न भारत के सविधान मे इस नाम का कोई राजनीतिक क्षेत्र ही निर्धारित है। शिक्षा, साहित्य और राज भाषा की दृष्टि से बिहार और राजस्थान भी इसकी परिधि में आ जाते हैं। परन्तु विशुद्ध शास्त्रीय अर्थों मे केवल उतना ही क्षेत्र हिन्दी-प्रदेश है, जहाँ हिन्दी की बोलियाँ बोली जाती हैं। अर्थात् उत्तर मे अम्बाले से लेकर बनारस तक और दक्षिण मे एक ओर खडवा और दूसरी ओर रायपुर तक का चतुर्भुज हिन्दी-प्रदेश है। पजाब का हरियाना क्षेत्र, लगभग सारा उत्तर प्रदेश और मध्य-प्रदेश का अधिकाश भाग इसमें आ जाता है। इसे 'मध्य देश' की अभिधा भी दी जाती है, और यहाँ के १० करोड निवासियो के लिए भाषिक प्रदेशो की वर्तमान व्यवस्था मे, साधारणत 'हिन्दी-भाषी' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

परन्तु 'हिन्दी-भाषी' अथवा 'हिन्दी-प्रदेश' और 'मध्य-देश' आदि शब्दो का अर्थ ठीक वैसा ही नही बनता, जैसा कि 'बगाल-बगाली' या 'गुजरात-

गुजराती' आदि शब्दों के हैं। उत्तर प्रदेश और मध्य-प्रदेश, जिनसे इस समय यह भाषिक क्षेत्र अधिकांश निर्मित है, प्रशासनिक सुविधा के दृष्टि से रखे हुए कृत्रिम नाम हैं, अर्थात् उनके पीछे कोई सुनिश्चित ऐतिहासिक या सांस्कृतिक परम्परा नहीं है। यहाँ के लोगों की भी अपनी कोई पृथक् सांस्कृतिक पृष्ठिका नहीं है। जो कुछ भी है, और वह वस्तुतः विशाल है, वह अधिकांश समूचे भारत की ही सामान्य सम्पत्ति है। इस बात का, अर्थात् हिन्दी-भाषियों का अपना कोई पृथक सांस्कृतिक नाम न होने का भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण, नियन्त्रण और विकास में विशेष महत्व है, जिसकी चर्चा यथास्थान होगी।

भारतीय भाषाओं में एक फारसी शब्द प्रचलित है—'हिन्दुस्तानी'। इसके कई अर्थ हैं: भाषिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक इत्यादि। अंतिम अर्थों में यह एक प्रकार से 'भारतीय' का पर्याय है, क्योंकि भारत के कई नामों में एक नाम 'हिन्दुस्तान' भी है, बल्कि सबसे प्रचलित नाम 'हिन्दुस्तान' ही है—कम से कम पिछली दो शताब्दियों से सम्पूर्ण भारत का यह नाम चला आ रहा है। वैसे भी 'हिन्दुस्तान' का शाब्दिक अर्थ है 'हिन्दुओं का देश'। इसी से इसका हिन्दी रूपांतर 'हिन्दुस्थान' भी किया गया है। स्वयं हिन्दी-प्रदेश की भाषाओं में, साहित्यिक हिन्दी में कम तथा उर्दू और हिन्दुस्तानी में ज्यादा, इस शब्द का प्रयोग प्रायः इन्हीं अर्थों में होता है, यानी 'हिन्दुस्तानी' अर्थात् भारतीय।

परन्तु विस्तृत हिन्दी प्रदेश के बाहर की भाषाओं में इस शब्द का यह अर्थ नहीं है। उनके यहाँ 'हिन्दुस्तान' का अर्थ भले ही 'भारत हो', परन्तु 'हिन्दुस्तानी' से अभिप्राय है केवल हिन्दी-प्रदेश के लोग अथवा उनकी बोल-चाल की भाषा से है।

मुस्लिमकालीन भारत में इन शब्दों के यही अर्थ थे। तब 'हिन्दुस्तान' से अभिप्राय था पंजाब में सरहिन्द—जिसका अर्थ ही 'हिन्द का सिरा' है—से लेकर बिहार की सीमा तक और दक्षिण में नर्मदा तक का उत्तर-भारतीय मैदान। विन्ध्या के दक्षिण में 'दकन' (दक्खिन) का देश था। यों भी वह

सक्ते हैं कि मुसलमानों ने प्राचीन आर्यावर्त्त को 'हिन्दुस्तान' और प्राचीन 'दक्षिणापथ' को 'दकन' का नाम दिया। समस्त मुस्लिमकालीन इतिहास में केवल गंगा-यमुना के विशाल मैदान को ही 'हिन्द' अथवा 'हिन्दुस्तान' कहा गया। इसी से यहाँ के लोगों तथा उनकी बोल-चाल की भाषा का नाम 'हिन्दी, 'हिन्दवी' और आधुनिक युग में 'हिन्दुस्तानी' पड़ा। आज 'हिन्दुस्तानी' का अर्थ अधिक विस्तृत हो जाने पर भी 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग विशेष रूप से हिन्दी-भाषियों के लिए ही होता है, यद्यपि स्वयं हिन्दी-भाषी इस नाम को केवल अपने तक सीमित रखना कुछ पसन्द नहीं करते।

भारतीय इतिहास की लीला-भूमि

भारत मे सामान्यतः भारतीय इतिहास के नाम से जो इतिहास प्रचलित है, वह मुख्य रूप से मध्य-देश का इतिहास है। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि यह भारत में आर्य हिन्दू जाति का मुख्य आवास-स्थान बना, और आर्यावर्त कहलाया, तथा आरम्भ से ही भारतीय इतिहास की लीला-भूमि रहा। देश के मध्य मे होने के कारण प्रायः सभी बड़े साम्राज्यो का उत्थान और पतन इस प्रदेश मे हुआ, और समय समय पर भारत मे जो भी केन्द्रीय शक्ति सगठित हुई, वह प्राय. इसी क्षेत्र मे अवस्थित रही। यहाँ स्थापित होने वाली राज्य-सत्ता मे चारो ओर फैलने तथा समूचे देश को अपने अधीन सयुक्त करने की प्रवृत्ति भी बराबर बनी रही। इस प्रकार भारत के इतिहास और राजनीति में मध्य-देश का प्रयास सदैव एकीकरण की ओर तथा केन्द्रोन्मुखी रहा, और आज भी है।

ईसा से लगभग डेढ हजार वर्ष पूर्व गगा-यमुना की घाटी मे आर्यों के प्रवेश के साथ ही वर्तमान भारत का इतिहास शुरू होता है। तब सीमांत प्रदेश और पश्चिमी प जाब के स्थान पर दोआब स्थित कुरु और पाचाल राज्य भारत में आर्य सत्ता और सभ्यता के केन्द्र बने, तथा वर्तमान हिन्दू जाति का विकास आरम्भ हुआ।

बाद के युग मे, जिसे इतिहास में 'महाकाव्य काल' कहते हैं, यह भूमि

रामायण और महाभारत मे वर्णित नायकों का रंग-स्थल बनी। पुरुषोत्तम राम की जीवन-कथा और कुरुक्षेत्र के महायुद्ध से बाद की शतियो मे समस्त भारत के सामुहिक जीवन, मर्यादाओ और आदर्शों के मानदंड निर्धारित हुए।

बौद्धकालीन भारत के १६ महाजनपदो मे से ७ इस प्रदेश मे थे—कुरु, पाचाल, सूरसेन, वत्स, काशी, कोशल और अवन्ति। परन्तु जब गौतम बुद्ध ने अपना प्रचार आरम्भ किया, तब मध्य-देश मे चार बडे राज्य थे: कोशल, अवन्ति, वत्स और मगध। पूर्वोक्त तीन राज्य आगे चलकर मगध साम्राज्य मे विलीन हो गए। इस प्रकार उत्तरी-भारत में पहली ऐतिहासिक रूप से निश्चित केन्द्रीय शक्ति का अभ्युदय हुआ।

ऐतिहासिक युग की प्रारम्भिक शताब्दियों मे मौर्य, सुंग, कण्व, आन्ध्र और उत्तर-पश्चिमी सीमा स्थित कुशान वंशो ने इस भूभाग पर राज्य किया। इस काल के अधिकाश भाग के कोई न कोई राजवशी उपराज के रूप मे अवन्ति में निवास करता था। स्वयं अशोक सम्राट बनने से पहले उज्जैन मे उपराज था। सांची के विश्वविख्यात स्तूप का निर्माण उसी ने आरम्भ कराया था।

चौथी शती ईस्वी मे तृतीय गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा उज्जयिनी को राजधानी बनाए जाने पर भारत का राजनीतिक और सास्कृतिक केन्द्र अपने उचित क्षेत्र मे आ गया। चीनी यात्री फाहियान (४००—४१३ ई०) ने 'हिन्दुओ के उस स्वर्ण-युग' का विस्तृत वर्णन किया है। समस्त भारत के सास्कृतिक जीवन को प्रभावित करने वाले कालिदास जैसे महाकवि और आयुर्वेद शास्त्र के जन्म-दाता धन्वन्तरि तथा आर्य भट्ट, वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त जैसे सस्कृत ग्रथकार उसी युग में हुए।

सातवीं शती में उज्जैन के स्थान पर कन्नौज भारत का नया केन्द्र बना। हर्षवर्धन के विशाल साम्राज्य की राजधानी होने के नाते उसकी वही महत्ता हो गई, जो पुराने समय मे पाटलिपुत्र की और उसके बाद उज्जैन की थी। उस काल का विस्तृत वर्णन दूसरे चीनी यात्री ह्वेनसांग के यात्रा-वृत्त मे मिलता है। 'हर्ष-चरित' का रचयिता बान भट्ट तथा माघ और भवभूति जैसे

संस्कृत साहित्यकार उसी युग मे हुए। स्वयं सम्राट हर्ष को उच्च कोटि का संस्कृत नाटक-कार माना जाता है।

हर्ष के बाद की पाँच शताब्दियाँ 'राजपूतों का युग' कही जाती हैं। उस दीर्घ काल-खंड मे यहाँ अनेक छोटे-छोटे राजपूत राज्य स्थापित हुए, जिनके बीच निरंतर युद्ध चलते थे। इसी आंतरिक कलह और अराजकता का अंतिम परिणाम भारत मुख्य-भूमि में मुसलमानी सत्ता की दृढ़ स्थापना के रूप में निकला।

११वीं शती के प्रारम्भ मे महमूद के आक्रमणों से पूर्व मध्य देश में जो राजपूत वंश विशेष प्रसिद्ध हुए, उनमें बुन्देलखंड के चन्देल, मालवा के परमार, कन्नौज के प्रतिहार और राठौर तथा दिल्ली के तोमर वंशो ने भारतीय इतिहास की रूप-रेखा निर्धारित करने में सबसे महत्वपूर्ण भाग लिया।

दिल्ली के अंतिम तोमर राजा अनंगपाल के दो दोहतों पृथ्वीराज और जयचन्द की पारस्परिक, शत्रुता, संयोगिताहरण की कथा तथा राजपूत राजाओं की व्यापक फूट के परिणामस्वरूप मोहम्मद गौरी द्वारा दिल्ली में शक्तिशाली मुसलमानी साम्राज्य की स्थापना आदि घटनाओं का वृतांत सर्वविदित ही है।

दिल्ली-केन्द्रित पठान साम्राज्य और उसके बाद दिल्ली और आगरा केन्द्रित मुगल साम्राज्य के दीर्घ काल खंड मे यहाँ विशेषकर हिन्दू धर्म और संस्कृति की बहुत सी पुरानी सामग्री नष्ट हुई। अनेक मंदिर, शिक्षा-केन्द्र और कला-कोष खंडहरों मे परिणत हुए। परन्तु उसके साथ ही इस देश की समन्वयात्मक प्रकृति के अनुसार कई मिली-जुली धाराएँ और एकीकरण की प्रवृत्तियाँ भी प्रकट हुईं, जिन्होंने समस्त भारत को प्रभावित किया। इस प्रक्रिया को मुगल काल मे विशेष बल मिला, जबकि सब से प्रतापी मुगल सम्राट अकबर ने भारत के हिन्दु-मुसलमानों को एकता के सूत्र मे बाँधने का सचेतन प्रयास किया। रहीम, फैजी और अबुलफजल जैसे प्रकांड पंडित, टोडरमल, बीरबल और मानसिंह जैसे कुशल राजनीतिज्ञ, सूरदास और तुलसीदास जैसे महाकवि, तानसेन जैसे गायक तथा अबदुस्समद और बसावन जैसे चित्रकार उसी के समय म हुए। पर औरंगजेब ने अपनी

धार्मिक पक्षाधता और अनुदार नीति तथा असफल युद्ध नीति से इस शक्तिशाली और सयुक्त साम्राज्य की जडें खोखाली कर दी ।

औरगजेब की मृत्यु के साथ ही मरहठो का युग आ गया । अठारहवी शती के मध्य तक समस्त मध्य देश, यहाँ तक कि स्वय दिल्ली पर उनका आधिपत्य हो जाने से भारत की केन्द्रीय सत्ता एक प्रकार से उनके हाथ मे आ गई । परन्तु अब्दाली द्वारा मरहठो की पराजय के बाद से बगाल और बिहार मे जमे हुए अग्रेज दिल्ली तक बढ आए, और अत मे सर्वत्र अग्रेजी साम्राज्य की विजय-पताका फहराने लगी ।

१८५७ ई० का तथाकथित 'स्वातन्त्र्य सग्राम, जो नाम मात्र को दिल्ली के अतिम कठपुतली मुगल बादशाह बहादुरशाह 'जफर' के झडे तले लडा गया, मुख्य रूप से मध्य-देश का अग्रेजी राज्य के विरुद्ध विद्रोह था । अन्य प्रदेशों ने उस असगठित प्रयास मे कोई विशेष भाग नही लिया । ईस्ट इण्डिया कम्पनी की हिन्दुस्तानी सेना, जिसने इस विद्रोह का नेतृत्व किया, अधिकतर अवध के पूर्वियो और रुहेलखड के रुहेले पठानो से निर्मित थी। विप्लवियो के नेता भी अधिकतर इसी प्रदेश के राजपूत, मरहठे और पठान सामत तथा मुगल शहजादे और मौलवी थे। इन में नाना साहब पेशवा, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई तातिया टोपे और मौलवी अहमदशाह व मौलवी लियाकतअली आदि विशेष प्रसिद्ध हुए । दिल्ली, मेरठ, ग्वालियर, झाँसी, कानपुर, इलाहाबाद लखनऊ, शाहजहानपुर, फर्रुखाबाद और बरेली इसके मुख्य केन्द्र बने, और कुछ समय के लिय लगभग सारा मध्य देश अग्रेजी शासन के बधनो से मुक्त हो गया। परन्तु अतत एकता, सगठन और अनुशासन के अभाव से--विद्रोहियों की पराजय हुई । ५३ हजार हिन्दुस्तानी सेना उस युद्ध म मारी गई और हजारों की सख्या में अग्रेजों ने जनता का सहार किया । पराजय से अवध के पूर्वियो तथा रुहेलो और हरियाना के जाटों को सब से ज्यादा क्षति हुई । अग्रेजो द्वारा भीषण दमन के दुष्प्रभावों से वे आज तक पूरी तरह उभर नही पाए हैं । हिन्दी प्रदेश की बहुसख्यक जनता के वर्तमान आर्थिक और शैक्षणिक पिछडेपन के कारणों में एक उनका सिपाही विद्रोह मे विशेष योगदान और पराजय भी है ।

बीसवीं शती के द्वितीय चरण से दिल्ली को पुनः भारत की राजधानी घोषित किए जाने पर देश का राजनीतिक केन्द्र फिर से अपने उचित क्षेत्र में आ गया। तभी से आधुनिक भारत में बंगाल के स्थान पर मध्य-देश की चिरकालीन प्रधानता पुनर्स्थापित हुई। आगे चल कर भारत के स्वतंत्रता-आन्दोलनों में यहाँ के लोग सदैव ही अग्रणी रहे। प्रथम श्रेणी के राष्ट्रीय नेतागण भी अधिकतर इसी प्रदेश से आए। क्रांतिकारी परम्परा में भी यहाँ के युवकों ने सारे देश का पथप्रदर्शन किया। चन्द्रशेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मिल और इश्फ़ाक़-उल्लाह जैसे अमर शहीदों के नाम आधुनिक भारतीय वीर-गाथा में गौरवमय स्थान रखते हैं।

जातीय स्वरूप

जातीय दृष्टि से हिन्दी-प्रदेश के लोग भारतीयों में भी 'विशुद्ध भारतीय' हैं, क्योंकि भारत मुख्य-भूमि में आर्य-द्राविड़ पूर्ण सम्मिश्रण और समन्वय, अर्थात वर्तमान हिन्दू जाति का जन्म इसी प्रदेश में हुआ। स्थानीय धारणा के अनुसार हिन्दुओं की पहली तीन जातियाँ आर्य हैं, और शूद्र अधिकतर मूल निवासी हैं या मिश्रित। परन्तु वास्तव में आज के हिन्दुओं में इस प्रकार का वर्गीकरण सर्वथा असम्भव है। मानव-विज्ञान के विशेषज्ञों के अनुसार यहाँ के लोगों में प्राय. तीन चौथाई आर्य और एक-चौथाई द्राविड़ रक्त का मिश्रण है। दक्षिणी और पूर्वी क्षेत्रों में द्राविड़ तत्व का आधिक्य है तथा उत्तरी व पश्चिमी क्षेत्रों में आर्य तत्व का। मंगोली तत्व, जो बहुत कुछ आर्य मिश्रित है, अधिकतर सुदूर उत्तर के पर्वतीय अंचल में दिखाई देता है। परन्तु वास्तव में लोग सभी जगहों पर मिले जुले से हैं। इस दृष्टि से समस्त भारत में सब से ज्यादा रंग-बिरंगे और विविध प्रकृति के लोग हिन्दी-प्रदेश के हैं। यहाँ गोरे से गोरा और काले से काला व्यक्ति मिल सकता हैं। यहाँ पंजाबियों जैसे प्रभावी डील-डौल वाले गोरे-चिट्टे आर्य रूप के लोग भी बहुत हैं, और मद्रासियों जैसे ठिगने कद, चप्टी नाक और गहरे भूरे से लेकर घोर काले रंग तक के प्राचीन निवासियों की भी भारी संख्या है।

बगालियों जैसे सांवले रग और ढीले-ढाले शरीर वाले बाबू लोग तो यहाँ के शहरी वर्ग मे प्राय ही दिखाई देते हैं। और पीले रग के मगोलाकार लोग पहाडों मे आम हैं। साराश यह कि भारत भर मे जितने भी आकार-प्रकार, रग-रूप और चेहरे मोहरे वाले लोग बसते हैं, उन सबके आदर्श नमूने हिन्दी प्रदेश मे मिल सकते हैं। इस प्रकार यह प्रदेश एक छोटे पैमाने पर समूचे भारत की जातीय रूप रेखा प्रस्तुत करता है। यहाँ एक ही स्थान पर सारे देश के दर्शन हो जाते हैं।

धर्म और समाज

हिन्दू जाति के साथ-साथ वर्तमान हिन्दू सनातन धर्म का जन्म भी इसी प्रदेश मे हुआ। प्रारम्भिक वैदिक साहित्य के बाद हिन्दू ब्राह्मण धर्म के अधिकतर ग्र थ, दर्शन शास्त्र, पुराण और स्मृतियाँ यहीं के राज दरबारों और ऋषि आश्रमों में लिखी गई। अधिकतर बडे तीर्थ स्थानों—हरिद्वार ऋषिकेश, कुरुक्षेत्र, मथुरा, प्रयाग, अयोध्या और काशी—की पुण्य भूमि होने के नाते यह क्षेत्र हिन्दुओं के निकट सदैव ही पूज्य रहा है। इन तीर्थ स्थानों पर प्रतिवर्ष देश भर से लाखों श्रद्धालू एकत्र होकर भारतीय लोक-जीवन की आधारभूत एकरूपता का विलक्षण प्रमाण उपस्थित करते हैं। गगा और युमना की पुण्य नदियों के साथ हिन्दू मात्र की गूढतम धार्मिक भावनाएँ सम्बद्ध हैं। राम और कृष्ण की यह भूमि शतियों से समस्त देश-वासियो को अपनी ओर आकर्षित करती रही है। वास्तव में इस प्रदेश की महत्ता और प्रधानता को बनाए रखने के कारणों म इस धार्मिक महात्म्य को निर्णयात्मक स्थान प्राप्त रहा है।

धर्म की दृष्टि से यहाँ के लोगो मे हिन्दू सनातम धर्म अपने विशुद्ध रूप में मिलता है। हिन्दू देवमाला के लगभग सभी सदस्यों की पूजा यहाँ होती है। परन्तु अवतारों म श्रीराम और श्रीकृष्ण ही प्रधान हैं। पुरुषोत्तम राम का व्यक्तित्व तो इस समस्त प्रदेश में एक सर्वव्यापक छत्र की भाँति आच्छादित है, यहाँ तक कि स्वय परमेश्वर के लिए भी 'राम' शब्द का ही प्रयोग होता है। राम भक्ति और कृष्ण भक्ति की सत परम्परा और सतों के प्रति जनता की श्रद्धा यहाँ सब से प्रबल है। अनेक सतों के नाम से उनके पथ चलते हैं। बजरग

बली के नाम से राम-भक्त हनुमान की पूजा भी समस्त देश में सब से ज्यादा यहीं होती है। परमेश्वर के स्थान पर स्वयं भगवान विष्णु विराजमान हैं, जिन की पूजा अधिकतर अर्धांगिनी लक्ष्मी के साथ लक्ष्मी-नारायण के रूप में होती है। शिव की पूजा यहीं-कहीं लिंग के रूप में, पर अधिकतर कैलाश-पति शंकर के रूप में प्रत्यक्षतः ही होती है। उनकी सहधर्मिणी के रूप में पार्वती की पूजा स्त्रियों में विशेष प्रचलित है। दुर्गा की पूजा देवी चंडी अथवा केवल 'देवी' के नाम से और काली-पूजा भी होती है। परन्तु पृथक् रूप से सरस्वती की पूजा इतनी अधिक प्रचलित नहीं। व्यापारी लोग गणेश की पूजा विशेष श्रद्धा से करते हैं। इन सब के अलावा स्थानीय, ग्राम और गृह देवता भी हैं। नाग-पूजा मनसा-पूजा, शीतला-पूजा और धरती-पूजा की प्राचीन पद्धतियां तथा वन पूजा के अवशेष के रूप में तुलसी और पीपल आदि पेडों की पूजा भी यहां खूब होती है। इस प्रकार हिन्दू धर्म की सभी परिपाटियाँ, प्रथाएं और रूढ़ियां तथा अनेक सम्प्रदायों, विचार-धाराओं, और पंथों के अनुयायी यहां मिल जाते हैं। परन्तु कई अन्य प्रदेशों के विपरीत वैष्णव और शाक्त आदि का भेद यहां इतना प्रकट नहीं है। सुधारवादी आन्दोलनों में संत परम्परा का उल्लेख पीछे किया गया है। पश्चिमी क्षेत्रों में पंजाब के आर्य समाज का कुछ प्रभाव है। परन्तु साधारणत. यहां के लोग कट्टरपंथी और पुरातनवादी ही हैं। सनातनियों के अतिरिक्त जैन धर्म के अनुयायियों की भी यहां काफी संख्या है।

इस्लामी सूफी मत की इस प्रदेश पर गहरी छाप है। निचले स्तरों पर कब्र-पूजा, पीर-पूजा और मुस्लिम संतों के मजारों पर प्रार्थनार्थ उपस्थित होने की प्रवृत्ति आज भी खूब प्रबल है। वास्तव में यह सूफीमत और संत परम्परा इस्लाम और हिन्दू धर्म के एक दूसरे पर प्रभाव का ही परिणाम है।

सामाजिक दृष्टि से हिन्दू वर्ण-व्यवस्था यहां अपने मूल रूप में दिखाई देती है। चारों जातियां अपने असली नामों से पहचानी जाती हैं, परन्तु परिवर्तन भी बराबर जारी रहता है। ब्राह्मण नियमानुसार क्षेत्रीय वर्गों में विभाजित और संगठित हैं। फिर स्तर और धंधे के विचार से अनेक भेद हैं। कुछ 'पूरे ब्राह्मण' हैं और कुछ 'आधे ब्राह्मण' इत्यादि। ये सब अधिकतर उत्तरी ब्राह्मण

हैं, परन्तु कुछ महाराष्ट्रीय, कर्नाटकी और अन्य दक्षिणी ब्राह्मण भी हैं, जो सम्भवतः मुसल्मानी युग में राजनीतिक उद्देश्यों से यहाँ आकर बसे। हिन्दी प्रदेश के ब्राह्मणों का सुसंस्कृत वर्ग सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में खूब सचेत और सक्रिय रहता है।

क्षत्रियों में अधिकतर राजपूत हैं, जो राजस्थान की अपेक्षा यहाँ कुछ अधिक योग्य, बुद्धिमान और कर्मशील रहे हैं। ये सब प्रकार के काम कर लेते हैं, और वर्तमान जनतंत्रीय प्रणाली के अनुसार जन-नायकों के रूप में भी सफल हैं। ठाकुर और खत्री भी स्वयं को क्षत्रियों में गिनते हैं, और पश्चिमी क्षेत्रों में जाट, गूजर यहाँ तक कि अहीर और गडरिए भी थोड़े शिक्षित अथवा धनवान हो जाएँ, तो सहज ही में क्षत्रिय मान लिए जाते हैं। वास्तव में यह सारी व्यवस्था निरंतर परिवर्तनशील रहती है, और आज के वर्गयुक्त समाज में तो इस का सारा आधार ही बदलता जा रहा है।

तीसरे स्थान पर वैश्य हैं, जिनकी आंतरिक व्यवस्था लगभग वही है, जो पीछे बिहार और राजस्थान के संदर्भ में बतलाई गई है। वास्तव में केवल वैश्यों की ही नहीं, बल्कि सारे ही हिन्दू समाज की जाति-पाँति व्यवस्था राजस्थान से लेकर बिहार तक समस्त विस्तृत हिन्दी प्रदेश में एक सी है। अनेक उपजाति और वंश नाम भी सामान्य हैं, जिन के अनुसार यहाँ के विभिन्न क्षेत्रों के लोगों के बीच जाति आधार पर शादी-ब्याह के सम्बंध सहज में स्थापित होते हैं।

कायस्थों का स्थान हिन्दू वर्ण-व्यवस्था में अनिश्चित है। परन्तु अपने शैक्षणिक गुणों के कारण यह सदैव ही सम्मानित रहे हैं। हिन्दी प्रदेश में विशेषतः इनका बड़ा मान, प्रतिष्ठा और सामर्थ्य है। यहाँ यह अपने असली रूप में दिखाई देते हैं। पौराणिक ग्रंथों में यह स्वयं को ब्रह्मा के पुत्र अथवा विष्णु के 'लेखक' चित्रगुप्त की संतान मानते हैं। परम्परा से इनकी उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई जाती है कि परशुराम द्वारा क्षत्रिय-संहार के समय जिन क्षत्राणियों के गर्भ स्थित था, उन्हें अरावली पर्वत में शरण लेने की अनुमति दी गई। उन्हीं की संतान 'कायस्थ' कहलाई। पौराणिक कथा के अनुसार चित्रगुप्त के बारह पुत्रों ने एक-एक कायस्थ वंश की स्थापना की। यह वंश-नाम आज देश के प्रधा-

सनिक, बौद्धिक और सास्कृतिक क्षेत्रों मे प्रायः ही सुनने मे आते हैं, जैसे माथुर, भटनागर, श्रीवास्तव, सक्सैना, प्राम्बिष्ट, आष्ठाना और कुलश्रेष्ठ आदि । इन ; यहाँ भी ऊँच-नीच के अनेक भेद हैं, जिनके कारण ही सम्भवतः इनके कुछ वंशो, जैसे निगम और वाल्मीकि (?) आदि को सगोत्र विवाह की प्रथा अपनानी पडी है । परम्परागत 'लेखक' होने के नाते इनके यहाँ होली, दीवाली आदि त्योहारो पर दवात की विशेष रूप से पूजा होती है । और भी कई रीति-रिवाज साधारण हिन्दुओ से भिन्न हैं । धर्म की दृष्टि से ये अधिकतर शिव-पूजक कहे जाते हैं । यह हिन्दुओ का सब से प्रगतिशील और ब्राह्मण विद्वानो के बाद सब से सुसस्कृत वर्ग है ।

मुसल्मान

हिन्दी-प्रदेश की सामान्य प्रकृति के अनुसार यहाँ के मुसलमान भी भारतीय इतिहास और राजनीति मे प्रधान रहे हैं । वास्तव में 'भारतीय मुसलमान' का अर्थ साधारणत. हिन्दी-प्रदेश के 'हिन्दुस्तानी मुसल्मान' ही है । यहाँ ये सख्या मे सबसे ज्यादा हैं—भारत भर के चार करोड मुसलमानो मे आधे से अधिक विस्तृत हिन्दी-प्रदेश मे रहते हैं । दीर्घकालीन मुस्लित सत्ता की अटूट शृंखला मे बधे रहने के कारण यहाँ इस्लाम धर्म भी अधिक सुदृढ है । यहाँ के मुसलमान कुछ ज्यादा पक्के मुसलमान हैं । इसलिए अन्य प्रदेशो के मुसल्मानो का नेतृत्व प्राय. यही के मुस्लिम राजनीतिक कार्यकर्ताओ और धर्म-नेताओ के हाथ में रहता है ।

'इस्लाम' का शाब्दिक अर्थ 'अम्न' या शाति है । सातवी शती ईस्वी मे अरब पैग़म्बर हजरत मोहम्मद साहब द्वारा प्रवर्तित यह सशक्त धर्म आदर्श रूप से ऐकेश्वरवादी और सैद्धातिक दृष्टि से समतावादी है । इसका मूलाधार 'ईमान' अर्थात निष्ठा या विश्वास है। एक परमसत्ता के एकत्व, शैतान सहित उसके फरिश्तो के अस्तित्व, मूसा, ईसा आदि पूर्ववर्ती पैग़म्बरों की सत्ता तथा अल्लाह के अतिम सदेशवाहक के रूप में हजरत मोहम्मद की 'रसालत' (पैग़म्बरी) और 'क़यामत' (प्रलय) के कर्म-फल-दिवस मे विश्वास रखने वाला व्यक्ति मुसलमान है । यह विश्वास सक्षेप में जिस वाक्य द्वारा व्यक्त होता है, उसे 'कलिमा'

कहते हैं। उसके अलावा प्रत्येक मुसलमान के लिए नमाज (प्रार्थना), रोजा (व्रत) जकात् (दान) और यदि सामर्थ्य हो, तो जीवन में एक बार हज, (मक्का की यात्रा) कर्त्तव्य-स्वरूप निर्धारित हैं। 'कलिमा' सहित यह पाँचो बातें इस्लाम धर्म के 'पच अरकान' अर्थात् 'पच स्तम्भ' कहलाती हैं। इस्लाम धर्म के सब आदेश 'कुरान' मे सकलित हैं। कुरान की आयतें (मत्र) मुसलमानो के निकट स्वय अल्लाह की वाणी है, जो 'वही' (ऐश्वरीय प्रेरणा) के रूप में फ़रिश्ता जिब्रील द्वारा हजरत मोहम्मद पर अवतरित हुई। इसके अलावा अनेक बातो की व्याख्या के रूप मे स्वय पैग़म्बर की वाणी भी है, जो 'हदीस' कहलाती है। 'कुरान' और 'हदीस', बस यही मुसलमानो के आधारभूत धर्म-ग्रथ हैं।

सिद्धात की दृष्टि से इस्लाम एक सरल, स्पष्ट और हृदयग्राही, तथा गहरी श्रद्धा, शक्ति और दृढ़ता प्रदान करने वाला धर्म है। अपने समय मे अरबो ने उसके बल पर आधी दुनिया को जीत लिया था। परन्तु उसके साथ ही एक प्रसारणीय धर्म होने के नाते इसमे अन्य दृष्टिकोण की समझ, सहिष्णुता और विचारशीलता का नितांत अभाव है। इस कारण वर्तमान युग मे इसके कट्टर अनुयायियो का जीवन स्वास्थ्य, सौंदर्य और संतोष से प्राय रिक्त होता है।

इस्लाम मे मौलिक बातों पर वाद विवाद या मतभेद की गुजाइश नहीं है। फिर भी प्रारम्भिक इस्लामी गणतत्र सम्बधी राजनीतिक विचारो के भेद से मुसलमानो मे दो बडे सम्प्रदाय माने जाते हैं सुन्नी और शिया। सुन्नी लोग जो बहुसख्यक हैं, हजरत मोहम्मद के 'सुन्नत्' अर्थात परम्परा या मार्ग पर चलने के दावेदार हैं। जिसका अर्थ यह है कि वे मुसलमानों के 'अमीर' या नेता के रूप म हजरत मोहम्मद के उत्तराधिकारी सभी खलीफ़ाओं को मानते हैं, जब कि शिया लोग केवल चौथे खलीफ़ा हजरत अली को मानते हैं, जो पैग़म्बर के जामाता थे। 'शिया' का अर्थ सहायक या समर्थक है। यह अली के पुत्रों के सहायक थे। पाँचवें खलीफ़ा यजीद की नियुक्ति के बाद इराक के करबला मैदान म इन दो पुत्रों हसन् और हुसैन की हत्या की गई थी। इस कारण यह मतभेद नितांत उग्र रूप में आज तक चला आ रहा है। शियों और सुन्नियों के बीच, विशेषकर भारत में, बहुधा दगा-फ़साद भी हो जाता है।

मुसलमानो मे इन दो आधारभूत सम्प्रदायो के अतिरिक्त इस्लामी विधि और रीति की व्याख्या के आधार पर, जो 'फिका' कहलाती है, कई वर्ग बन गए हैं। ये 'इमाम' कहलाने वाले चार सम्बधित धर्म-नेताओ या भाष्यकर्ताओ के नामो के अनुकरण मे 'हनफी,' 'शाफई,' 'हबली' और 'कामली' कहलाते हैं। शियो के भी अपने अलग इमाम हैं, जो सख्या मे बारह बतलाए जाते हैं। उनके यहाँ भी एक-एक इमाम को लेकर वर्ग निर्मित हुए हैं, जो उनके नामो पर 'तक़ी,' 'नक़वी,' जाफरी' और 'जैदी' आदि कहलाते हैं। शियो मे इन नामो का वश-नाम के रूप मे प्रयोग करने की पद्धति पाई जाती है। इनके अलावा धार्मिक विचारो की दृष्टि से भी कुछ अलग सम्प्रदाय हैं, जैसे 'वहाबी,' जो सूफी मत और पीर-पूजा के विरोधी हैं, 'ख़ारजी,' जो शिया मत के विरोध मे केवल अली को नही मानते, और अहमदी, मिर्ज़ई या कादियानी, जो कादियान (पजाब) के मिर्ज़ा गुलाम अहमद को हज़रत ईसा का वह नया रूप मानते हैं, जिसके प्रकट होने का सकेत कुरान मे दिया गया है।

जैसा कि पीछे बताया गया, इस्लाम मे सैद्धातिक दृष्टि से जाति और देश का भेद नही है, यद्यपि कुछ मुस्लिम धर्म-शास्त्रियो का मत है कि हदीस् मे अपनी जाति (नस्ल) के भीतर ही विवाह करने को 'उत्तम' कहा गया है, तथा अरबो को अन्य जातियो पर श्रेष्ठता दी गई है। कुछ हो, जहाँ तक भारत का सम्बध है, यहाँ हिन्दुओ के अनुकरण मे मुसलमानो मे भी सैयद, शेख, मुग़ल और पठान के नामो से चार जातियो की कल्पना बराबर पाई जाती है। सैयद लोग स्वय को 'आले-रसूल' अर्थात हज़रत मोहम्मद की सतान बतलाते हैं। सही अर्थों म इन्हे हज़रत की एक मात्र पुत्री हज़रत फातिमा के सतति-क्रम मे समझना चाहिए। परन्तु वास्तव मे यहाँ 'सतान' का कोई प्रश्न ही नही है। अरब में 'या सैयदी' (प्रभु) एक सम्मान सूचक सम्बोधन-शब्द के रूप मे किसी भी बडे और सभ्य व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है। यह शब्द प्रारम्भिक अरब धर्म-प्रचारको के साथ इधर के देशो म विशेष प्रतिष्ठित हुआ। आगे भारत मे जिस भी नवमुस्लिम ने अरबी के दो शब्द पढ लिए, वह स्वय को सैयद कहने लगा। सुयोग्य मुस्लिम समाज-शास्त्रियो के मतानुसार भारत मे

६६ प्रतिशत सैयद इस तरह बने हैं। शिया लोग सब अपने को सैयद कहते हैं।

तथाकथित दूसरी जाति 'शेख' की भी यही स्थिति है। अरब में 'शेख' कबायली सरदारों को कहते हैं। भारत में इस्लाम धर्म ग्रहण करने वाले अक्सर लोगों ने, विशेषकर जो ज़रा सम्पन्न हुए, मुस्लिम सत्ता के साथ सम्बंध जोड़ने तथा अपनी सरदारी प्रकट करने के लिए 'शेख' नाम धारण कर लिया। फिर इनमें से कितने ही लोगों ने एक एक प्रारम्भिक इस्लामी अरब खलीफ़ा के साथ अपना वंश जोड़ लिया। इस प्रकार ये सिद्दीकी, फ़ारूक़ी, उस्मानी इत्यादि बने, जो क्रमशः अबुबकर सिद्दीक, उमर फ़ारूक और उस्मान् के वंशज होने के दावेदार हैं। अरब ईरान से सम्बंध जोड़ने की यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल है कि कसाई लोग मक्का के प्रमुख कुरैश् गण के नाम पर अपने को 'कुरैशी' कहते हैं, और मुस्लिम नाइयों में ईरान के एक बुजुर्ग सलमान राज़ी के नाम पर अपने को 'सलमानी' कहने की परिपाटी चल पड़ी है। सूफ़ी मत की परम्परा में भी बहुत से मुसलमानों ने खास-खास मुस्लिम संतों के प्रति श्रद्धा रखने के प्रतीकस्वरूप उनके नाम धारण किए हैं, जैसे निज़ामी, चिश्ती, कुद्दसी, साबरी इत्यादि। इन नामों का अवश्य जाति से कोई सम्बंध नहीं है।

अन्य दो जातियों—मुग़ल और पठान—के नामों से ही प्रकट है कि यह नाम देशीय हैं, अर्थात् अफ़ग़ानिस्तान से आने वाले 'पठान', और मध्य-एशिया से आने वाले तुर्क-मंगोली लोग 'मुग़ल' थे। ये सब इस्लाम ग्रहण करने से पहले बौद्ध थे। भारत में पठान और मुग़ल सत्ता के युगों में बहुत से भारतीय नव-मुस्लिमों ने भी ये जाति-नाम धारण किए होंगे, ऐसा स्वयं मुस्लिम विद्वानों का मत है। पठान नाम 'खान' तो बहुत ही प्रचलित है, और मुग़ल नामों में साधारणतः 'मिर्ज़ा' और 'बेग' आदि शब्द आते हैं।

इनके अलावा बहुत से तथाकथित निम्न-जातीय मुसलमान हैं, जो अति हीन, दरिद्र और पिछड़े हुए होने के कारण केवल 'मोमिन' कहलाते हैं, अर्थात् वे लोग, 'जो ईमान लाए'। वैसे 'मोमिन' का शाब्दिक अर्थ 'मुसलमान' ही है। परन्तु भारतीय मोमिनों में अधिकतर केवल नाम मात्र को ही मुसलमान हैं। इनमें उत्तर प्रदेश और बिहार के बहुसंख्यक जुलाहे विशेष हैं, जो अपने

को 'अनसारी' कहते हैं। 'अनसार' दरअसल वे लोग थे, जिन्होंने मक्का से हज़रत मोहम्मद के हिजरत करके मदीना आने पर उन्हें शरण दी थी, तथा उनकी सहायता की थी। हज़रत मोहम्मद की उसी हिजरत (निर्वास) की स्मृति में मुसलमानों में हिजरी संवत प्रचलित है। अनसारियों में अब बहुत से परिवार सुशिक्षित और सम्पन्न हो गए हैं, और उन्होंने देश को कई उच्चकोटि के नेता प्रदान किए हैं।

इन सब के अलावा बहुत से मुसलमान अपने पुराने हिन्दू जाति-नामों के साथ ही चलते हैं, जैसे राजपूत, ठाकुर, गूजर, जाट, अहीर इत्यादि, तथा अनेक कारीगर, शिल्पी और सेवक जातियाँ। इस प्रकार भारतीय मुस्लिम समाज का ९९ प्रतिशत भाग भूतपूर्व हिन्दुओं के वंशजों से निर्मित हुआ है। हिन्दी प्रदेश में अवश्य अन्य स्थानों की अपेक्षा कुछ अधिक ही वास्तविक अरब, ईरानी, पठान और मुग़ल तत्व विद्यमान है। परन्तु अब इन लोगों को भी शतियों के मेल-जोल के बाद जातीय दृष्टि से भारतीय ही कहना चाहिए। भारत की वर्तमान रूप-रेखा निर्धारित करने में शुभ और अशुभ दोनों अर्थों में मुसलमानों का पर्याप्त योगदान है।

परन्तु यह लोग जातीय दृष्टि से जितने भारतीय हैं, भावात्मक दृष्टि से, विशेषकर हिन्दी प्रदेश में, उतने ही 'अभारतीय' भी हो गए हैं। इस्लाम धर्म की प्रकृति, मुस्लिम सत्ता-सम्बंधी प्रचलित इतिहास, हिन्दुओं की गलती तथा अंग्रेज़ों और उनके पिट्ठुओं की भेद नीति, इन चार तत्वों के योग से इनके मस्तिष्क में यह धारणा बैठ गई है कि ये एक अलग जाति है। ये बाहर से इस देश में आए, तथा यहाँ के हिन्दुओं पर इन्होंने शतियों तक राज्य किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह धारणा बिलकुल गलत है। न मुसलमानों की कोई अलग जाति है, और न आधुनिक अर्थों में उनके पूर्वजों ने इस देश पर राज्य किया। पूर्वज तो अधिकतर हिन्दू ही थे, और यदि मुसलमान भी हो गए थे, तो भी राज्य तो बादशाहों और उनके सामंतों का ही था, जिनमें हिन्दू-मुसलमान सभी सम्मिलित थे। समझने की बात है कि इतिहास में हिन्दू-काल, मुस्लिम-काल आदि का भेद शासकों के धर्म और नीति के विचार से किया

जाता है, न कि इस विचार से कि उस घोर सामंती युग मे जनता राज्य करती थी ! परन्तु भारतीय मुसल्मानों, विशेषकर हिन्दी प्रदेश के मुसल्मानो की भावनाओं मे यह 'द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त' पूरी तरह घर कर चुका है। इसी का सबसे बडा परिणाम पाकिस्तान के रूप मे हमारे सामने है। सब जानते हैं कि पाकिस्तान के निर्माण मे सबसे ज्यादा हाथ हिन्दी-प्रदेश के मुसल्मानो का है। वे आज भी प्रेरणा के लिए उसी की तरफ देखते हैं। उन्हें भारत से कोई सम्बध नहीं है। वे इस देश मे रहते हैं, परन्तु उनका हृदय सदैव इस देश से बाहर रहता है।

कटु सत्य यह है कि थोडे से समुन्नत परिवारों को छोड कर, जो वर्तमान सत्ता के साथ सम्बद्ध चले आने के कारण सामान्य मुस्लिम विचार धारा से दूर हो गए हैं, शेष अधिकाश मुस्लिम जनता प्रकृति से धर्मांध, उग्र सम्प्रदायवादी और भारत-विरोधी है। पूर्वी भारत और दक्षिण के स्थानीय मुसल्मान तो फिर भी, भाषा और रहन-सहन की दृष्टि से, कुछ भारतीय आकार प्रकार रखते हैं; और शायद किसी दिन वे देश की भावात्मक एकता के सूत्र मे बँध जाएँ। परन्तु हिन्दी-प्रदेश के विदेशोन्मुख मुसल्मानो को 'भारतीय अपनत्व' का अनुभव कराना नितात कठिन कार्य है। फिर परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि वे इस घातक भ्रम-जाल से निकलना भी चाहें, तो नहीं निकल सकते। इस प्रकार यह स्थिति बनी हुई है। और जब तक यह स्थिति है, देश मे अशाति की सम्भावना भी बराबर बनी रहेगी, विशेषकर हिन्दी-प्रदेश में। परन्तु इस विषय मे अकेले मुसल्मान ही दोषी हो, ऐसी बात नहीं है। पूरी समस्या इससे कही अधिक बडी और गहरी है। उसके पीछे इस देश का सारा इतिहास, समाज-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, प्रशासन-व्यवस्था, शिक्षा प्रणाली, दलीय राजनीति, बहुत कुछ क्रियाशील है, जिसकी सविस्तार चर्चा यहाँ प्रासगिक न होगी।

भाषा और साहित्य

हिन्दी प्रदेश की भाषा हिन्दी कही जाती है। परन्तु हिन्दी जैसी कि आज लिखी जाती है, वैसी कहीं बोली नही जाती। बोलचाल के लिए शहरों में

खडी बोली के वर्तमान हिन्दुस्तानी रूप या तथा देहात में विभिन्न प्रांतीय ग्रामीण बोलियों का प्रयोग होता है, जैसे हरियाना और मेरठ-क्षेत्र मे बाँगरू, मथुरा केन्द्रित व्रज-मडल मे व्रज, और इसी प्रकार क्षेत्र-भेद से कन्नौजी, बुन्देल-खडी, नेवारी, मालवी तथा पूर्व मे अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी इत्यादि। पश्चिम की बोलियो को 'पश्चिमी हिन्दी' और पूर्व की बोलियो को 'पूर्वी हिन्दी कहा जाता है, जो क्रमश शौरसेनी अपभ्रश और अर्ध मागधी अपभ्रंश से निकली हुई मानी जाती हैं। नेवारी नर्मदा के किनारे बोली जाती है, और मालवी का सम्बन्ध राजस्थानी से है। इन्ही सब बोलियों को खडी बोली सहित 'हिन्दी-परिवार' कहा जाता है, और इनमे से जो बोलियाँ भूतकाल मे साहित्यिक रही हैं, जैसे व्रज और अवधी आदि, उनके काव्य-साहित्य को हिन्दी का पूर्ववर्ती साहित्य माना जाता है।

आज की 'खडी बोली' या 'हिन्दुस्तानी' यद्यपि केवल शहरो मे बोली जाती है, परन्तु एक प्रकार से वही यहाँ के सर्वसाधारण की सबसे प्रचलित भाषा है, और सर्वत्र समझी जाती है। यह खिचडी भाषा है, और अभी तक हिन्दी की अपेक्षा उर्दू के ही अधिक निकट रहती है। इसी की आधारभूत बोली के दो साहित्यिक रूप अथवा शैलियाँ हैं हिन्दी और उर्दू। अर्थात खडी बोली को संस्कृत शब्दो के मिश्रण से देवनागरी मे लिखा जाय, तो वह हिन्दी हो जाती है, और फारसी-अरबी शब्दो के साथ फारसी लिपि मे लिखा जाय, तो उर्दू हो जाती है। इसके अलावा हिन्दी और उर्दू मे प्रकृति, स्वभाव और 'संस्कृति' का भी अतर है। उर्दू ने फारसी-अरबी परम्परा का अनुकरण किया, और हिन्दी ने संस्कृत-प्राकृत का। इससे उर्दू स्वभावत मुस्लिम-प्रधान और हिन्दी हिन्दू-प्रधान बन गई। परन्तु मुख्य भेद बडे शब्दो और लिपि का ही है। हिन्दी-प्रदेश के साहित्यिक माध्यम के रूप मे पहले उर्दू को अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी, अब हिन्दी को है।

'हिन्दी' नाम मुसल्मानो का दिया हुआ है। उनके भारत प्रवेश के समय शौरसेनी आदि अपभ्रशो से विकसित होने वाली देश-भाषा का नाम 'हिन्द की भाषा' के नाते 'हिन्दी' पडा। परन्तु आज जब हम 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग

करते हैं, तो उससे अभिप्राय खड़ी बोली का वह 'संस्कृतमय साहित्यिक रूप' होता है, जिसका इतिहास सौ डेढ़ सौ वर्षों से अधिक पुराना नहीं। 'खड़ी बोली' के साहित्यिक क्षेत्र मे आने से पहले हिन्दी साहित्य में ब्रज और अवधी का ही साम्राज्य था।

साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी का इतिहास ११ वी शती के मध्य से शुरू होता है। तब से लेकर अब तक साहित्य की मुख्य भावना के विचार से हिन्दी रचनाओ के चार काल माने जाते हैं। प्रारम्भिक वीरगाथा काल के साहित्य में मुख्यतः 'रासो' ग्रंथों की गणना की जाती है, जो अधिकतर राजस्थानी के पूर्व रूप डिंगल मे हैं। इनमें भाषा और लोक-प्रियता की दृष्टि से जगनिक कृत 'आल्ह-खंड' विशेष उल्लेखनीय है, जिसकी गूँज आज समस्त पश्चिमी हिन्दी-प्रदेश में सुनाई पड़ती है।

हिन्दी साहित्य का वास्तविक उत्थान १४—१७वी शती के भक्ति-काल में हुआ, जब अनेक भक्त कवियो ने ब्रज और अवधी मे उत्कृष्ट काव्य की रचना की। कबीर, जायसी, (पद्मावत के रचयिता) कुतबन, मझन, उसमान आदि अनेक कवि हुए।

परन्तु इस काल का सर्वश्रेष्ठ साहित्य गोस्वामी तुलसीदास का 'राम चरितमानस' और सूरदास का 'सूरसागर' और अन्य पद्य-ग्रथ ही हैं। भाषा की दृष्टि से तुलसी के यहाँ अवधी का और सूर के यहा ब्रज का उत्कृष्ट साहित्यिक रूप मिलता है। इन दो महाकवियों द्वारा हिन्दी साहित्य मे क्रमश. राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति की धाराएँ विशेष रूप से प्रवाहित हुई। आज हिन्दी-प्रदेश में सर्वत्र तुलसी की रामायण ही गूँजती है।

कृष्ण-भक्ति की धारा मे सूरदास समेत नन्ददास, परमानन्ददास, कुम्भनदास और चतुर्भुजदास आदि आठ कवि प्रसिद्ध हैं, जिन्हें 'अष्टछाप के कवि' कहा जाता है। इस काल के अंतिम बड़े कवि थे महाकवि केशव, जिनका सर्व प्रसिद्ध ग्रथ 'रामचन्द्रिका' है। आप अलकारवादी कवि थे, इसलिए आपको आप रीतिकाल का आदि कवि भी कहा जा सकता है। इसी काल के कृष्ण-

भक्त कवियो मे राजस्थानी कवयित्री मीरा का नाम भी आता है, और मुसलमान कवियो मे रसखान और रहीम खानेखानाँ विशेष प्रसिद्ध हैं।

रीति काल के दरबारी कवियो मे श्रेष्ठतम कवि थे महाकवि बिहारी, और उनकी 'बिहारी सतसई' हिन्दी शृ गार का श्रेष्ठतम काव्य है। बिहारी के दोहे भाषा-सौन्दर्य, रस-व्यंजना और भाव-व्यजना की दृष्टि से अद्वितीय हैं। इस काल के अन्य प्रमुख कवियो मे चिन्तामणि, मतिराम, देव और भूषण के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक काल मे गद्य के माध्यम से खडी-बोली ने साहित्यिक क्षेत्र मे प्रवेश किया। और आगे चलकर,ब्रज के स्थान पर पद्य की भाषा भी खडी बोली हो गई। कुछ हिन्दी इतिहासकार हिन्दी गद्य मे खडी बोली का प्रयोग अकबर के समय से मानते हैं, और उस काल की कुछ गद्य-पद्य मिश्रित पुस्तको का उदाहरण देकर यह सिद्ध करते हैं कि खडी बोली के रूप मे हिन्दी-गद्य का प्रारम्भ उर्दू गद्य से पहले हुआ। परन्तु उर्दू-वादियो का मत है कि हिन्दी गद्य का जो रूप आज मिलता है, उसकी उत्पत्ति उन्नीसवी शती के प्रारम्भ मे कलकत्ता फ़ोर्ट विलियम कालेज के उन उर्दू ज्ञाता नागरी लेखको द्वारा हुई, जिन्होने जान गिलक्राइस्ट के विशेष आदेश पर उर्दू के अरबी-फ़ारसी शब्दों के स्थान पर सस्कृत शब्दो के प्रयोग से हिन्दी-गद्य लिखा। इस सदर्भ मे मुशी इन्शाअल्लाहखाँ कृत 'रानी केतकी की कहानी' का भी उल्लेख किया जाता है, जिसमे स्वय उनके कथनानुसार 'हिन्दी छुट किसी बोली का पुट नही है।' परन्तु इशाअल्लाह ने यह पुस्तक उर्दू का आधारभूत हिन्दी रूप दर्शाने के लिए फारसी लिपि मे लिखी थी, तथा उस समय उर्दू को भी हिन्दी ही कहा जाता था। इस लिए इस पुस्तक को आज के हिन्दी गद्य की परम्परा मे रखना सगत नहीं है।

हिन्दी गद्य के आदि साहित्यकारो में मु शी सदासुखलाल नियाज, लल्लुलालजी तथा सदलमिश्र की गणना की जाती है। उनका साहित्य कुछ उच्च कोटि का नही था। लगभग उसी काल में बनारस के राजा शिवप्रसाद और आगरे के राजा लक्ष्मणसिंह ने भी हिन्दी गद्य के विकास में विशेष योग दिया।

परन्तु आधुनिक हिन्दी गद्य का वास्तविक प्रारम्भ उन्नीसवीं शती के आठवें दशक में भारतेन्दु की रचनाओं से माना जाता है। उन्होंने अनेक नाटक लिखे, और बंगला आदि साहित्य का प्रभाव ग्रहण करते हुए हिन्दी गद्य का एक स्तर निर्धारित किया। इस कारण भारतेन्दु को ही 'आधुनिक हिन्दी गद्य का जनक, कहा जाता है।

भारतेन्दु युग में अन्य लेखकों में प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रेमघन, ठाकुर जगमोहनसिंह और श्रीनिवासदास आदि अनेक नाम आते हैं, जिनसे सम्बधित हिन्दी गद्य-पद्य साहित्य का एक विशाल भंडार है। हिन्दी पद्य में भी खड़ी बोली का प्रयोग इसी काल में आरम्भ हुआ।

बीसवीं शती में प्रारम्भ का अगला युग प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के नाम पर द्विवेदी युग' कहलाता है। द्विवेदीजी ने लगभग ४० ग्रंथ मौलिक व अनुवादित लिखे, कालिदास के 'रघुवंश' और 'कुमारसंभव' का खड़ी बोली पद्य में अनुवाद किया तथा महाभारत का हिन्दी रूपांतर प्रस्तुत किया। इस युग के दूसरे महाकवि थे अयोध्यासिंह 'हरिऔध', जो अपने प्रसिद्ध काव्य 'प्रियप्रवास' के कारण विशेष प्रशंसित हुए।

इस शती के दूसरे दशक में हिन्दी के प्रथम साहित्यक कहानी लेखक और उपन्यासकार के रूप मे उर्दू जगत से प्रेमचन्द आए। आप को 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का सम्राट' कहा जाता है। आप की भाषा उर्दू रूप का सहारा लेकर चलती थी। इसलिए हिन्दी में उसका नाम ही 'प्रेमचन्दी हिन्दी' पड गया है। आप ने हिन्दी म राष्ट्रवादी और प्रगतिवादी दोनों धाराओं का नेतृत्व किया। आप हिन्दी के शरत् थे।

द्विवेदी युग के काव्य साहित्य और प्रेमचन्द के उपन्यास-साहित्य के साथ साथ कवि प्रसाद की प्रतिभा का उदय हुआ। आपने एक नए युग का निर्माण किया और अनेक प्रसिद्ध काव्य ग्रंथो की रचना के बाद 'कामायनी' महाकाव्य लिख कर महाकवि की उपाधि पाई।

आधुनिक युग के अन्य महान साहित्यकारों म वतमान राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पंत, महाकवि सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, महादेवी

वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा, स्व० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', डा० हरिवंशराय 'बच्चन', श्री गोविन्दवल्लभ पंत और विष्णुदत्त मिश्र 'तरंगी' तथा उपन्यासकारों में स्वर्गीय आचार्य चतुरसेन, राहुल सांकृत्यायन और पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' विशेष प्रसिद्ध हैं।

आधुनिक हिन्दी की तरह उर्दू का आधार भी खड़ी बोली है, जिसका प्रारम्भिक रूप अमीर खुसरों की कही जाने वाली मुकरियों, पहेलियों और दोहों में दिखाई देता है। इस दृष्टि से वर्तमान हिन्दी की तरह उर्दू के आदि कवि भी खुसरो ही थे। बाद में अकबर के समय में गुजरात का कवि सराजउद्दीन नूरी फारसी-मिश्रित खड़ी बोली का पहला कवि हुआ। परन्तु एक भाषा विशेष के रूप में उर्दू का विकास मुग़ल सेनाओं की छावनियों में शुरु हुआ, जहाँ भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी सैनिक और व्यापारी लोग आपसी बातचीत के लिए एक मिली-जुली खड़ी बोली का प्रयोग करते थे। इसमें हिन्दी, अरबी, फारसी, तुर्की आदि अनेक भाषाओं के शब्दों का सम्मिश्रण था। तुर्की में सेना या लशकर को 'उर्दू' कहते हैं। इसलिए लशकर की बोली होने के नाते इस मिश्रित भाषा का नाम उर्दू पड़ा। लशकर से यह बोली शाही दरबार में आई, जहाँ दरबारी लोगों ने इसे सरल बोलचाल की भाषा के रूप में अपना लिया। शाहजहान ने इसके गुणों से प्रभावित होकर इसे 'उर्दू-ए-मुअल्ला' अर्थात् 'श्रेष्ठ उर्दू' की अभिधा प्रदान की।

मुग़ल सेनाओं के साथ यह भाषा दक्षिण में पहुँची, जहाँ गोलकुंडा के कुतुबशाही बादशाहों ने इसमें कुछ कविता लिखी, और नुसरती व रुस्तमी आदि कवियों ने कुछ इस्लामी साहित्य रचा। इस प्रकार उर्दू शायरी का जन्म दक्षिण में हुआ, और हैदराबाद उसका पहला केन्द्र बना। परन्तु इस भाषा में फारसी के ढंग पर ग़ज़लों का पूरा दीवान लिखने वाले सब से पहले कवि थे शम्सवली उल्लाह वली, जो वली दक्खनी के नाम से उर्दू शायरी के 'बाबा आदम' माने जाते हैं। वह भी गुजरात ही के निवासी थे। औरंगजेब के अंतिम दिनों में सम्भवत १७०० ई० के बाद किसी समय वह दिल्ली में पधारे। तभी से दिल्ली उर्दू शायरी का दूसरा और प्रधान केन्द्र बन गई। यहाँ इस भाषा को 'रेख़्ता' कहा

जाता था, जिस का शाब्दिक अर्थ है चूना मिट्टी सफेदी आदि से दीवार की पुख्ता करना अथवा इधर-उधर बिखरी हुई वस्तु। इस भाषा को चूँकि कई भाषाओं ने मिलकर बनाया था, तथा उसमें अनेक भाषाओं के शब्द इधर-उधर बिखरे रहते थे, इसलिए इसका यह नाम पड़ा। आगे चलकर दिल्ली की ठेठ उर्दू को यह नाम दिया गया।

१८ वीं शती के प्रारम्भ से १९वीं शती के मध्य तक की डेढ़ शताब्दी उर्दू के परिपक्व होने का युग थी। इस दीर्घ अवधि में सैंकड़ों ही उर्दू कवि हो गए। उन्हें भाषा-स्तर और समय के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है, जो क्रमशः 'मुतकद्दमीन्' अर्थात आदि कवि, 'मुतवस्सतीन्' अर्थात बीच के कवि, और 'मुताख्खरीन्' अर्थात अंत के कवि कहलाते हैं। तीनों ही वर्गों का ध्यान विषय से ज्यादा भाषा को बनाने पर रहा। विषय, विधाएँ, छंद, कल्पना-चित्र, रूपक और पात्र तो अरबी-फारसी में पहले से बने बनाये मौजूद थे, जो ज्यों के त्यों उर्दू में ले लिए गए। इस प्रकार अरबी-फारसी की पूरी संस्कृति, जो अनिवार्यतः मुस्लिम प्रधान थी, उर्दू पर छा गई। फारसी के अनुकरण में उर्दू ने भी शुरू ही से सूफी मत से प्रेरणा ग्रहण की। इससे उर्दू शायरी का झुकाव सदैव रूढ़ि-विरुद्ध और सर्वधर्म-समन्वय की ओर रहा।

आदि कवियों में वली दक्कनी के बाद आबरू, ऐहसन, आरज़ू और हातिम् आदि की गणना की जाती है। ये सब दिल्ली के कवि थे। उनके समय में भाषा अभी अपरिमार्जित और ब्रज-युक्त थी, तथा उस पर हिन्दी काव्य का भी कुछ प्रभाव था।

बीच के कवियों में मीर दर्द, मीर हसन, मीर असर, मीर सोज और दो महाकवि सौदा और मीर तक़ी मीर हुए। उन्होंने उर्दू को हिन्दी परम्परा से पूर्णतया अलग कर लिया, तथा उसे एक निश्चित रूप और स्तर प्रदान किया। सौदा के 'कसीदे' (प्रशंसा) और 'हज्व्' (निन्दा) तथा मीर की दर्द-भरी ग़ज़लें (प्रेम-काव्य) उर्दू साहित्य की महान निधि हैं।

इसी युग में दिल्ली की बादशाही के पतनोन्मुख होने पर बहुत से उर्दू शायर दिल्ली छोड़कर अवध के नवाबों के आश्रय में चले गए। इस प्रकार

लखनऊ उर्दू शायरी का तीसरा केन्द्र बना। वहाँ इन्शा, मुस्हफी, आतिश, नासिख, जुर्मत और दयाशकर नसीम् तथा अतिम युग मे अनीस् व दबीर प्रसिद्ध कवि हुए। पडित दयाशकर की मसनवी 'गुलजारे-नसीम', जिसमें गुल-बकावली का परम्परित किस्सा वर्णित है, आज भी पुरानी उर्दू कविता का श्रेष्ठतम नमूना मानी जाती है। भाषा-शास्त्री, गद्यकार और उर्दू या हिन्दी के पहले कहानी-लेखक के रूप में इन्शा का, तथा हसन-हुसैन के सोग मे मर्सिया लिखने वालो की हैसियत से अनीस व दबीर का अपना अलग ही स्थान है। उसी युग मे उर्दू के पहले नाटककार अमानत हुए, जिन्होंने वाजिदअलीशाह के लिए 'इन्द्र-सभा' लिखी। बीच के कवियो मे उर्दू के पहले, और पुराने शायरो मे एक मात्र, जन-कवि आगरा के नजीर अकबराबादी हुए। वह वास्तविक अर्थों मे 'हिन्दुस्तानी कवि' थे। उन्होंने अपनी नज्मो मे 'हिन्दुस्तान' के लोक-जीवन और प्रकृति का सुन्दर चित्रण किया।

अत के कवियों मे दिल्ली के शाहनसीर, मोमिन, शेफ्ता, इब्राहीम जौक और महाकवि मिर्जा असदउल्लाह खाँ गालिब के नाम विशेष हैं। सौदा के बाद जौक के कसीदे और मीर के बाद गालिब की गजल आज भी उर्दू मे सर्वोत्तम है। वास्तव मे उर्दू शायरी के सारे पूर्ववर्ती इतिहास मे मीर के अलावा मिर्जा गालिब ही एक ऐसे कवि थे, जिनके पास कवि-हृदय भी था। शेष सब प्राय अर्थ-शून्य तुकबन्दी द्वारा केवल भाषा का चमत्कार दिखलाते थे। गालिब अपने युग मे बहुत कम समझे गये। परन्तु आज उनकी उपलब्ध कविता को अतर्राष्ट्रीय स्वीकृति प्राप्त है।

सिपाही-विद्रोह के बाद से आरम्भ होने वाला आधुनिक युग गद्य-विकास का विशेष युग था। इस काल मे उर्दू भाषा उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँची। १८३५ ही मे वह देश की द्वितीय राज-भाषा घोषित हो चुकी थी। तब से लेकर एक शती से अधिक समय तक वह लगभग सारे उत्तर भारत की सभ्यता की भाषा रही।

उर्दू गद्य की रूप-रेखा सैयद इन्शा निर्धारित कर गए थे। परन्तु गद्य मे पूरी-पूरी पुस्तकों का निर्माण कलकत्ता फोर्ट विलियम कालेज के अध्यापको

द्वारा ही हुआ। उनसे पूर्व यत्र-तत्र जो गद्य लिखा जाता था, वह ग्रत्यंत क्लिष्ट, ग्ररबी-फ़ारसी-युक्त, तथा ग्रलङ्कृत ग्रौर तुकान्त होता था। फ़ोर्ट-विलियम के लेखकों ने उसे सरल रूप दिया। मीर ग्रम्मन देहलवी, बदरग्रली ग्रफ़सोस, लल्लूलाल जी ग्रौर निहालचन्द ग्रादि कई लेखकों ने सरल उर्दू में क़िस्से-कहानियों की पुस्तकें लिखकर गद्य का एक स्तर निर्माण किया। उर्दू का पहला समाचारपत्र भी कलकत्ते से ही प्रकाशित हुग्रा। इस प्रकार कलकत्ता उर्दू का चौथा केन्द्र बना। मीर ग्रम्मन की 'बाग़-व-बहार', जो फ़ारसी 'चहार दरवेश' का रूपांतर है, उस समय की सरल उर्दू का एक उत्तम नमूना है। ग्रागे चलकर स्वयं मिर्ज़ा ग़ालिब ने ग्रपने ख़तों में उर्दू गद्य का उत्कृष्ट नमूना प्रस्तुत किया। परन्तु ग्राधुनिक विषयों पर गद्य-रचनाग्रों का वास्तविक उत्थान विद्रोह-दमन के बाद के शांति-काल में हुग्रा। हाली, नज़ीर ग्रहमद, सर सैयद, मोहम्मद हुसैन ग्राज़ाद, * प्यारेलाल ग्राशोब ग्रौर दुर्गासहाय सरूर, रतननाथ सरशार ग्रौर ग्रबदुलहलीम शरर ग्रादि महान गद्यकारों के रूप में सामने ग्राए। हाली ने उर्दू में उपदेशात्मक कविता ग्रौर वैज्ञानिक समालोचन की नींव रखी। साथ ही सर सैयद के कहने पर ग्रपनी प्रसिद्ध 'मुसद्दस' लिखी, जिससे हिन्दुस्तानी मुसलमानों में पृथक्ता की भावना का बीजारोपण हुग्रा। इस युग में हाली के ग्रलावा दूसरे बड़े कवि थे ग्रकबर इलाहाबादी, जिन्होंने उर्दू में पहली बार राजनीतिक ग्रौर सामाजिक विषयों पर व्यंग्यात्मक टिप्पणी की। ग़ज़ल में यह दाग़ ग्रौर ग्रमीर मीनाई का युग था। गद्य में ग्राज़ाद ने ग्रपनी विचित्र शैली में 'ग्राबे-हयात' के नाम से उर्दू शायरी का वृत्त लिखा, ग्रौर सरशार ने 'फ़साना-ए-ग्राज़ाद' के रूप में उर्दू को महान देन दी। इसी युग में उर्दू का पाँचवाँ ग्रौर ग्रंतिम केन्द्र लाहौर में स्थापित हुग्रा।

बीसवीं शती का प्रारम्भ इक़बाल् ग्रौर चकबस्त् की राष्ट्रीय कविता से हुग्रा। इक़बाल् ने शीघ्र ही पृथक् मुस्लिम राष्ट्रवाद का मार्ग ग्रपनाया ग्रौर पाकिस्तान की मूल भावना को जन्म दिया, जबकि चकबस्त ने उर्दू के माध्यम से पहली बार हिन्दू-प्रधान भारतीय भावनाग्रों की ग्रभिव्यक्ति की।

बीसवीं शती के दूसरे दशक में, नज़ीर ग्रहमद ग्रौर शरर के बाद, उर्दू के

पहले आधुनिक कहानीकार और उपन्यास लेखक के रूप मे प्रेमचन्द आए। परन्तु वह शीघ्र ही हिन्दी मे चले गए, और उर्दू उपन्यासकारो के रूप मे नियाज, यलदरम् और लाम अहमद के नाम विशेष प्रसिद्ध हुए। इस शती के उर्दू महारथियो मे मौलाना अबुल्कलाम आजाद का नाम सर्वोपरि है। उन का गद्य उर्दू में अब तक का सब से प्रभावी और बलशाली गद्य माना जाता है। कांग्रेसी नेता मि० आसफ़अली ने भी कुछ उत्कृष्ट गद्य लिखा। अन्य गद्य-कारों मे स्वर्गीय पडित ब्रजमोहन दत्तात्रेय, अहमद कादिर और मेहदी हसन तथा शायरों में हसरत् मोहानी और फानी के नाम विशेष प्रसिद्ध हुए। प्रगति-वादियो का पथप्रदर्शन स्वय प्रेमचन्द कर गए थे। पद्य मे विप्लवी धारा के आदि गुरु जोश मलीहाबादी बने, जो उम्र भर इन्क्लाब का नारा लगाने के बाद अब अतिम दिनों में पाकिस्तान मे जा बैठे हैं। उनके विपरीत केवल गजल कहने वाले दो बडे उस्ताद थे सीमाब अकबराबादी और जिगर मुरादा-बादी। १९४० के बाद जोश की परम्परा मे प्रगतिवादी नवयुवको का एक पूरा दल आगे बढा। इनमे मीराजी, अख्तर शीरानी, मजाज लखनवी, सरदार जाफरी, कैफी आजमी और नियाज हैदर ने कुछ नाम कमाया। जाफरी और नियाज कम्यूनिस्ट विचार धारा के कवियो के नेताओ के रूप मे आज भी क्रियाशील हैं।

उर्दू मे कहानी ने बहुत ऊँचा स्तर प्राप्त किया है। इस क्षेत्र मे इस्मत चुगताई, मुमताज शीरीं, हिजाब इम्तियाज अली, हाजरा मसरूर, खदीजा मस्तूर, सालिहा आबिद हुसैन, शफीकुर्रहमान और ख्वाजा अहमद अब्बास के नाम व्यक्तिगत उल्लेख-योग्य हैं।

परन्तु अब जोश के पलायन तथा दत्तात्रेय,सीमाब और जिगर के निधन के बाद भारत मे उच्चकोटि के उर्दू गद्यकारो में केवल नियाज और आल अहमद सरूर रह गए हैं। और कवियो मे उर्दू की ढाई सौ वर्षीय विरासत को सभाले हुए हैं मुल्ह नारवी, अज्द लखनवी, मनोहर सहाय अनवर और सब से बढ़कर रघुपति 'फिराक' गोरखपुरी। इनके अलावा पजाब के कुछ बूढे शायर हैं, जो विभाजन के बाद से दिल्ली मे आ बसे हैं। इनमे जोश मलसियानी और तिलोकचन्द

महरूम दो बड़े नाम हैं। अब भारत में उर्दू शायरी बस इन्हीं चन्द बुजुर्गों के दम-क़दम से है, यद्यपि उस्तादी रंग में 'अच्छा कहने वालों' की आज भी कोई कमी नहीं, और मुशायरों की रौनक़ भी बराबर बनी हुई है। कहानीकार तो अगणित हैं। परन्तु यह सब बस आख़री पीढ़ी ही है। भारत में उर्दू का भविष्य नितांत अंधकारपूर्ण तो नहीं, परन्तु दिनोदिन उसका क्षेत्र, सम्भवतः साम्प्रदायिक आधार पर, सीमित होता जाएगा, यह निश्चित है।

कला और संस्कृति

भारत में हिन्दू सभ्यता का उद्भव-स्थान होने के नाते गंगा-यमुना की पवित्र भूमि को सभी भारतीय कला-रूपों एवं सांस्कृतिक धाराओं का मुख्य स्रोत कहा जा सकता है। संस्कृत साहित्य का महानद, जिससे समस्त भारत की साहित्यिक भूमि प्लावित हुई, यहीं से प्रवाहित हुआ। भारतीय ललित-कलाओं के प्राथमिक अंकुर यहीं पर फूटे। संस्कृत काव्य, नाटक और संगीत, चित्रकारी, मूर्ति-कला और स्थापत्य, तथा ज्ञान-विज्ञान, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, नीति-रीति, शस्त्र-विद्या और शिष्टाचार; सामाजिक आदर्श और मर्यादाएँ—भारतीय सभ्यता के सभी अंगों की आधारभूत निर्माण-सामग्री यहाँ से उपलब्ध हुई। अवश्य प्राचीन सम्पत्ति का बहुत सा अंश, जो निरंतर उपद्रव, अराजकता और विधर्मी सत्ता के दुष्प्रभाव से नष्ट हो गया, उसकी समरूप निधि अब अन्यत्र अधिक सुरक्षित है; परन्तु उसका मूल इसी उर्वरा भूमि में है। वास्तव में यह समस्त प्रदेश प्राचीन हिन्दू सभ्यता के अवशेषों का आगार है।

स्थापत्य में प्रारम्भिक आर्य कृति का कोई प्रामाणिक चिन्ह शेष नहीं रह गया, क्योंकि आर्य लोग अपने मकान अधिकतर लकड़ी के बनाते थे। केवल दिल्ली स्थित पुराने किले को, जिस का परकोटा सम्भवतः समस्त भारत में धरती के ऊपर सब से पुराना सुरक्षित खंडहर है, परम्परित रूप से पाण्डुओं का किला कहा जाता है। परन्तु आर्यों से भी पूर्व के प्रस्तर-युग और ताम्र-युग की सभ्यता के अनेक फुटकर अवशेष यहाँ स्थान-स्थान पर उपलब्ध हुए हैं, जैसे पत्थर के औज़ार और छोटे हथियार, चट्टानों पर अंकित जंगली जीव-जन्तुओं के चित्र तथा बाण और भाले आदि के ताँबे के अग्रभाग इत्यादि।

हिन्दू-कालीन स्थापत्य के जो प्राचीनतम नमूने क्षतियो की विनाशकारी प्रक्रिया के बावजूद सुरक्षित रह गए हैं, उनका प्रारम्भ बौद्ध-काल से होता है। इन मे अशोक द्वारा स्थापित काशी, सारनाथ, सखौशा और साची के बौद्ध स्तूपो तथा अनेक शिला-लेखो की गणना की जाती है। पहली-दूसरी शती ईस्वी के कुछ जैन अवशेष, मूर्तियां आदि, मथुरा मे मिली हैं। अयोध्या, काशी, प्रयाग, मथुरा, हरिद्वार के तीर्थस्थानो तथा कन्नौज, जौनपुर और उज्जैन आदि ऐतिहासिक नगरो मे गुप्त युग के अनेक मदिरो के अवशेष अभी तक विद्यमान हैं। परन्तु इन मे जो मंदिर विशेष प्रसिद्ध और समृद्ध थे, वे अब अधिकतर मस्जिदो मे परिवर्तित दिखाई देते हैं। मध्य युग के अन्य अवशेषो मे झांसी के १०-११वी शती के जैन मदिर और मूर्तियां आदि उल्लेखनीय हैं। परन्तु उस काल की सब से प्रशसित कला-कृति बुन्देलखड के चन्देल राजाओ द्वारा निर्मित कहे जाने वाले खुजराहो के प्रसिद्ध मदिर हैं, जो आज भी अपनी भव्यता और सुन्दरता से दर्शको को चकित कर देते हैं।

मध्ययुग के बाद के अधिकतर श्रेष्ठ नमूने पठान और मुगल बादशाहो की कृति हैं। इनमे कुछ तो वस्तुत समस्त भारत के लिए गौरव की वस्तु हैं, परन्तु कुछ ऐसे भी हैं, जो इस देश के पतन की दुःखद स्मृति दिलाते हैं, जैसे दिल्ली-स्थित विश्व-विख्यात कुतुवमीनार, जो एक प्राचीन मदिर के प्रागन मे अवस्थित, भारत की तत्कालीन पराजय का प्रतीक है। अन्य उत्तम अवशेषो मे, जो अधिकतर अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे सुरक्षित हैं, फतहपुर सीकरी में अकबर द्वारा निर्मित भव्य राज-प्रसाद और अन्य भवन, आगरा का किला, शाहजहान की दिल्ली, हुमायु का मकबरा और सब से बढकर आगरा का ताजमहल है, जिसे सुयोग्य प्रशसक 'सग-मर्मर मे लिखी गई कविता', कहते हैं। इन सब के अलावा मालवा मे माडु के भव्य ध्वसावशेष और लखनऊ मे स्थित नवाबी काल के कुछ उत्कृष्ट नमूने भी उल्लेखनीय हैं।

इस सारे मुस्लिम-कालीन स्थापत्य को दो भागों मे विभाजित किया जाता है। पठान युग के नमूने अधिकतर विदेशी रूप लिए हुए हैं, परन्तु मुगल काल में विशेषकर अकबर के समय से जो शैली प्रचलित हुई, उस मे हिन्दू-मुस्लिम

से भाग में सीमित रह गए हैं, अथवा निम्न कोटि के हैं। तथाकथित सभ्य वर्ग ने तो लोक-नृत्य का एक प्रकार से परित्याग ही कर दिया है। अवश्य अब देहाती जनता में बहुत से पुराने रूपों को राजकीय प्रोत्साहन से पुनरुज्जीवित किया जा रहा है। पहाड़ी लोगों के बहुत से नृत्य अब भी बहुत सजीव हैं, जैसे गढवाल में थाली, जद्दा, झैंता और थोरा आदि। इसी प्रकार दक्षिण में भील, गोंड आदि प्राचीन जन-जातियों के अपने रस्मी और युद्ध नृत्य हैं।

उत्तर प्रदेश में बहुत से नृत्य रूप खास-खास जातियों से सम्बधित हैं, जैसे अहीरों का 'कहारव' और 'छपेली' आदि। मथुरा-वृन्दावन की ब्रजभूमि किसी समय राधा-कृष्ण और गोपियों के नृत्य के लिए समस्त आर्यावर्त में प्रसिद्ध थी। उसी का अवशेष आज यहाँ की 'रास लीला' में दिखाई देता है। यह साधारण नृत्य-नाटक है, जिस में बाल्यावस्था से यौवनावस्था तक श्रीकृष्ण के जीवन की झाँकियाँ दर्शाई जाती हैं। होली और जन्माष्टमी के अवसरों पर इसका विशेष आयोजन किया जाता है।

पुराने लोक-नाट्य का एक रूप 'नौटकी' के नाम से अभी तक चला आ रहा है, यद्यपि अब यह कला कम और अश्लीलता का प्रदर्शन ही अधिक रह गया है। यह एक प्रकार का सगीत नाटक है, जिस में कथानक और सवाद गीतों के सहारे चलते हैं। क्रिया बहुत कम होती है। बहुधा साधारण खुले मच और रूप-सज्जा का झमेला भी नहीं होता। वादन के नाम पर एक नक्कारा ही पर्याप्त होता है। नौटकी के विषय साधारणत परम्परित लोक-कथाओं और वीर-गाथाओं से लिए जाते हैं, परन्तु आजकल इसमें नित्य जीवन की सामाजिक समस्याओं, राजनीतिक पचड़ों और फ़िल्मी गीतों का विचित्र सम्मिश्रण देखने को मिलता है।

अत में यह बात फिर एक बार कहने की है कि हिन्दी-प्रदेश की सास्कृतिक रूप-रेखा, जैसी कुछ भी है, वह भारतीय जीवन की व्यापक धारा से कोई पृथक और स्वतत्र अस्तित्व नहीं रखती। जिन महत्वपूर्ण तत्वों को इस प्रदेश विशेष अथवा मानिक समूह से सम्बद्ध किया जाता है, वे किसी न किसी रूप में सारे ही देश की सम्पत्ति हैं। इस प्रकार हिन्दी प्रदेश की उच्चस्तरीय

सस्कृति ही वास्तव मे भारतीय सस्कृति का दूसरा नाम है। जो विशेषताएँ हैं, वे भारत मुख्य भूमि मे इस प्रदेश के मुस्लिम प्रभाव को अपेक्ष्या अधिक ग्रहण करने का परिणाम हैं, जैसा कि उच्च वर्ग के रहन-सहन, खान-पान, वेष भूषा और शिष्टाचार मे तथा जन-साधारण की बोलचाल मे दिखाई देता है। इस दृष्टि से यदि हिन्दी-प्रदेश की अपनी 'विशिष्ट सस्कृति' को बडे अश मे 'मुसलमानी' कहा जाए, तो शायद बहुत से लोगो को अचम्भा होगा, परन्तु तथ्य यही है। अवश्य सामती युग मे यह प्रभाव बहुत प्रकट था, परन्तु अब बिल्कुल बदल गया हो, ऐसा भी नही कहा जा सकता।

त्योहार

हिन्दी-प्रदेश मे मनाए जाने वाले त्योहारो मे दशहरा सर्वप्रधान है। दिनो पहले से इसकी तैयारी शुरू हो जाती है, और पूरे दस दिन तक रामचरितमानस के पाठ, व्याख्यान और धार्मिक क्रियाओ के साथ साथ राम-लीला का सास्कृतिक कार्यक्रम चलता है। इस लीला मे, जो साधारणत आधुनिक रगमच पर रामायण की कथा को नाटक के रूप मे प्रस्तुत करने का नाम है, ज्ञान और कला का जो रूप प्रदर्शित किया जाता है, वह कुछ उच्च स्तर का नही होता। परन्तु आयोजन की भव्यता और धार्मिक भावनाओ का उत्कर्ष वस्तुत देखने योग्य होता है। श्रीराम की भूमिका म सजे हुए किशोर की पूजा जिस अगाध श्रद्धा के साथ की जाती है, वैसी स्वय श्रीराम की भी क्या हुई होगी।

राम-लीला मे यहाँ का लोक-जीवन पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित होता है। आधुनिक रग मच, नौटकी की परम्पराएँ, अभिनय के परम्परित प्रकार, भजनकीर्त्तन, नृत्य, सगीत, फिल्मी गीत, हस्त कौशल और चित्रकारी तथा आतिशबाजी और सरकस तक का अद्भुत सम्मिश्रण इस लीला मे देखने को मिलता है। रग-मच पर नाटक के दैनिक क्रम के साथ साथ भव्य शोभा-यात्रा, श्रीराम की सवारी और झाँकियो का कार्यक्रम चलता है। इस प्रकार दस दिन की धूमधाम और व्यस्तता के बाद विजय-दशमी के दिन राम-रावण युद्ध का अतिम दृश्य उपस्थित होता है। रावण, मेघनाथ और कुम्भकरण के विशालकाय

पुतलों को आतिशबाजी द्वारा आग लगाकर लंका विजय की कथा पूर्ण की जाती है। अगले दिन भरत-मिलाप होता है। दशहरे का यह रूप बिहार से लेकर पंजाब तक समस्त उत्तर-भारत में एक-सा है।

आजकल राजकीय प्रोत्साहन और उत्तम कोटि के कला-केन्द्रों की अभिरुचि से कई प्रकार की उत्कृष्ट राम-लीलाएँ और रामायण पर आधारित नृत्य-नाटक रचे गए हैं, जिनसे शतियों से चला आ रहा यह परम्परित धार्मिक-राष्ट्रीय प्रदर्शन वास्तविक कला के स्तर पर संगठित हुआ है। इस प्रकार यह महोत्सव प्रायः धर्म-निर्पेक्ष रूप धारण कर गया है।

दशहरे के अलावा हिन्दुओं के सभी त्योहार, जैसे होली, दीवाली, जन्माष्टमी, रामनवमी, शिवरात्रि, रक्षा-बंधन और वसंतपंचमी तथा फसली त्योहार के रूप में बैशाखी विधिवत मनाए जाते हैं। एक प्रकार से भारत के सब त्योहारों का असली रूप यहाँ देखने को मिलता है। 'हिन्दुओं के बारह महीनों में तेरह पर्व' की उक्ति भी सबसे ज्यादा यहीं चरितार्थ होती हैं। यहाँ त्योहारों का रूप ऐसा है कि उनमे सभी विचारों के लोग बिना किसी भेद-भाव के भाग ले सकते हैं। श्रद्धा-विहीन अथवा विधर्मी लोगो के लिए भी इन अवसरो पर लगने वाले मेलो आदि मे आमोद-प्रमोद की बहुत सी सामग्री उपस्थित रहती है।

मुसल्मानों के धार्मिक त्योहार केवल दो ही हैं: ईद और बकर-ईद, जो क्रमश: 'ईद-उल-फ़ित्र' और 'ईद-उज्जुहा' कहलाते हैं। ईद या बड़ी ईद रमजान के रोजों के बाद कुरान के पूर्ण होने की खुशी मे मनाई जाती है, और बकर-ईद इस्माइल द्वारा अपने पुत्र की बलि देने की इस्लाम-पूर्व कथा की स्मृति मे। इस रोज़ मुसल्मान लोग पशुओं की बलि देते हैं। इनके अलावा शियो की मोहर्रम है, जो हसन-हुसैन के शोक में मनाई जाती है। इस अवसर पर ताज़ियों की शोक-यात्रा निकलती है, जो तीमूर द्वारा ईरान में प्रचलित की गई प्रथा बतलाई जाती है। भारत मे, सम्भवतः दीवाली और जन्माष्टमी के अनुकरण मे, क्रमशः 'शबे-बरात' (पैग़म्बर के खुदा से भेंट करने की रात) और 'मीलाद-उन-नबी' (पैग़म्बर का जन्म-दिन) के त्योहार भी मनाए जाते हैं।

वस्त्र और भोजन

हिन्दी-प्रदेश की वेश-भूषा मे कोई विशेष बात नही है। देहात मे धोती और तग बाहो वाला कुर्ता सामान्य वस्त्र है। वही जरा अच्छे ढग का शहरो मे चलता है। परन्तु यह कोई प्रतिनिधि वस्त्र नही है। वास्तव मे हर क्षेत्र और जाति का वस्त्र अलग-अलग है। अचकन-पायजामा, कोट-पतलून, वास्कट, सदरी, पगडी, टोपी आदि सब यहाँ प्रचलित हैं। एक प्रकार से भारत भर मे पहनावे के जितने भी रूप हैं, वे सब यहाँ मिलते हैं। इस दृष्टि से सबसे ज्यादा विविध ढंग के वेश धारण करने वाले लोग हिन्दी-प्रदेश के हैं। औपचारिक वस्त्र के रूप मे भारत का जो राष्ट्रीय वस्त्र निर्धारित है, वही यहाँ के सम्भ्रांत वर्ग का परम्परित वस्त्र है। अचकन के साथ चूड़ीदार पाजामा अथवा खुली मोरी का पाजामा और धोती के साथ वन्द गले का टर्किश कोट चलता है। शेरवानी और पायजामा ही अधिक प्रचलित रहे हैं। केवल शहरी मुसल्मान धोती का प्रयोग नहीं करते, और देहात मे भी कहीं कहीं धोती को तहबन्द के ढग से बांधते हैं। पहाडी लोग नेपाली ढग से छोटी मोरी के पाजामे पर अंग्रेजी कोट पहन लेते हैं।

स्त्रियों मे साड़ी प्रधान है, जिसे यहाँ 'धोती' ही कहते हैं। परन्तु स्थान-स्थान मे भिन्नताएँ हैं। हरियाना की ग्रामीण स्त्रियाँ अपने बजारा-टाइप जूडे और ऊचे घाघरे के साथ मर्दाना कमीज के विचित्र मेल से अलग पहचानी जा सकती हैं। एक सीधे वर्गीकरण के अनुसार इस समस्त क्षेत्र मे शहरी स्त्रियो का वस्त्र 'धोती' या लहगा है, और देहात मे घाघरा-चोली। यहाँ स्त्रियों की रूप-सज्जा में उबटन, मिस्सी, सुरमा वाली प्राचीन पद्धति ही अधिक प्रचलित है, जिससे आज के युग मे कठिनाई से ही सौंदर्य-सृष्टि हो पाती है। इनकी सज-धज भारी-भरकम, आभूषण-युक्त और असुविधाजनक होती है। उच्च घरानो की स्त्रियाँ तो सजने के बाद इस योग्य भी नहीं रहतीं कि दो कदम चल ही लें। वे एक प्रकार से 'पर्दा-नशीं' ही होती हैं।

चुस्त पाजामा और कमीज तथा दुपट्टा यहाँ की मुसलमान स्त्री का परम्परित वस्त्र है। शलवार कमीज और शिक्षित वर्ग में साड़ी का भी चलन है।

इनके अलावा मुसल्मान स्त्री का एक 'आधुनिक' वस्त्र 'गरारा' है, जो वास्तव मे पाजामा और घाघरे का सम्मिश्रण है। यह सुन्दरी के लिए आदर्श वस्त्र माना जाता है। परन्तु उसके रूप की भलक बहुत कम देखने को मिलती है, क्योंकि सारी दुनियां में सब से ज्यादा कठोर पर्दा यहां के मुसल्मानों में है। स्त्रियां चारदीवारी में बन्द रहती हैं, और घर से बाहर सिर से पांव तक बुर्के से ढकी रहती हैं। अवश्य अब पाकिस्तान की तरह यहां भी शिक्षित वर्ग की बहुत सी युवतियां इस दासता से बिलकुल मुक्त हो रही हैं, और पुराने ढग की स्त्रियां भी गली-मोहल्ले से जरा दूर निकल कर नकाब उठा देती हैं।

खान-पान में भी कोई विशेषता नहीं है। हिन्दुओं का परम्परित भोजन, जैसे दाल भात, रोटी-सब्जी, पूरी-कचोरी, खीर-दूध-दही, घी-बूरा, आचार-मुरब्बे, नाना प्रकार के मिष्ठान्न और जलजीरा यहां की सामान्य वस्तुएं हैं। ब्राह्मण और वैश्य लोग शाकाहारी हैं। उनके प्रभाव से बहुत से दूसरे लोग भी प्रकटत मांस-मछली का प्रयोग नहीं करते। राजपूतों और क्षत्रियो के यहां कोई निषेध नहीं है, यद्यपि वे साधारणत समाज के सामान्य धर्म का ही पालन करते दीखते हैं। परन्तु कायस्थो के यहां मांस के साथ मदिरा भी उचित वस्तुओं में गिनी जाती है। और निचले विशाल शूद्र वर्ग म तो खैर सब कुछ स्वीकृत है। यह बात कहने की है कि मांस न खाने के विषय मे बहुत कुछ कोरा दिखावा होता है। बहुत से लोगों के घरा मे मांस नही पकता परन्तु वे होटलो में जा कर खा आते हैं।

भोजन के क्षेत्र म मुसल्मानो का विशेष योग दान है। उन्होंने मासाहारियो के लिए विशेषकर आमिष प्रधान भोजन के कुछ उत्तम प्रकार प्रदान किए हैं। कोरमा, कोफ्ता, क़ीमा, रोगन-जोश, रेज़ाला, अनेक प्रकार के कबाब, बिरयानी (पलावन) तथा फ़िरनी, जरदा (मीठे चावल) और नान (खमीरी रोटी) आदि आज भारत में उदारवादी सभ्य समाज के दैनिक भोजन का अग बन गए हैं। इन वस्तुओं के कारण ही वर्तमान 'भारतीय भोजन' को कुछ अ तर्राष्ट्रीय महत्व प्राप्त हुआ है। परन्तु भोजन के इन प्रकारों ने जहां हिन्दू मुसल्मानो में सम्पर्क बढाया है, वहां दो वस्तुएं उनके बीच समन्वय के मार्ग मे भयानक रूप से

बाधक हैं। ये दो वस्तुएँ हैं गोमांस और शूकरमांस । साथ ही 'हलाल' और 'झटका' की समस्या भी चलती है । इन समस्याओं का स्थायी समाधान पर्याप्त आर्थिक और सामाजिक प्रगति में ही निहित है ।

अंतिम शब्द

भारतीय जीवन और चिन्तन के ठीक मध्य मे होने के कारण हिन्दी-प्रदेश के चेतन वर्ग में कुछ विशेष कल्पना-रूपों, मनःस्थितियों और पूर्वाग्रहो का विकास हुआ है । इनमे सबसे पहले जो विशेषता—और यह एक उत्तम गुण है, ध्यान को आकृष्ट करती है, वह यहाँ के लोगो की स्वाभाविक अखिल भारतीय विचार-धारा है, अर्थात् यह लोग अन्य सब प्रदेशीय जनता से अधिक केन्द्रोन्मुखी, भारतोन्मुखी हैं । यह एक नितांत महत्वपूर्ण बात है । देश की वर्तमान राज-नीतिक एकता और केन्द्रीय सुदृढता तथा विभिन्न भागो के बीच संतुलन को बनाए रखने वाले कारणो मे इस मनोवैज्ञानिक तत्व का स्थान विशेष है ।

परन्तु इसी स्थिति के कारण यहाँ के विचारशील समुदाय मे एक प्रकार के कृत्रिम 'अग्रजवाद' अर्थात् 'बड़े भाईपन' की उत्पत्ति हुई है । इसे आप 'संरक्षण प्रदान की भावना' भी कह सकते हैं, और यह राजनीति मे विशेष रूप से अभिव्यक्त होती है । इसके प्रभाव से यहाँ के थोड़े-बहुत जानकार नेता-गण भी स्वयं को सर्वज्ञ समझने लगते हैं, तथा राष्ट्रीय जीवन से सम्बंधित प्रत्येक विषय मे हस्ताक्षेप करने, परामर्श देने और उपदेश झाड़ने की प्रवृत्ति रखते हैं । यह बात इतनी न अखरती, यदि इन भाषणकर्ताओ को वास्तविकता का भी यथेष्ट ज्ञान होता । परन्तु कठिनाई यह है कि यह अति राष्ट्रवादी लोग जितना ज्यादा भारत के सम्बंध मे सोचते और विचलित होते हैं, उतना ही कम यह भारत को समझते हैं । यहाँ बड़े नेताओ और विद्वानो की बात नहीं—वे निश्चय ही देश की प्रत्येक बात पर दृष्टि रखते हैं, और उसके अनुसार ही अपनी नीति अथवा विचार-प्रणाली निर्धारित करते हैं । परन्तु तथाकथित शिक्षित लोग, सामान्य विचारक और नेतागण, जो भारत के सम्बंध में सब कुछ जानने का दावा करते हैं, वास्तव में इस देश की जटिल प्रकृति का पर्याप्त अनु-भव नहीं रखते । उन्हें अहिन्दी-भाषी लोगो के सोचने-समझने के तरीके, भाषा

श्रौर भावनाश्रो तथा श्रतीत की विरासत श्रौर वर्तमान श्रावश्यक्ताश्रो की इतनी समझ नहीं है, जितनी कि होनी चाहिए। फलत: जब वे अपनी सहज धारणाश्रो के विपरीत भावनाश्रो की श्रभिव्यक्ति श्रथवा घटनाश्रो की समाचार पाते देखते हैं, तो वे दु ख श्रौर श्राश्चर्य के साथ ऐसी 'श्रसामान्य परिस्थितियों' का समुचित मूल्याकन करने मे श्रसमर्थ रहते हैं। तब सम्बधित जनता के प्रति उनकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया सहानुभूति से कम श्रौर विरोध भाव से ही श्रधिक निर्धारित होती है। कभी-कभी तो वे क्रोधावेश मे 'बिगडे हुश्रो' को डडे के जोर से सीधा करने की बात भी करने लगते हैं, जैसा कि श्रभी तक तमिल नाडु, 'पजाबी सूबा' श्रौर नागालैंड के विषय मे देखने मे श्रा रहा है। श्रवश्य जानकारी श्रौर समझ के श्रभाव की यह स्थिति श्रपने व्यापक रूप मे सारे ही देश के लिए सही है, परन्तु सबसे बडा श्रौर केन्द्रीय समूह होने के नाते इस विषय मे हिन्दी भाषियों का दायित्व श्रपेक्षया कुछ श्रधिक है, विशेषकर इस कारण कि वे श्रपने ऊपर राष्ट्र के पथदर्शन श्रौर सचालन का दायित्व भार कुछ श्रधिक समझते भी हैं।

हिन्दी प्रचार का विषय इन प्रवृत्तियों के श्रध्ययन श्रौर विश्लेषण के लिए सब से उपयुक्त क्षेत्र है। श्रब यह तो निश्चित है कि हिन्दी के देश की केन्द्रीय राज-भाषा श्रौर श्रतर्प्रादेशिक सम्पर्क की भाषा घोषित होने के बाद प्रत्येक नागरिक को, जो निकट भविष्य म शिक्षित कहलाने का इच्छुक है, स्वेच्छा से ही हिन्दी सीखनी पडेगी। इस बात पर निरतर जोर देने श्रौर शोर मचाने की बहुत कम श्रावश्यकता है। कम से कम स्वय हिन्दी भाषियों को तो इस विषय मे बोलना ही नहीं चाहिए। परन्तु जिस ढग श्रौर शीघ्रता के साथ कुछ हिन्दी प्रतिवादी—श्रौर ऐसे प्रतिवादियों की सख्या उपेक्ष्य नही है—इस कार्य को सम्पन्न करने की बात करते हैं, तथा श्रहिन्दी भाषी जनता के सामने एक मात्र 'राष्ट्र-भाषा हिन्दी' श्रौर देश भक्ति के नाम पर उत्तेजनापूर्ण भाषण करते हैं, उससे यदि कहीं-कही 'हिन्दी साम्राज्यवाद' की ध्वनि भी सुनाई पड जाती है, तो क्या श्राश्चर्य है ! यह ध्वनि निरर्थक है, इसमे सदेह नही, परन्तु एक समस्या की सृष्टि तो हो जाती है।

वास्तविकता यह है कि हिन्दी को अपनी भाषा कहने वाले लोग विशुद्ध भावात्मक क्षेत्र मे एक प्रकार की उत्पीडन-भावना से ग्रस्त हैं। इस भावना का मूल इतना स्वय हिन्दी भाषा के कथित पिछड़ेपन मे नही, जितना कि ब्रिटिशकालीन राजकीय नीति और शिक्षा-प्रणाली में है। पूरी डेढ शती तक, जबकि समस्त उत्तर-भारत में उर्दू का साम्राज्य रहा, हिन्दी एक उपेक्षित और पददलित भाषा के रूप मे अविकसित रहने पर बाध्य रही। उस सारे काल-खड मे केवल हिन्दी जानने वालो को एक प्रकार से शिक्षित वर्ग मे ही सम्मिलित नही किया जाता था। उसी व्यवहार से उत्पन्न होने वाली मानसिक स्थिति के अवशेष अभी तक चले आ रहे हैं। और यही कारण है कि हिन्दी वालो को समान्यत किसी भी अन्य भाषा के नाम से बडी घबराहट होती है। बहुत कम हिन्दी भाषी अन्य भारतीय भाषाओ पर अधिकार प्राप्त करने की ओर प्रवृत होते हैं, और किसी उन्नत प्रादेशिक भाषा मे 'हिन्दी-भाषी साहित्य कार' नाम का जीव तो प्राय बिल्कुल ही दुर्लभ है।

हिन्दी वालो को मराठी, बगला और तमिल जैसी समुन्नत भाषाओ से तो डर लगता ही है, पर सब से ज्यादा डर लगता है उन्हे उर्दू से। प्रधान मत्री श्री नेहरू के शब्दो मे 'उर्दू से वे कुछ इस तरह डरते हैं, जैसे उर्दू कोई हिंस्र जन्तु हो, जो उन्हे काट खाएगा!' उर्दू का नाम सुनकर उनके रोंगटे खडे हो जाते हैं, और यदि कोई साहसी 'मुस्लिम सम्प्रदायवादी' उर्दू को केवल दिल्ली और उत्तर प्रदेश की ही द्वितीय राज भाषा घोषित करने की माँग कर बैठे, तो उनके सामने विगत डेढ शताब्दी की सब भयकर स्मृतियाँ साकार हो आ खडी होती हैं, और उनकी घबराहट चरम सीमा का पहुँच जाती है।

मजे की बात यह है कि हिन्दी वाले उर्दू से चिढने और दूर भागने की जितनी भी चेष्टा करते हैं, उतना ही वे उसकी ओर आकर्षित होते हैं। यह बडी विचित्र मनोवैज्ञानिक स्थिति है, और इसके पीछे सम्भवत यह तथ्य क्रिया शील है कि तथाकथित हिन्दी भाषियो की बोलचाल की भाषा, हिन्दुस्तानी, वास्तव मे सरल उर्दू ही है। यही कारण है कि देवनागरी लिपि में रूपान्तरित पुराने उर्दू शायरों का कलाम आज हिन्दी काव्य पुस्तकों से अधिक बिकता है,

श्रौर कवि सम्मेलनों की अपेक्षा उर्दू मुशायरों में आज भी अधिक हाजरी होती है। ऐसा लगता है कि बहुत से हिन्दी वाले उर्दू को एक साहित्यिक माध्यम के रूप में स्वीकार करने को तैयार हैं, यदि उसे एक स्वतंत्र भाषा न कहकर वर्तमान हिन्दी के ही अंतर्गत एक रूप अथवा शैली घोषित कर दिया जाए। दुर्भाग्य से यह धारणा स्वयं एक बड़े झगड़े की जड़ है।

इस प्रकार आंचलिक भाषाओं के प्रति साधारणतः, और उर्दू, अंग्रेजी आदि के प्रति विशेषतः, हिन्दी वालों का जो विरोधात्मक दृष्टिकोण है, उसके प्रति क्रियास्वरूप एक ओर भाषावाद और प्रांतीयता को तथा दूसरी ओर मुसलमान आदि अल्पसंख्यकों की साम्प्रदायिकता को बल मिल रहा है। अवश्य इन संकीर्ण विचारों का केवल यही एक कारण नहीं है, परन्तु यह एक विशेष उत्तेजक कारण जरूर है। आज देश में भाषा, प्रांत, और सम्प्रदाय को लेकर जो तनातनी अस्तित्व में आई है, उसके पीछे हिन्दीभाषियों के अतिवाद का भी विशेष हाथ है। और इसी प्रकार सब सम्बन्धित समस्याओं का समाधान खोजने का उत्तरदायित्व भी बड़े अंश में उन्हीं के विचारशील समुदाय पर है। जिस समझदारी के साथ वे इस दायित्व को निभाएँगे, उस पर निर्भर होगी देश की शांति, एकता, प्रगति और सम्पूर्ण भविष्य।

०००